

जैन विश्वभारती संस्थान

लाडनूं-341306 (राज.)

दूरस्थ एवं ऑनलाइन शिक्षा केन्द्र



एम.ए. (संस्कृत)–पूर्वाद्ध

प्रथम पत्र : वैदिक साहित्य

लेखकद्वयः

प्रो. डॉ. दामोदर शास्त्री

डॉ. सुनीता इन्दौरिया

विषयानुक्रमणिका

क्र.सं.	इकाई का नाम	पृष्ठ संख्या
इकाई—1	ऋग्वेद	1—80
इकाई—2	अथर्ववेद	81—102
इकाई—3	कठोपनिषद्	103—154
इकाई—4	निरुक्त	155—196
इकाई—5	वैदिक साहित्य का इतिहास	197—227

वैदिक साहित्य

इकाई—1 ऋग्वेद

वेद संहिताएं और ऋग्वेद

संरचना

- 1.0 प्रस्तावना
- 1.1 उद्देश्य
- 1.2 वेदों का परिचय
- 1.3 वेदों का रचना—काल
- 1.4 ऋग्वेद का विशेष परिचय
- 1.5 ऋग्वैदिक मंत्रों के ऋषि व छन्द
- 1.6 वैदिक देवता
- 1.7 ऋग्वैदिक सूक्त

1.0 प्रस्तावना

‘भारतस्य प्रतिष्ठे द्वे, संस्कृतं संस्कृतिस्तथा’—अर्थात् भारतदेश की प्रतिष्ठा या महिमा के दो मूल आधार हैं—संस्कृत भाषा एवं भारतीय संस्कृति। वेद संस्कृत भाषा के प्राचीनतम ग्रंथ हैं और प्राचीन भारतीय संस्कृति को जानने—समझने के प्रमुख स्रोत या आधार हैं। भारतीय ज्ञान—विज्ञान, सांस्कृतिक विचारधारा से सम्बन्धित महत्वपूर्ण सामग्री वेद या वैदिक साहित्य में उपलब्ध है। इसी दृष्टि से संस्कृत के अध्येताओं के लिए वैदिक साहित्य विषय का अध्ययन करना आवश्यक माना जाता है।

वेद चार हैं—ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद व अथर्ववेद। इन चारों में ऋग्वेद प्राचीनतम है। प्रस्तुत पाठों में वेद के सामान्य परिचय के साथ—साथ, उनका रचना—काल, छन्द, देवता आदि का परिचय भी दिया जाएगा। इसके अतिरिक्त ऋग्वेद से सम्बन्धित विशेष परिचय के साथ—साथ, पाठ्य रूप में निर्धारित सूक्तों के अर्थ आदि का भी ज्ञान कराया जाएगा।

1.1. उद्देश्य

अध्येता को वेद—सामान्य एवं ऋग्वेद के विषय में सर्वांगीण जानकारी देना।

1.2 वेदों का परिचय

1.2.0 प्रस्तावना

भारतीय संस्कृति का सुदीर्घकालीन इतिहास रहा है। इसे आर्य संस्कृति भी कहा जाता है। आर्यों की सभ्यता व साहित्य का प्रारम्भ वेदों के आविर्भाव से हुआ है। इस संस्कृति का प्राचीनतम विवरण वैदिक साहित्य में ही प्राप्त होता है। वेदों में ऋग्वेद सर्वप्राचीन ग्रंथ माना जाता है। इसमें विश्व की प्राचीनतम भाषा 'संस्कृत' का प्रारम्भिक साहित्यिक रूप प्राप्त होता है। इस प्रकार, 'वेद' मानव-जाति के प्राचीनतम साहित्य ग्रंथ हैं, जिनमें आर्य जाति का हजारों वर्ष पुराना इतिहास भरा हुआ है। भारतीय धर्म, साहित्य, भाषा, सभ्यता, संस्कृति, धार्मिक-आर्थिक स्थिति, कला— इन सभी के विकास व उन्नति का समग्र चित्रण वेद में प्राप्त होता है।

भारतीय दर्शनों के बीज भी वेद में सन्निहित हैं। नास्तिक दर्शनों को छोड़कर भारतीय धर्म-दर्शन के क्षेत्र में भिन्न-भिन्न मत-मतान्तर प्रचलित हुए, उन सभी ने प्रत्यक्ष या परोक्ष रूप से वेदों को प्रमाण माना है। आज भी धार्मिक पर्वों व सामाजिक आयोजनों के समारोहों में हिन्दुओं के घरों में वेद-मंत्रों का उच्चारण अत्यधिक श्रद्धा के साथ किया जाता है। इसीलिए शास्त्रों में वेद के गुणगान किये गये हैं। अतः भारतीय संस्कृति के अध्येता प्रत्येक भारतीय के लिए वेदों के सामान्य परिचय से अवगत होना अपेक्षित हो जाता है।

1.2.1 उद्देश्य

1. 'वेदों का परिचय' शीर्षक के अन्तर्गत, वेद के समग्र स्वरूप से परिचित कराना।
2. वेदों का धार्मिक महत्त्व, उनकी भाषा, उनका आविर्भाव, उनका 'संहिता' रूप में विभाजन—इत्यादि अन्य सम्बद्ध विषयों की सम्यक् जानकारी देना।

1.2.2 वेद शब्दार्थ

विद् ज्ञाने— इस धातु से घञ्, प्रत्यय करने पर 'वेद' शब्द बना है। 'वेद' समग्र ज्ञान-विज्ञान का स्रोत है। यह इष्ट-प्राप्ति व अनिष्ट-परिहार के लौकिक उपायों का ज्ञान कराता है। अतः 'वेदयति इति वेदः' अर्थात् जो अभीप्सित ज्ञान कराता है, वह 'वेद' है। जिससे धर्म आदि चारों पुरुषार्थों का, उनकी प्राप्ति के उपायों का ज्ञान होता है, अतः 'विद्यन्ते-ज्ञायन्ते, लभ्यन्ते अनेकधर्मपुरुषार्थाः; यह व्युत्पत्ति भी की जाती है। वेद की यही विशेषता है कि वह, वह ज्ञान देता है, जो प्रत्यक्ष या अनुमान आदि साधनों से प्राप्त नहीं हो पाता। इसीलिए मनुस्मृति (2/7)) में कहा गया है—**सर्वज्ञानमयो हि सः**, अर्थात् वह समग्र ज्ञान-विज्ञान का भण्डार है। चाहे वनस्पति विज्ञान हो, चाहे सृष्टिविज्ञान की चर्चा हो, चाहे औषधविज्ञान, वास्तुकला, नौका-निर्माण आदि की बात हो, सबके बीज वेद में दूँढे जा सकते हैं। मनुस्मृति (12/97))में

कहा गया है— भूतं भव्यं भविष्यञ्च, सर्वं वेदात्, प्रसिद्ध्यति, अर्थात् अतीत, वर्तमान व भविष्य— इन सभी पदार्थों आदि का ज्ञान 'वेद' के अध्ययन से सम्भव है।

परवर्ती दर्शन, व्याकरण आदि सभी क्षेत्रों पर वेदों की गहरी छाप है। विभिन्न दार्शनिक विचारधाराएं, जैसे अद्वैतवाद, द्वैतवाद, त्रैतवाद, विशिष्टाद्वैतवाद आदि सभी सिद्धान्त वेद को ही आधार मान कर प्रतिपादित किये जाते हैं। अतः परवर्ती ज्ञान-विज्ञान के विकास का मूल बीज 'वेद' ही है।

वेद को 'श्रुति' नाम से भी जाना गया—श्रुतिस्तु वेदो विज्ञेयः (मनु. 2/101)। लिपिबद्ध होने से पूर्व, गुरु शिष्य-परम्परा के द्वारा अर्थात् श्रवण-परम्परा या मौखिक परम्परा द्वारा यह सुरक्षित रहा है, इसलिए इसे 'श्रुति' कहना समुचित है।

1.2.3 वेदों का महत्त्व

ज्ञान-विज्ञान के अक्षय स्रोत होने से वेदों का महत्त्व तो है ही, धार्मिक दृष्टि से भी इनका महनीय स्थान है। वे भारतीय धर्म के मूल स्रोत हैं। मनुस्मृति (2/6) में कहा गया है— वेदोऽखिलो धर्ममूलम्। धार्मिक क्रियाओं के सम्पादन में या धर्माधर्म के निर्णय में वेद को ही प्रमाण माना जाता है। मनुस्मृति (2/113) में कहा भी गया है—धर्मं जिज्ञासमामानां प्रमाणं परमं श्रुतिः। यही नहीं, वेद-निन्दा करने वाले या उसे प्रमाण न मानने वालों को 'नास्तिक' की कोटि में माना गया—नास्तिको वेदनिन्दकः (मनुस्मृति)।

यज्ञ आदि धार्मिक कृत्यों का सम्पादन वैदिक मन्त्रों द्वारा ही सम्पन्न किया जाता रहा है। समस्त धर्मानुष्ठान या वर्णाश्रम-धर्म का अनुष्ठान वेद पर ही आधारित माना जाता है (मनु. 2/26)। प्रथम ब्रह्मचर्याश्रम में ब्रह्मचारी के लिए वेदाध्ययन करणीय माना गया है (मनु. 3/2)। ब्राह्मण मात्र के लिए, जिन पर धार्मिक कृत्यों को सम्पादित करने का प्रमुख दायित्व रहा है, वेदाभ्यास करना परम तप माना गया (मनु. 2/166)। आज भी धार्मिक अवसरों पर वैदिक मन्त्रों का उच्चारण किया जाता है।

मुण्डकोपनिषद् में बताया गया है कि चारों वेद 'अपरा विद्या' के अन्तर्गत हैं। इस विद्या के अध्ययन से ऐहलौकिक व पारलौकिक भोगों की प्राप्ति के सम्बन्धों आदि का ज्ञान होता है। यह निरूपण भी वेदों के महत्त्व को उजागर करता है। वस्तुतः वेद में परब्रह्म अविनाशी परमात्मा के स्वरूप को बताने वाली 'परा विद्या' का भी वर्णन है, भले ही वह अपेक्षाकृत अल्प मात्रा में हो।

1.2.4 वेद की सनातनता

वेद को मनुस्मृति (2/101) में 'सनातन चक्षु' कहा गया है। यह ईश्वरीय ज्ञान के रूप में सदा अस्तित्व में रहा है—ऐसी शास्त्रीय मान्यता है। सृष्टि-रचना के आरम्भ में ईश्वर वैदिक ज्ञान का आविर्भाव करते हैं। वेदान्त दर्शन के अनुसार, वेद अनादि व अपौरुषेय है। ईश्वर की तरह ही यह अनादि, अनन्त व अविनश्वर है।

वेद ईश्वरीय, ईश्वरकृत है, इस तथ्य को अनेक प्रकार से प्राचीन शास्त्रों में व्याख्यायित किया गया है। उदाहरणार्थ— बृहदारण्यक उपनिषद् (2/4/10) में वेद को ईश्वर का निःश्वास बताया गया है— यस्य निःश्वसितं वेदाः। श्वेताश्वतर उपनिषद् के अनुसार, सृष्टि के प्रारम्भ में ईश्वर ने ब्रह्मा को उत्पन्न किया और उसे वेद का ज्ञान कराया। शतपथ ब्राह्मण व मनुस्मृति में बताया गया है कि अग्नि, वायु व सूर्य ने तपस्या करके तीन वेदों को प्राप्त किया। इसी तरह यह भी मनुस्मृति में बताया गया है कि अंगिरा ऋषि ने अथर्ववेद का प्रथम ज्ञान प्राप्त किया गया। इस प्रकार अग्नि ऋग्वेद के, वायु यजुर्वेद के, सूर्य सामवेद के तथा अंगिरा अथर्ववेद के प्रथम ज्ञाता हुए। उनसे वेद लोक में प्रकाशित हुए। तदनन्तर, समाधिस्थ ऋषियों के शुद्ध अन्तःकरण में मन्त्रों का प्रादुर्भाव हुआ। इस प्रकार ऋषियों ने वेद-मन्त्रों का ज्ञान (दर्शन) किया, अर्थात् उन्होंने मन्त्रों की शक्ति का स्वयं अनुभव किया, वे मन्त्र-द्रष्टा कहलाए। महर्षि यास्क ने कहा है—ऋषयो मन्त्रद्रष्टारः, अर्थात् ऋषि उन मन्त्रों के रचयिता नहीं, अपितु मन्त्रों के अर्थों को आत्मसात् करने वाले, समझने वाले एवं उनको उद्घाटित करने वाले हैं। उन ऋषियों के माध्यम से लोगों ने उन मन्त्रों को जाना।

1.2.5 वैदिक भाषा

आर्यों की सर्वप्राचीन साहित्यिक भाषा का रूप वेद में उपलब्ध होता है। वर्तमान लौकिक भाषा के स्वरूप को आचार्य पाणिनि ने चतुर्थ शती ई.पू. में मान्य किया था, जिसे लौकिक संस्कृत कहा जाता है। वेदों की भाषा भी संस्कृत है, किन्तु यह वर्तमान प्रचलित संस्कृत से भिन्न है। अतः दोनों की भिन्नता की दृष्टि से वेद की भाषा को 'वैदिक छान्दस' या वैदिक संस्कृत या आर्य संस्कृत और वर्तमान प्रचलित संस्कृत को 'लौकिक संस्कृत' कहा जाता है।

वैदिक भाषा में व्याकरण-नियमों की 'बहुलता' है, अर्थात् शिथिलता है। किसी नियम का कहीं लागू होना, कहीं न होना, कहीं किसी दूसरे नियम का लागू होना, कहीं नियम के विरुद्ध हो जाना आदि को व्याकरण-परिभाषा में 'बहुलता' कहा जाता है। आ. पाणिनि ने वैदिक भाषा के व्याकरण की भी रचना की, किन्तु वे भी इसे पूर्णतया नियमों में बांध नहीं सके। अतः वैदिक भाषा के अपवादरहित नियमों को नहीं बनाया जा सका और आ. पाणिनि को 'बहुलं छन्दसि' सूत्र के माध्यम से यह कहना पड़ा कि वेद (छन्द) में सभी विधि या नियम 'बहुलता' से होते हैं, अर्थात् उनके अपवाद भी पाये जाते हैं।

वर्तमान प्रचलित लौकिक संस्कृत और वैदिक भाषा में व्याकरण-सम्बन्धी अनेकानेक भिन्नता हैं। शब्दावली, संज्ञारूप, धातुरूप, सन्धि-नियम आदि के अनेक भेद दोनों में पाये जाते हैं। इसलिए संस्कृतज्ञ के लिए भी वैदिक शब्दों के अर्थ को समझना कठिन होता है और प्राचीन आचार्यों (सायण आदि) की व्याख्याओं का सहारा लेना पड़ता है।

इसके अतिरिक्त, वैदिक भाषा में स्वराघात का विशेष महत्त्व है। वेदमंत्रों के उच्चारण में और उनका अर्थ करने में स्वराघात को ध्यान में रखा जाता है। शब्दों में स्वराघात के परिवर्तन से उनके अर्थों में भी परिवर्तन हो सकते हैं।

1.2.5.1 स्वराघातः अर्थनिर्धारक

वेद मंत्रों का पाठ विशेष स्वरों द्वारा तथा विशेष अक्षरों पर बल देकर किया जाता है। किसी शब्द के किसी अक्षर को विशेष स्वर में पढ़ा जाता है, इससे उस शब्द के अर्थ का निर्णय होता है। यदि किसी शब्द के अक्षर के स्वर को बदल दिया जाये, तो उस शब्द का अर्थ परिवर्तित हो जावेगा। उदाहरण के लिए 'इन्द्रशत्रुः' शब्द है। इसमें दो पद हैं—इन्द्र और शत्रु। दोनों का समास होकर 'इन्द्रशत्रु' पद बनेगा। समास—भिन्नता से इस पद के दो अर्थ हो सकते हैं। एक अर्थ (षष्ठी तत्पुरुष समास) होगा—इन्द्र का शत्रु। दूसरा अर्थ होगा—इन्द्र जिसका शत्रु (घातक) है। इस अर्थ में बहुव्रीहि समास है—(इन्द्रः शत्रुः, शातयिता यस्य) इन्द्र जिसका शत्रु यानी मारने वाला हो। यदि अन्तिम पद को उदात्त स्वर में पढ़ा जाए तो, पहला अर्थ (इन्द्र का शत्रु) होगा और यदि आद्योदात्त (आदि पद को उदात्त) पढ़ा जाए तो दूसरा अर्थ होगा। इससे सम्बद्ध कथानक भी है। वृत्रासुर व इन्द्र में शत्रुता थी। वृत्रासुर के पक्ष में 'यज्ञ' कराया गया, जिसमें बोला गया—'इन्द्रशत्रुः विवर्द्धस्व' (इन्द्रशत्रु की वृद्धि हो)। ऋत्विजों को अन्तोदात्त स्वर से पढ़ना था, ताकि इन्द्र के शत्रु अर्थात् वृत्रासुर की वृद्धि या जय हो। किन्तु ऋत्विजों ने आद्योदात्त स्वर के साथ हवन किया, जिसका अर्थ था—'इन्द्र मारने वाला हो'। फलस्वरूप इन्द्र की जय हुई और वृत्रासुर मारा गया।

वैदिक भाषा की स्वरगत यह विशेषता प्राचीन ग्रीक, लैटिन आदि भाषाओं में भी रही थी। जर्मन आदि भाषाओं में अब भी यह विशेषता मिलती है। ग्रीक शब्द 'Lithoblos' में यदि अन्तिम स्वर पर बल दिया जावे तो इसका अर्थ 'पत्थर फेंकने वाले' होगा। आदि के स्वर पर बल दिया जाने पर 'पत्थरों से आहत' अर्थ होगा। जर्मन भाषा के 'Uring-hen' शब्द के अन्तिम स्वर पर स्वराघात होने पर इसका अर्थ 'उपेक्षा करना' होगा, एवं पहले स्वर पर स्वराघात होने पर इसका अर्थ 'पार करना या ऊपर से जाना' होगा। अंग्रेजी भाषा के 'Conduct' शब्द को लें। यह संज्ञावाची और क्रियावाची दोनों है। यदि 'Con' पर बल देंगे तो यह संज्ञावाची होगा एवं 'Duct' पर बल देने पर क्रियावाची शब्द होगा। स्वर की यह प्रक्रिया प्रायः सभी भाषाओं में कुछ न कुछ अवश्य मिलती है।

वेदों के अर्थों को समझने के लिये स्वरों का ज्ञान अनिवार्य है। इसलिये 'तैत्तिरीय उपनिषद्' के दूसरे अनुवाक में लिखा है—“वर्णः स्वरः मात्रा बलम् इत्येतज्जिज्ञासितव्यम्”, अर्थात् वेदों के अर्थों को समझने के लिये वर्ण, स्वर, मात्रा, बल—इन सबको जानना चाहिये।

स्वर तीन होते हैं—उदात्त, अनुदात्त और स्वरित। इनके उच्चारण के सम्बन्ध में पाणिनि ने बताया है—उच्चैरुदात्तः, नीचैरनुदात्तः, समाहारः स्वरितः। अर्थात् जिस स्वर पर बल देकर ऊंचा उच्चारण किया

जाता है, वह उदात्त होता है। हल्के से उच्चारण किया जाने वाला स्वर अनुदात्त है और शेष स्वर स्वरित हैं। वेदों में प्रत्येक स्वर उदात्त, अनुदात्त या स्वरित निश्चित रूप से होगा एवं यह उच्चारण उसके अर्थ का निश्चय करेगा। इसके कुछ उदाहरण नीचे दिये जाते हैं—

‘मा’ शब्द के दो अर्थ हैं—मुझको और निषेध करना। ‘मा’ यदि अनुदात्त है तो इसका अर्थ सर्वनामवाची=मुझको होगा। यदि उदात्त है तो इसका अर्थ निषेधात्मक होगा।

‘क्षयं गतः देवदत्तः’ वाक्य में ‘क्षय’ शब्द के दो अर्थ हैं—घर और मृत। यदि क्षय शब्द को आद्युदात्त मानें तो इसका अर्थ घर होगा तथा अन्तोदात्त मानने पर मृत अर्थ होगा।

‘अर्य’ शब्द के स्वामी और वैश्य दो अर्थ हैं। इसको आद्युदात्त मानने पर वैश्य तथा अन्तोदात्त मानने पर स्वामी अर्थ होगा। इस प्रकार स्वर—परिवर्तन से अर्थ परिवर्तन हो जाता है।

1.2.6 वैदिक संहिताएं

कृष्ण मुनि या द्वैपायन द्वारा वेद को चार भागों में विभक्त किया गया। वे विभाग हैं—ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद व अथर्ववेद। यज्ञीय आवश्यकतानुसार आवश्यक मंत्रों का एक साथ संग्रह किया गया, उस संग्रह को ‘संहिता’ कहा जाता है। इस प्रकार ये चार संहिताएं अस्तित्व में आईं।

यज्ञ में प्रधानतः चार कृत्य हुआ करते हैं। मंत्रों को पढ़कर यज्ञीय देवताओं को बुलाने का कार्य ‘होता’ नामक ऋत्विक् द्वारा होता है। होता के लिए देव—आवाहनीय (देवों को आवाहन करने वाली) ऋचाओं (मंत्रों) का जो एक साथ संग्रह किया गया, उस संग्रह को ‘ऋग्वेद संहिता’ कहा गया, जिसे संक्षेप में ऋग्वेद के नाम से भी अभिहित करते हैं।

दूसरा ऋत्विक् यज्ञ में हवन करता है, उसे ‘अध्वर्यु’ कहते हैं। उससे सम्बन्धित यज्ञ—कार्य के लिए जिन मंत्रों की आवश्यकता समझी गई, उन मंत्रों का एक साथ संग्रह किया गया, उस संग्रह को ‘यजुर्वेद’ संहिता का नाम दिया गया।

यज्ञ में देवताओं को प्रसन्न करने के लिए गान, साम—गान करने वाले ऋत्विग् विशेष को ‘उद्गाता’ कहते हैं, अतः उद्गाता के लिए उपासना—मूलक गेयमंत्रों का संग्रह ‘सामवेद संहिता’ नाम से अभिहित हुआ।

यज्ञ की सारी क्रियाओं, आदि से अंत तक, के निरीक्षण के लिए तथा यज्ञ के सभी ऋत्विजों के कार्यों का यथोचित निरीक्षण करने के लिए एक ऐसे विशिष्ट ऋत्विक् की आवश्यकता होती है, जिसे सम्पूर्ण वेद का ज्ञान हो। उस विशिष्ट ऋत्विक् को यज्ञ का—‘ब्रह्मा’ कहा जाता है, अतः वेद के अन्य शेष सभी मंत्रों का एक संग्रह किया गया, जिसे ‘अथर्व—संहिता’ कहा गया। अथर्ववेद का सम्बन्ध ब्रह्मा से ही है। यज्ञ का ब्रह्मा अथर्ववेदी ही होता है। इस तरह कृपालु कृष्ण द्वैपायन ने एक वेद को ऋग्,

यजुः, साम तथा अथर्व नामक संहिताओं में विभाजित किया या विस्तार किया। एक ही वेद का संहिता रूप में विस्तार या व्यास करने के कारण कृष्णमुनि 'वेदव्यास' नाम से विश्रुत हैं।

'अथर्ववेद' के सम्बन्ध में एक शास्त्रीय विवरण यह भी प्राप्त होता है— अथर्वा नाम के एक ऋषि थे, उन्होंने परमर्षि श्येन से लौकिक यज्ञादि की सिद्धि के लिए, ऋगादि तीनों वेदों से मारण, मोहन, उच्चाटनादि सम्बन्धी मंत्रों का अध्ययन कर उन मंत्रों का एकत्र संग्रह किया, उस संग्रह को 'अथर्व-संग्रह' कहते हैं। इस तरह तीनों वेदों से संहिता आदि अवयव सहित वेदमंत्र-संग्रह को अथर्वा ने रचा। कालक्रम से अथर्वा द्वारा रचित वेदमंत्र-संग्रह 'अथर्ववेद' कहा जाने लगा। अथर्वा ऋषि ब्रह्मा के मानस पुत्र अंगिरस के वंश में हैं, अतः अथर्वा द्वारा संग्रहित वेदमंत्र-संहिता को अथर्वांगिरस वेद भी कहा जाता है।

1.2.7 वेदत्रयी

यद्यपि वेद संहिताएं चार हैं, किन्तु उनमें तीन को महनीयता देकर 'वेदत्रयी' नाम से अभिहित किया गया। मनुस्मृति में भी यज्ञसिद्धि हेतु ऋक्, यजुः व सामवेद के ही उत्पन्न होने का निरूपण है। यह भी मान्यता है कि ज्ञान, कर्म, उपासना— ये तीन तत्त्व मानव-जीवन से सम्बद्ध हैं। ऋग्वेद को ज्ञानमूलक, यजुर्वेद को कर्म (यज्ञादि) मूलक तथा सामवेद को उपासनामूलक माना जाता है। भगवद्गीता में भगवान् श्रीकृष्ण ने 'वेदानां सामवेदोऽस्मि' कहकर 'सामवेद' की प्रमुखता प्रतिपादित की है।

कुछ विद्वानों के मत में 'वेदत्रयी'—विभाग मंत्रगत—त्रिविधता की दृष्टि से किया गया है। यास्काचार्य के मत में मंत्र तीन प्रकार के हैं— परोक्षकृत, प्रत्यक्षकृत व आध्यात्मिक। जिनमें प्रथम पुरुष की क्रिया है, वे परोक्षकृत हैं। जिनमें मध्यम पुरुष की क्रिया है, वे प्रत्यक्षकृत हैं और जिनमें उत्तम पुरुष की क्रिया है, वे आध्यात्मिक हैं। इसी रचना-भिन्नता के आधार पर 'वेदत्रयी' यह विभाग है।

1.2.8 सारांश

आर्य सभ्यता व संस्कृति के ज्ञान का प्रमुख आदिम स्रोत वेद है। प्राचीनतम भाषा संस्कृत का आदिम साहित्य भी वेद है। परवर्ती धर्म-दर्शनों के बीज वेद में प्राप्त होते हैं। वैदिक या हिन्दू धर्म में धार्मिक यज्ञादि अनुष्ठानों में वैदिक मंत्रों का प्रयोग अपेक्षित होता है। वेद शब्द का यह अर्थ भी इसकी महत्ता को व्यक्त करता है। यह ज्ञान-विज्ञान का स्रोत है। पुरुषार्थों की साधना में, धर्माधर्म-निर्णय में, अभीष्ट की प्राप्ति व अनिष्ट-निवारण में इससे सम्यक् ज्ञान रूपी उपाय प्राप्त होता है। वर्णाश्रम-धर्म में इसका अध्ययन-अध्यापन आवश्यक है। वेद का दूसरा नाम 'श्रुति' भी है, क्योंकि श्रवण-परम्परा से यह सुरक्षित रहा है।

वेद ईश्वरीय ज्ञान है अतः सनातन है। ईश्वर के अनुग्रह से ब्रह्मा आदि देवों को यह ज्ञान प्राप्त हुआ। ऋषियों ने शुद्ध अन्तःकरण में वैदिक मंत्रों का 'दर्शन' किया और वे मंत्रद्रष्टा कहलाए। इसकी

भाषा लौकिक संस्कृत से भिन्न है, अतः इसे छान्दस या आर्ष भाषा कहा जाता है। स्वरांकन या स्वराघात इस भाषा का विशेष स्वरूप है।

एक वेद को वेदव्यास ने चार संहिताओं—ऋक्, यजु, साम, अथर्व में विभाजित किया। इन चारों में प्रथम तीन संहिताओं को 'वेदत्रयी' कहा जाता है। प्रत्येक संहिता का अपना-अपना महत्त्व व उपयोग है।

1.2.9 अभ्यास—प्रश्नावली

लघूत्तरात्मक—प्रश्न

- प्रश्न-1. वेदत्रयी से क्या तात्पर्य है?
- प्रश्न-2. वेद के धार्मिक महत्त्व पर प्रकाश डालें।
- प्रश्न-3. वेद शब्द का अर्थ क्या है?

वस्तुनिष्ठ प्रश्न

- प्रश्न-1. वेद की स्वराघात—प्रक्रिया में प्रयुक्त स्वरों की संख्या है—
- (अ) दो
- (ब) चार
- (स) पांच
- (द) तीन
- प्रश्न-2. लौकिक संस्कृत के प्रमुख आदि—प्रवर्तक थे—
- (अ) शंकर
- (ब) वेद व्यास
- (स) पाणिनि
- (द) वाल्मीकि
- प्रश्न-3. वेद—संहिताओं के विभाजक थे—
- (अ) अंगिरा ऋषि
- (ब) ब्रह्मा
- (स) कृष्ण द्वैपायन व्यास
- (द) आदित्य

प्रश्न-4. वैदिक भाषा में है—

- (अ) तद्धित प्रत्ययों की अधिकता
- (ब) परस्पर-संवादों की अधिकता
- (स) लौकिक संस्कृति के नियमों का पालन
- (द) संस्कृत व्याकरण के नियमों की बहुलता

1.2.10 संदर्भ ग्रंथ सूची

1. संस्कृत साहित्य विमर्श (पं. द्विजेन्द्र नाथ शास्त्री), प्रका. गुरुकुल वृन्दावन शोध संस्थान, स्नातक सदन, ए-5/3, प्रताप बाग, दिल्ली-110007
2. संस्कृत साहित्य का इतिहास (डा. उमाशंकर शर्मा 'ऋषि'), प्रका. चौखम्भा भारती अकादमी, वाराणसी-221001
3. वैदिक साहित्य और संस्कृति (डा. किरणकुमारी), द्वितीय भाग, प्रका. न्यू भारतीय बुक कार्पोरेशन, दिल्ली-110006
4. संस्कृत साहित्य का विशद इतिहास (डा. पुष्पा गुप्ता), प्रका. ईस्टर्न बुक लिंक्स, दिल्ली-110007

1.3 वेदों का रचना-काल

संरचना

- 1.3.0 प्रस्तावना
- 1.3.1 उद्देश्य
- 1.3.2 ई.पू. 1200 (मैक्समूलर का मत)
- 1.3.3 ई.पू. 1300 (मैक्डोनल का मत)
- 1.3.4 ई.पू. 6000 (डा. भण्डारकर का मत)
- 1.3.5 ई.पू. 4500 (जैकोबी का मत)
- 1.3.6 ई.पू. 2000-1400 (हाग का मत)
- 1.3.7 ई.पू. 3500 (शंकर बालकृष्ण दीक्षित का मत)
- 1.3.8 ई.पू. 6500 (श्री तिलक का मत)

- 1.3.9 ई.पू. 9000 (श्री पारंगी का मत)
- 1.3.10 ई.पू. 66000-75000 (श्री नरेकर का मत)
- 1.3.11 सारांश
- 1.3.12 अभ्यास प्रश्नावली
- 1.3.13 संदर्भ ग्रंथ सूची

1.3.0 प्रस्तावना

प्राचीन भारतीय परम्परा में वेदों को अनादि व सनातन माना गया, जिसका पहले निरूपण किया जा चुका है। किन्तु वर्तमान युग की विकासवादी विचारधारा उपर्युक्त विचारधारा से सहमत नहीं हुई। यूरोपीय विद्वानों द्वारा प्राचीन संस्कृत साहित्य का अध्ययन प्रारम्भ हुआ और उन्होंने वैदिक वर्ण्य विषय एवं अन्य बहिःसाक्ष्य के आधार पर वैदिक ग्रंथों के रचना-काल के निर्धारण का प्रयास किया। कुछ भारतीय विद्वानों का भी इस दिशा में प्रयास हुआ। भाषा शास्त्र, ज्योतिष शास्त्र, पुरातत्त्व, भूगर्भ शास्त्र आदि के आधार पर वैदिक रचना-काल को निर्धारित किया गया। पाश्चात्य विद्वान् प्रायः ईस्वी सन् के आस-पास वैदिक रचना-काल को ले जाते हैं तो दूसरी तरफ भारतीय विद्वानों का आग्रह अधिकाधिक प्राचीन सिद्ध करने का रहा। वेद के अध्येता के लिए इन सभी मतों को जानना अपेक्षित है, अतः प्रमुख मतों का संक्षिप्त निरूपण यहां किया जा रहा है।

1.3.1 उद्देश्य

पाश्चात्य व भारतीय विद्वानों ने वेद के रचनाकाल के निर्धारण की दिशा में जो प्रयास किये और अपने अभिमतों की पुष्टि की, उनसे परिचित कराना।

1.3.2 ई.पू. 1200 (मैक्समूलर का मत)

इंग्लैण्ड की 'सैक्रेड बुक्स आफ दी ईस्ट' नामक ग्रन्थमाला के अन्तर्गत मैक्समूलर द्वारा सम्पादित 'ऋग्वेद' (शाकल शखा) का प्रकाशन हुआ था। यह ग्रंथ 1859 ई. के लगभग प्रकाशित हुआ। इसकी भूमिका में मैक्समूलर ने ऋग्वेद के समय को निर्धारित करने का प्रयत्न किया। इन्होंने 'ऋग्वेद' की रचना को 1200 ई.पू. का सिद्ध किया।

अपने मत को सिद्ध करने के लिए मैक्समूलर ने कहा कि गौतम बुद्ध के समय तक वैदिक साहित्य की रचना पूरी हो चुकी थी। वैदिक साहित्य को उन्होंने चार भागों- छंद, मंत्र, ब्राह्मण और सूत्र में विभाजित किया तथा उनके अनुसार प्रत्येक भाग के विकास का एक विशेष काल रहा था। सबसे पहले छंदों, उसके बाद मंत्रों, तदनन्तर ब्राह्मणों तथा उनके पश्चात् सूत्रों की रचना हुई। मैक्समूलर के अनुसार प्रत्येक विभाग के विकास और उसकी पूर्णता के लिये 200 वर्षों का समय पर्याप्त है।

गौतम बुद्ध का समय 500 ई.पू. का है। अतः सूत्रों की रचना 600 ई.पू. में पूरी हो चुकी होगी। सूत्रों से 200 वर्ष पहले अर्थात् 800 ई.पू. का समय ब्राह्मणों का है। इस समय तक ब्राह्मणों, आरण्यकों एवं उपनिषदों की रचना हो जानी चाहिये। उससे पहले 200 वर्षों का समय मंत्रों का है। वेदों को दो भागों में विभक्त किया जा सकता है—छंद और मंत्र। मंत्रों का विनियोग यज्ञों के अनुष्ठानों में किया जाता है तथा शेष छन्द हैं। मंत्रों की रचना और विकास उससे पहले के 200 वर्षों में अर्थात् 1000 ई.पू. तक तथा छंदों की रचना उससे भी 200 वर्ष पहले अर्थात् 1200 ई.पू. में हुई थी। ऋग्वेद में प्राचीनतम छंद और मंत्र हैं, अतः ऋग्वेद का समय 1200 ई.पू. हो सकता है।

इस कालगणना के सम्बन्ध में मैक्समूलर स्वयं पूरी तौर पर संतुष्ट नहीं थे। उन्होंने बाद में स्वयं कहा कि यह समय—निर्धारण तो केवल एक अनुमान है। वेदों के समय को ठीक-ठीक निर्धारित करना असम्भव सा है। हो सकता है कि वेदों का अस्तित्व इससे पहले भी रहा हो।

विलसन, कीथ, कोलब्रुक आदि विद्वानों ने “ऋग्वेद” की रचना के समय के सम्बन्ध में मैक्समूलर का समर्थन किया है।

ऋग्वेद के समय का निर्धारण करने में अनेक विद्वानों ने मैक्समूलर की पद्धति को तो स्वीकार किया, परन्तु प्रत्येक स्तर के विकास के लिये 200 वर्ष के समय को अपर्याप्त माना। ओल्डनवर्ग के अनुसार ऋग्वेद की रचना का समय 2500 ई.पू. का होना चाहिये।

1.3.3 ई.पू. 1300 (मैक्डोनल का मत)

मैक्डोनल ने ऋग्वेद का रचना काल 1300 ई.पू. प्रतिपादित किया है। मैक्डोनल का विचार है कि आर्यों की भारतीय और ईरानी शाखायें, जो पहले एक ही थीं, 1300 ई.पू. के लगभग पृथक् हुई थीं। इसी समय आर्यों की भारतीय शाखा द्वारा ऋग्वेद की रचना हुई। इसके 500 वर्ष बाद 800 ई.पू. में अवेस्ता की रचना हुई। उनका कहना है कि जैकोबी के अनुसार यदि आर्यों की भारतीय एवं ईरानी शाखाओं के पृथक् होने के समय को 4500 ई.पू. भी मान लिया जावे, तो भी 3000 वर्षों तक इनकी भाषायें अपरिवर्तित ही रही होंगी। 1907 ई. में एशिया माइनर में प्राप्त 1400 ई.पू. के अभिलेखों में मित्र, वरुण, इन्द्र, नासत्य आदि देवताओं के उल्लेख उस समय दोनों शाखाओं के साम्य को सिद्ध करते हैं। उसी समय के लगभग यदि दोनों शाखाओं के पृथक् होने को स्वीकार कर लिया जावे तो उसके कुछ समय बाद होने वाले भाषागत परिवर्तन ऋग्वेद की भाषा में व्यक्त हुए, जो भाषा उस युग की ईरानी से भिन्न हो गई होगी। अतः ऋग्वेद का रचना काल 1300 ई.पू. होना चाहिये।

1.3.4 ई.पू. 6000 (डॉ. भण्डारकर का मत)

डा.आर.जी. भण्डारकर ने इतिहास के आधार पर वेदों की रचना के समय को प्रतिपादित करने का प्रयत्न किया। “ईशावास्योपनिषद्” में, जो कि “यजुर्वेद” का 40 वां अध्याय है, “असुर्या” शब्द आया है। भण्डारकर के अनुसार यह शब्द “असीरिया” है। “ऋग्वेद” में देवों और असुरों के संग्राम का उल्लेख है। असीरिया (मेसोपोटामिया) के लोग ही वेदों में उल्लिखित असुर हैं। ये 2500 ई.पू. के लगभग भारत की ओर आये थे। अतः “यजुर्वेद” की रचना 2500 ई.पू. के लगभग हुई होगी। “ऋग्वेद” इससे भी पहले रचा गया होगा। अतः ऋग्वेद की रचना का समय 6000 ई.पू. रहा होगा।

सिकन्दर के आक्रमण के समय ग्रीकों ने राजवंशावलियों का संग्रह किया था। उनके अनुसार चन्द्रगुप्त मौर्य से पहले 154 राजाओं ने 6457 वर्ष तक राज्य किया था। यह समय वैदिक ही रहा होगा। इससे बहुत वर्षों पहले “ऋग्वेद” की रचना का समय 8000–7000 ई.पू. हो सकता है।

1.3.5 ई.पू. 4500 (डॉ. जैकोबी का मत)

जर्मनी के बोन नगर के निवासी जैकोबी महोदय ने ज्योतिष के आधार पर गणना करके “ऋग्वेद” का समय 4500 ई.पू. सिद्ध किया। उनका कहना है कि कल्पसूत्रों में विवाह के प्रकरण में “ध्रुव इव स्थिरा भव” वाक्य आया है। इसका अभिप्राय है कि ध्रुव तारा उस समय अधिक चमकीला और स्थिर रहा होगा। यह स्थिति 2000 ई.पू. की हो सकती है। ब्राह्मण ग्रंथों में कृत्तिका नक्षत्र में वसन्त सम्पात का उल्लेख है। गणना द्वारा यह समय 2500 ई.पू. का प्रतीत होता है। इस प्रकार ब्राह्मण ग्रंथों और कल्पसूत्रों का समय 2500 ई.पू. के लगभग रहा होगा। “ऋग्वेद” का समय और भी बहुत पहले 4500 ई.पू. होना चाहिये।

1.3.6 ई.पू. 2000–1400 (हाग का मत)

ज्योतिष के आधार पर हाग महोदय ने वेदांग ज्योतिष की रचना का समय 1186 ई.पू. निर्धारित करके ब्राह्मण ग्रंथों का रचना काल 1400–1200 ई.पू. निश्चित किया। उनके अनुसार वैदिक संहितायें 2000–1400 ई.पू. में निबद्ध हुईं। मंत्रों की रचना का समय 1400–2000 ई.पू. के लगभग रहा होगा।

1.3.7 ई.पू. 3500 (श्री शंकर बालकृष्ण दीक्षित का मत)

महाराष्ट्र के प्रसिद्ध ज्योतिषी शंकर बालकृष्ण दीक्षित ने ज्योतिष के आधार पर नक्षत्रों की गणना करके शतपथ ब्राह्मण का समय 3000 ई.पू. निर्धारित किया और ऋग्वेद की रचना के समय को 3500 ई.पू. का प्रतिपादित किया।

1.3.8 ई.पू. 6500 (श्री तिलक का मत)

ज्योतिष के आधार पर वेदों के समय को निर्धारित करने में लोकमान्य बालगंगाधर तिलक ने महत्त्वपूर्ण भाग लिया है। उनके अनुसार संहिताओं का निबन्धन 4500 ई.पू. में हुआ था और उससे पहले 2000 वर्षों में सारे मंत्र रचे गये थे। इस प्रकार से प्राचीनतम ऋचायें 6500 ई.पू. तक की हो सकती हैं।

तिलक का कहना है कि ब्राह्मण ग्रंथों के समय नक्षत्रों की गणना कृत्तिका नक्षत्र से होती थी तथा कृत्तिका नक्षत्र के समय दिन और रात बराबर होते थे। वर्तमान समय में 21 मार्च और 23 सितम्बर को दिन और रात बराबर होते हैं और सूर्य उस समय अश्विनी नक्षत्र में रहता है। इतना परिवर्तन 4500 वर्षों में हो सकता है। अतः ब्राह्मण ग्रंथों की रचना 4500 वर्ष पूर्व 2500 ई.पू. में हुई होगी। संहिताओं के युग में दिन और रात उस समय बराबर होते थे, जब सूर्य मृगशिरा नक्षत्र में होता था। यह समय 6500 वर्ष पहले का है। अतः संहिताओं की रचना का समय 4500 ई.पू. का है। “ऋग्वेद” के मंत्र के अनुसार मृगशिरा नक्षत्र में वसन्त ऋतु होती थी और दिन-रात बराबर होते थे। यह समय और भी 2000 वर्ष पूर्व का रहा होगा। अतः ऋग्वेद के मंत्रों का रचना-काल 6500 ई.पू. होना चाहिये।

1.3.9 ई.पू. 9000 (श्री पारंगी का मत)

“ऋग्वेद” की रचना के समय को निर्धारित करने के लिये भूगर्भशास्त्र को भी आधार बनाया गया है। इस तर्क को प्रस्तुत करने वाले प्रमुख विद्वान् नारायणराव भवनराव पारंगी हैं। उन्होंने “ऋग्वेद” की रचना का समय 9000 वर्ष पूर्व का निर्धारित किया है।

ऋग्वेद में अनेक भौगोलिक स्थितियों-नदियों, समुद्रों आदि का वर्णन है। ऋग्वेद के एक मंत्र (ऋग्वेद 10.13.65) में सप्तसैन्धव प्रदेश के दोनों ओर दो समुद्रों का वर्णन आता है। इनमें पश्चिम का समुद्र संभवतः अरब सागर था। पूर्व समुद्र वर्तमान पंजाब के ठीक पूर्व में था और वर्तमान उत्तर प्रदेश, बिहार और बंगाल के मैदान इसमें लुप्त थे। बहुत समय की अवधि में हिमालय पर्वत से निकलने वाली नदियों द्वारा लाई गई मिट्टी से यहां का समुद्र पाट दिया गया।

ऋग्वेद के दो मंत्रों (9.36.6 और 10.47.2) के अनुसार सप्तसैन्धव प्रदेश के चारों ओर चार समुद्र थे। इनमें से उत्तरी समुद्र सम्भवतः वर्तमान फारस और टर्की के उत्तर-पश्चिम में था। यह समुद्र बहुत कुछ प्राकृतिक कारणों से सूख गया, परन्तु इसके कुछ अवशेष कृष्णसागर, कैस्पियन सागर, अराल झील और बाल्कश झील के रूप में अब भी विद्यमान हैं। पश्चिम में अरब सागर था और पूर्व में वह सागर था जहां, अब उत्तर-प्रदेश, बिहार और बंगाल के मैदान हैं। वर्तमान राजपूताना के प्रदेश में दक्षिण समुद्र था, जिसमें सरस्वती नदी गिरती थी। राजपूताना में विद्यमान खारे नमक की झीलें और मरुस्थल की तहें

प्रमाणित करती है कि वहां कभी समुद्र रहा होगा। सरस्वती नदी का वर्णन ऋग्वेद में आया है। यह गर्जना करती हुई दक्षिण समुद्र में गिरती थी।

भूगर्भशास्त्रियों के अनुसार इस प्रकार की भौगोलिक स्थिति 9000 वर्ष पूर्व रही होगी। इस आधार पर पारंगी महोदय ने ऋग्वेद की रचना का समय 9000 वर्ष पहले का निर्धारित किया है।

1.3.10 ई.पू. 66000–75000 (श्री नरेकर का मत)

प्रसिद्ध लेखक एच.जी.वेल्स ने अपनी 'आउट लाइन्स आफ वर्ल्ड हिस्ट्री' में 25000–50000 वर्ष पहले का नक्शा दिया है। नरेकर महोदय ने इस आधार पर ऋग्वेद का रचना काल 66000–75000 वर्ष पहले का बताया है। प्रोफेसर लौटूसिंह ने सनातनी ऐतिहासिक प्रमाणों के आधार पर ऋग्वेद की रचना को 4 लाख 35 हजार वर्ष पुराना कहा है।

अनेक विद्वानों की यह भी मान्यता है कि ऋग्वेद के कुछ सूत्र अधिक प्राचीन हैं और कुछ बाद में रचे गये थे। वेद मंत्रों की रचना की एक परम्परा रही और इनकी रचना क्रमशः होती रही। कालान्तर में इनका संकलन कर लिया गया।

1.3.11 सारांश

वेदों के रचना-काल को लेकर विद्वानों के विभिन्न मत प्रतिपादित हुए हैं। इनके समय को ठीक-ठीक निर्धारित करना कठिन है—ऐसा स्पष्ट प्रतीत होता है। प्राचीन भारतीय विचारधारा में वेद नित्य व अपौरुषेय हैं। आधुनिक व पाश्चात्य विद्वानों ने जो रचना-काल निर्धारित किये हैं, उनके मतों में शताब्दी या सहस्राब्दी का अन्तर दिख रहा है। दोनों विचारधारा में इस विषय पर ऐकमत्य यही है कि वेदों की रचना साहित्य-रचना की दृष्टि से प्राचीनतम है, रचना-काल कुछ भी हो।

1.3.12 अभ्यास-प्रश्नावली

लघूत्तरात्मक प्रश्न

प्रश्न-1. लोकमान्य तिलक के मत में वेदों का रचना-काल क्या है?

अथवा

आधुनिक विद्वानों में से किसने वेदों का सर्वाधिक प्राचीन रचना-काल माना है?

वस्तुनिष्ठ प्रश्न

प्रश्न-1. ई.पू. 3500 वेद-रचनाकाल मानने वाले विद्वान् हैं—

(अ) मैक्डोनल

(ब) मैक्समूलर

(स) बालकृष्ण दीक्षित

(द) लोकमान्य तिलक

प्रश्न-2. ई.पू. 1200 वेद-रचनाकाल मानने वाले विद्वान् हैं—

- (अ) मैक्समूलर
- (ब) डा. भण्डारकर
- (स) डा. जैकोबी
- (द) श्री तिलक

प्रश्न-3. श्री नरेकर ने वेदों का रचना-काल माना था—

- (अ) श्री तिलक— ई.पू. 6000
- (ब) मैकडोनल— ई.पू. 4500
- (स) मैक्समूलर— ई. 2000—1400
- (द) 66000—75000

निबन्धात्मक प्रश्न

प्रश्न-1. वेदों के रचना-काल के विषय में पाश्चात्य विद्वानों के मतों का निरूपण करें।

अथवा

प्रश्न-2. वेदों के रचना-काल के विषय में भारतीय विद्वानों के मतों का निरूपण करें।

अथवा

प्रश्न-3. वेदों के रचना-काल के विषय में किस भारतीय या पाश्चात्य विद्वान् का अभिमत युक्तियुक्त प्रतीत होता है? अपने विचार प्रकट करें।

1.3.13 संदर्भ ग्रंथ सूची

1. संस्कृतसाहित्यविमर्शः (पं. द्विजेन्द्र नाथ शास्त्री), प्रका. गुरुकुल वृन्दावन शोध संस्थान, स्नातक सदन, ए-5/3, प्रताप बाग, दिल्ली-110007
2. संस्कृत साहित्य का इतिहास (डा. उमाशंकर शर्मा 'ऋषि'), प्रका. चौखम्भा भारती अकादमी, वाराणसी-221001
3. वैदिक साहित्य और संस्कृति (डा. किरणकुमारी), द्वितीय भाग, प्रका. न्यू भारतीय बुक कार्पोरेशन, दिल्ली-110006
4. संस्कृत साहित्य का विशद इतिहास (डा. पुष्पा गुप्ता), प्रका. ईस्टर्न बुक लिंक्स, दिल्ली-110007

1.4 ऋग्वेद का विशेष परिचय

संरचना

- 1.4.0 प्रस्तावना
- 1.4.1 उद्देश्य
- 1.4.2 ऋग्वेद की आन्तरिक संरचना
- 1.4.3 वैदिक भाष्यकार
 - 1.4.3.1 भारतीय विद्वान्
 - 1.4.3.2 पाश्चात्य विद्वान्
- 1.4.4 सारांश
- 1.4.5 अभ्यास प्रश्नावली
- 1.4.6 संदर्भ ग्रंथ-सूची

1.4.0 प्रस्तावना

ऋग्वेदीय सूक्तों के अध्ययन से पूर्व, वेदों का सामान्य व विशेष परिचय प्राप्त करना अपेक्षित था। अतः वेदों के सामान्य स्वरूप एवं उनके रचना-काल की जानकारी पूर्व में दी गई। अब, ऋग्वेद का विशेष परिचय प्रस्तुत किया जा रहा है।

ऋग्वेद संहिता सभी वेद-संहिताओं में प्राचीनतम है। ऋक् उसे कहते हैं, जिसके द्वारा देव-विशेष, क्रियाविशेष या साधनविशेष की प्रशंसा या स्तुति की जाती है। वेदस्वरूप परमात्मा का दाहिना हाथ ऋग्वेद को माना गया है, अतः इसकी महत्ता स्पष्ट है।

ऋग्वेद में अनेक सूत्र हैं, जिनमें स्तुतिपरक मंत्रों का संग्रह है। प्रत्येक सूक्त के पृथक्-पृथक् मंत्रद्रष्टा ऋषि व स्तुतियोग्य देवता हैं। प्रत्येक मंत्र किसी छन्द-विशेष में रचित है। इस प्रकार, ऋग्वेद के आन्तरिक स्वरूप-परिचय के साथ-साथ, अध्येता के लिए यह भी अपेक्षित है कि वह मंत्रों के ऋषि, देवता व छन्द- इनसे भी परिचित हो।

1.4.1 उद्देश्य

1. 'ऋग्वेद का विशेष परिचय' के माध्यम से ऋग्वेद संहिता की आन्तरिक संरचना का ज्ञान प्राप्त कराना।
2. प्रत्येक सूत्र के ऋषि, देवता व छन्द का ज्ञान प्राप्त कराना।

1.4.2 ऋग्वेद की आन्तरिक संरचना

चार वैदिक संहिताओं में प्रथम ऋग्वेद संहिता है। इसमें स्तुतिपरक सूक्तों का संग्रह है। सभी संहिताओं में इसका सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण स्थान है। आकार-प्रकार में भी यह अन्य संहिताओं की तुलना में अधिक है। यज्ञ की पूर्णता की दृष्टि से भी ऋग्वेद की ऋचाओं का महत्त्व है।

इसकी 21 शाखाओं के अस्तित्व होने का उल्लेख महाभाष्य (पतंजलि-कृत) में प्राप्त होता है। परन्तु उनमें प्रमुख पांच थीं— शाकल, बाष्कल, आश्वलायन, शांखायन व माण्डूकायन। वर्तमान में मात्र एक शाखा 'शाकल' ही उपलब्ध है।

ऋग्वेद के दस मण्डलों में 1028 सूक्त हैं। अष्टम मण्डल में ग्यारह सूक्त 'खिल' अर्थात् प्रक्षिप्त हैं। प्रक्षिप्त सूक्तों को छोड़कर, कुल 1017 सूक्त हैं। कुल मंत्रों की संख्या 10552 है। महर्षि शौनक की अनुक्रमणी के अनुसार खिल (प्रक्षिप्त) मंत्रों को छोड़कर कुल मन्त्र 10580 हैं।

समग्र ऋग्वेद का विभाजन दो प्रकार से किया जाता है। वे हैं—1. मण्डल-क्रम 2. अष्टक-क्रम।

(क) **अष्टकक्रम**— इस क्रम के अनुसार ऋग्वेद को आठ अष्टकों में विभाजित किया गया है। प्रत्येक अष्टक में आठ-आठ अध्याय हैं। ये अध्याय वर्गों में विभक्त हैं और प्रत्येक वर्ग में मंत्र संग्रहीत हैं। वर्गों की संख्या 2006 हैं। इस प्रकार अष्टकक्रम के अनुसार ऋग्वेद में 8 अष्टक 64 अध्याय और 2006 वर्ग हैं।

(ख) **मण्डलक्रम**— ऋग्वेद का यह क्रम अधिक महत्त्वपूर्ण, ऐतिहासिक तथा वैज्ञानिक है। इस क्रम के अनुसार ऋग्वेद को 10 मण्डलों में विभक्त किया गया है। इनमें 85 अनुवाक हैं और इन अनुवाकों में मंत्र संग्रहीत हैं।

1.4.3 वैदिक भाष्यकार

वैदिक संहिताओं के मंत्रों की व्याख्या बहुत प्राचीन काल से की जाती रही है तथा अनेक विद्वानों ने इनके अर्थों को प्रकाशित करने का प्रयत्न किया है। परन्तु मंत्रों के अर्थों को अभिव्यक्त करने में वे एकमत नहीं हो सके। उनके अर्थों में बहुत अधिक मतभेद है। भारत में जो भी भिन्न-भिन्न प्रकार के मत, उपासना-पद्धतियां, दार्शनिक विचार आदि प्रचलित हुये, उनके आचार्यों ने वेदों को प्रमाण मान कर ही अपने कथनों को पुष्ट किया।

वेदों के मंत्रों की व्याख्या के रूप में सबसे पहले ब्राह्मणों, आरण्यकों और उपनिषदों की रचना हुई। इनको वैदिक साहित्य के अन्तर्गत समझा जाता है और समझा जाता है कि इनमें वेदों के अर्थों का ही प्रकाशन किया गया है। इस साहित्य की रचना के अनन्तर वेदों पर और उत्तरवर्ती वैदिक साहित्य पर भी अनेक टीकायें और भाष्य प्राचीन काल से ही लिखे जाते रहे। यद्यपि अनेक टीकायें और भाष्य इस समय प्राप्त नहीं हैं, तथापि जो प्राप्त हैं, उनका परिमाण कम नहीं है।

1.4.3.1 भारतीय विद्वान्

(क) **यास्क**— वेदों के मंत्रों के अर्थ को स्पष्ट करने का पहला प्रयत्न हमें यास्क के निरुक्त में मिलता है। यास्क ने बताया है कि मंत्रों के अर्थ किस प्रकार करने चाहियें। उन्होंने कौत्स आदि अपने से प्राचीन टीकाकारों के मतों का भी उल्लेख किया है। यास्क ने वेदमंत्रों में प्रयुक्त विशिष्ट शब्दों के अर्थ को समझने हेतु 'निरुक्त' की रचना कर महान् उपकार किया और एक दिशा-निर्देश दिया।

(ख) **स्कन्द स्वामी**— वेदों के जिन टीकाकारों के नाम हमें ज्ञात हैं, इनमें सबसे प्राचीन स्कन्दस्वामी हैं। इन्होंने अपनी टीका 687 विक्रमी सम्वत् में पूरी की थी। माधव, सायण आदि भाष्यकारों ने स्कन्दस्वामी को अपने भाष्यों में उद्धृत किया है। स्कन्दस्वामी-कृत ऋग्वेद का भाष्य प्रथम अष्टक पर सम्पूर्ण तथा 2-5 अष्टक पर खण्डित रूप में मिलता है। नारायण और उद्गीथ स्कन्दस्वामी के सहकारी थे तथा इन्होंने ऋग्वेद के कुछ अंशों के भाष्य लिखे थे।

(ग) **सायण**— वेदों के प्राचीन भाष्यकारों में सायण को बहुत ख्याति मिली है। इन्होंने चारों वेदों पर तो भाष्य लिखे ही थे, अन्य वैदिक साहित्य, ब्राह्मण आदि पर भी विस्तृत भाष्य लिखे। सायण विजयनगर के राजाओं के मंत्री थे और राजनीति में सक्रिय भाग लेते हुये भी इन्होंने वैदिक साहित्य पर बहुत विस्तृत भाष्यों की रचना की थी।

14वीं शताब्दी के पहले भाग में महाराज बुक्क ने मुसलमान बादशाहों की अधीनता को तोड़कर विजयनगर राज्य की स्थापना की थी। सायण इनके गुरु थे और मंत्री के पद पर कार्य करते थे। बुक्क के उत्तराधिकारी हरिहर के भी वे मंत्री रहे। सायण के पिता का नाम मायण और माता का नाम श्रीमती था। इनके गुरु का नाम श्रीकण्ठ था। इनका भारद्वाज गोत्र था। कहा जाता है कि सायण ने अपने भाई के निर्देशन में भाष्य लिखे थे, अतः उनके भाष्यों को सायण-माधवीय भी कहा जाता है। 72 वर्ष की अवस्था में 1387 ई. में सायण की मृत्यु हुई थी।

सायण ने चारों वेदों पर भाष्य लिखे थे। ऋग्वेद की शाकल संहिता पर, शुक्ल यजुर्वेद की काण्व संहिता पर, कृष्ण यजुर्वेद की तैत्तिरीय संहिता पर, सामवेद की कौथुम संहिता पर और अथर्ववेद की शौनक संहिता पर सायण के भाष्य उपलब्ध होते हैं। चारों वेदों पर भाष्य लिखने के अतिरिक्त सायण ने अनेक ब्राह्मणों, आरण्यकों और उपनिषदों पर भी भाष्य लिखे थे। सामवेद के ब्राह्मणों, ऐतरेय

आरण्यक और उपनिषद्, तैत्तिरीय ब्राह्मण एवं आरण्यक और उपनिषद् पर तथा साम प्रातिशाख्य पर उनके भाष्य उपलब्ध हैं। सायण का ऋग्वेदभाष्यभूमिका प्रसिद्ध ग्रंथ है।

सायण ने यज्ञों की दृष्टि से अपने भाष्यों को लिखा है। उनके मत से का वेदों प्रतिपाद्य विषय यज्ञ, कर्मकाण्ड तथा देवताओं का आवाहन करना है। उनके अर्थ इसी दृष्टिकोण से लिखे गये हैं। इसीलिये पाश्चात्य वैदिक भाष्यकारों ने सायण को याज्ञिक भाष्यकार कहा है।

(घ) स्वामी दयानन्द— सायण के बाद वेदों के भाष्यकारों में जिनका प्रमुख नाम है, वे हैं—ऋषि दयानन्द। ऋषि दयानन्द का जन्म टंकारा नगर में 1881 वि. सम्वत् में हुआ था। इनका बाल्यकाल का नाम मूलचन्द था। बचपन में शिवरात्रि के पर्व पर व्रत धारण किये हुए इस बालक ने शिवमूर्ति पर चूहे को चढ़ा देखकर सच्चे शिव की खोज में घर त्याग दिया। युवावस्था में इन्होंने मथुरा में ऋषि विरजानन्द से वेदों की शिक्षा प्राप्त की और वेद मंत्रों के वास्तविक अर्थ को समझा। गुरु-दक्षिणा के रूप में इन्होंने वैदिक धर्म के प्रचार का व्रत लिया।

ऋषि दयानन्द ने वेदों की व्याख्या में प्राचीन काल से चली आती हुई परिपाटी को नहीं माना और अनेक युक्तियों से अपने पक्ष को प्रमाणित किया। वेद मंत्रों के अर्थों का परिचय देने के लिये पहले आपने 'ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका' नामक पुस्तक लिखी और इसमें बताया कि वेदों में क्या है तथा वेद मंत्रों की व्याख्या किस आधार पर करनी चाहिये। 1933 वि. सम्वत् में आपने ऋग्वेद पर भाष्य लिखना प्रारंभ किया, जो सातवें मण्डल के दूसरे सूक्त के दूसरे मंत्र तक लिखा जा सका था। नियति के कठोर हाथों ने उनके इस कार्य को पूरा नहीं होने दिया। ऋग्वेद के अतिरिक्त ऋषि दयानन्द ने शुक्ल यजुर्वेद की माध्यन्दिन शाखा पर भी भाष्य लिखा था।

ऋषि दयानन्द की मंत्रों की व्याख्या की अपनी विशेषतायें हैं। वेदों की व्याख्या में उन्होंने यास्क को सबसे अधिक प्रमाण माना। प्राचीन टीकाकारों के समान ऋषि ने वेदों में बहुदेवतावाद को स्वीकार नहीं किया। उन्होंने वेदों में एकदेवतावाद के पक्ष को प्रमाणित किया। ऋषि का कथन है कि वेदों में एक ईश्वर की स्तुति की गई है तथा इन्द्र, आदि देवतापरक सभी नाम परमात्मा के अर्थ को व्यक्त करते हैं एवं परमात्मा की विभिन्न शक्तियों को बताते हैं। ऋषि दयानन्द ने वेदों को ईश्वरकृत एवं नित्य माना और बताया कि वेदों में वर्णित विषय को चार भागों में बांटा जा सकता है—विज्ञान, कर्म, उपासना और ज्ञान। वेदों के तीन प्रकार के अर्थ किये जा सकते हैं—आध्यात्मिक, आधिदैविक और आधिभौतिक। ऋषि दयानन्द के अनुसार वेद सभी सत्य विद्याओं के भण्डार हैं और सभी ज्ञान-विज्ञानों के स्रोत हैं।

वेदों के अर्थ-निर्णय में ऋषि दयानन्द की विचार-पद्धति ने बहुत प्रभाव डाला। इस समय तक पाश्चात्य विद्वानों ने भी वेदों का अध्ययन और सम्पादन करके उन पर व्याख्यायें प्रकाशित कर दी थीं। भारतीय विद्वान् भी वेदों की ओर आकर्षित हुये और उन्होंने आधुनिक भारतीय भाषाओं में, विशेष रूप से

हिन्दी में वेदों की व्याख्यायें प्रकाशित कीं। इस सम्बन्ध में पं. दामोदर सातवलेकर, जयदेव विद्यालंकार, सत्यव्रत सामश्रमी, भगवद्दत्त वेदालंकार आदि के नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं।

1.4.3.2 पाश्चात्य विद्वान्

वेदों में निहित ज्ञान केवल भारतवर्ष में ही सीमित नहीं रहा, पाश्चात्य विद्वान् भी इस ओर आकर्षित हुये। जर्मनी, इंग्लैंड और फ्रांस में इस सम्बन्ध में विशेष कार्य हुआ है। 16वीं शताब्दी में इस देश का यूरोपीय देशों में विशेष सम्पर्क हुआ। उसके बाद व्यापारी, सैनिक और प्रशासकों के रूप में वे निरन्तर यहां आते रहे। इनके साथ यूरोप के अनेक विद्वान् भी यहां आये। भारत के संस्कृत साहित्य को और विशेष रूप से वैदिक साहित्य को देखकर वे बहुत प्रभावित हुये। उन्होंने वेदों का संग्रह तथा सम्पादन किया और अपनी भाषाओं में वेद-मंत्रों की व्याख्यायें की। वर्तमान समय में हमें वेदों की जो क्रमबद्ध प्रकाशित उपलब्धि है, उसके लिये हमें इन यूरोपीय विद्वानों का आभार स्वीकार करना चाहिए।

वेद-मंत्रों का सम्पादन, अनुवाद व व्याख्या आदि में एवं वेदार्थ-ज्ञान में अनेक दृष्टियों से योगदान देने वाले कुछ प्रमुख पाश्चात्य विद्वानों का संक्षिप्त परिचय प्रस्तुत किया जा रहा है।

(क) कोलब्रुक— वेद मंत्रों की व्याख्या करने वाले पाश्चात्य विद्वानों में सबसे पहला स्थान कोलब्रुक का है। इन्होंने 1805 ई. में 'एशियाटिक रिसर्चज' नामक पत्रिका के माध्यम से वेदों पर विवेचनात्मक लेख लिखे थे और वैदिक साहित्य के महत्त्व पर प्रकाश डाला था। कोलब्रुक के लेखों ने जर्मन विद्वान् रुडोल्फ रॉय को वेदों के अध्ययन के लिये प्रोत्साहित किया।

(ख) रॉथ— रॉथ द्वारा लिखी गई पुस्तक 'वेद का साहित्य और इतिहास' 1846 ई. में प्रकाशित हुई। उन्होंने वेदों की व्याख्या करने के लिए नये सिद्धान्तों को जन्म दिया। उन्होंने सायण की व्याख्या को अग्राह्य ठहराया। उन्होंने कहा कि वेदों के मंत्रों की व्याख्या करने में हमको वेदों के अन्दर से ही प्रमाण खोजने चाहियें और एक जैसे शब्दों का सूक्ष्म तुलनात्मक अध्ययन करना चाहिये। शब्दों का अर्थ करते समय संदर्भ, व्याकरण और व्युत्पत्ति को ध्यान में रखना चाहिये। इसके साथ ही वैदिक शब्दों के लौकिक संस्कृत तथा अवेस्ता के तत्सम्बन्धी शब्दों के साथ सम्बन्ध का भी ध्यान रखना चाहिये। वेद-मंत्रों के अर्थों को समझने के लिये इन सिद्धान्तों का आश्रय लेकर रॉथ ने 'सेन्टपीटर्स वर्ग' नामक संस्कृत-जर्मन कोष की रचना की। इसमें सभी शब्दों को विकास-क्रम के अनुसार दिया गया है। वैदिक शब्दों के अर्थों को समझने में इस ग्रंथ ने बहुत सहायता की है।

रॉथ ने वैदिक शब्दों का लौकिक संस्कृत, अवेस्ता एवं प्राचीन और अर्वाचीन यूरोपीय भाषाओं के साथ तुलनात्मक अध्ययन भी किया एवं "वैदिक भाषाविज्ञान" को जन्म दिया। रॉथ के सहयोगियों और शिष्यों ने भी वेदों के अध्ययन, अनुशीलन तथा व्याख्या करने में विशेष योग

दिया। इन्होंने वेदों को सम्पादित करके उनके शुद्ध संस्करण छपवाये एवं वेदों पर व्याख्यायें और आलोचनात्मक ग्रंथ लिखे।

(ग) **मैक्समूलर (1823–1900 ई.)**— वैदिक साहित्य के अध्ययन और प्रकाशन में मैक्समूलर का बहुत बड़ा योगदान है। उन्होंने सबसे पहले सायण के भाष्य सहित ऋग्वेद को सम्पादित करके छपवाया। इस कार्य के लिये इन्होंने 1846 से 1875 ई. तक 26 वर्षों तक साधना की और यह ग्रंथ 300 पृष्ठों की भूमिका सहित 3000 पृष्ठों में प्रकाशित हुआ। इससे योरुप में वैदिक साहित्य के अध्ययन को बहुत प्रोत्साहन मिला।

(घ) **आफ्रेक्ट**— जर्मन विद्वान् आफ्रेक्ट ने 1863 ई. में ऋग्वेद को सम्पादित करके रोमन लिपि में प्रकाशित किया था। प्रो. हॉग ने ऐतरेय ब्राह्मण को एक बड़ी उपयोगी भूमिका सहित अंग्रेजी अनुवाद के साथ बम्बई में प्रकाशित कराया था। इस युग के पाश्चात्य वैदिक विद्वानों में लिन्डनर, स्टेन्जलर, हिलब्रान्ट आदि के नाम भी विशेष उल्लेखनीय हैं।

(ङ) **डा. विलसन (1784–1860 ई.)**— ऋग्वेद के व्याख्याताओं में अंग्रेज विद्वान् डा. विलसन महत्त्वपूर्ण हैं। इन्होंने पूरे ऋग्वेद का अंग्रेजी अनुवाद किया, जो 1850 में प्रकाशित हुआ। इस अनुवाद में विलसन ने सायण के भाष्य को प्रमाण माना।

(च) **प्रसिद्ध जर्मन विद्वान् ग्रासमान ने 1876–1877—** में रॉथ की पद्धति के अनुसार ऋग्वेद का जर्मन भाषा में पद्य में अनुवाद करके प्रकाशित कराया। (इसी क्रम में ग्रासमान ने 'वैदिक कोष' भी लिखा था, जिसमें प्रत्येक स्थल का उल्लेख करके शब्द-अर्थ का निर्णय किया गया है।)

(छ) **मेक्डानल (1854 ई.)**— पाश्चात्य समन्वयवादी विद्वानों में आर्थर एन्थोनी मेक्डानल की प्रामाणिकता उत्कृष्ट मानी जाती है। इनके पिता भारत में उच्च सेनाधिकारी थे। मेक्डानल की शिक्षा जर्मनी के गॉटिंगेन विश्वविद्यालय में हुई थी। मोनियर विलियम्स, बेन्फी, रॉथ तथा मैक्समूलर से इन्होंने शिक्षा प्राप्त की थी। लीपजीग विश्वविद्यालय से कात्यायन कृत 'सर्वानुक्रमणी' पर शोधकार्य करने से इन्हें पीएच्.डी. की उपाधि मिली थी। बाद में ऑक्सफोर्ड विश्वविद्यालय में ये संस्कृत के प्रोफेसर बने।

इनका समस्त कार्य वैदिक साहित्य पर ही केन्द्रित है। वैदिक धर्म (1880), वैदिक देवशास्त्र (1897), उषः सूक्तों का अनुवाद, बृहद्देवता का संस्करण तथा अनुवाद (दो खण्ड), तुलनात्मक धर्म पर व्याख्यान, संस्कृत-अंग्रेजी-कोश, संस्कृत साहित्य का इतिहास (1900), वैदिक व्याकरण के छोटे-बड़े दो संस्करण, वैदिक इन्डेक्स (1992), वैदिक रीडर (ऋक्सूक्तों की चयनिका) एवं भारत का अतीत (India's Past, Oxford, 1927) इनके प्रमुख ग्रंथ हैं। भारतीय विश्वविद्यालयों में इनके ग्रंथ किसी भी अन्य पाश्चात्य विद्वान् के ग्रंथों की अपेक्षा अधिक प्रचलित हैं।

(ज) **लुडविग (1837–1912 ई.)**— अल्फ्रेड लुडविग चेक-जाति के प्राच्यविद्याविद् थे। उन्होंने छह खण्डों में ऋग्वेद का जर्मन अनुवाद तथा टीका प्रस्तुत की, जो प्राग(Prague) से क्रमशः 1876 ई. से 1888 ई. तक प्रकाशित हुई। प्रथम दो खण्डों में ऋग्वेद का जर्मन गद्यानुवाद है, तृतीय खण्ड में इस अनुवाद की भूमिका है, चतुर्थ-पंचम खण्डों में अनुवाद-भाग और मूल ऋचाओं पर टीका है। षष्ठ खण्ड अनुक्रमणिका, विषय-सूची आदि के रूप में है। इस कृति में पाश्चात्य तथा पौरस्त्य मत का समन्वय अत्यधिक विद्वत्पूर्ण है। 1893 ई. में उन्होंने वैदिक साहित्य के क्षेत्र में उस समय तक सम्पन्न हुए समस्त कार्यों का आकलन करके एक ग्रंथ की भी रचना की थी।

(झ) **ओल्डनबर्ग (1854–1920 ई.)**— मैक्समूलर के समान ओल्डनबर्ग ने भी अनेक क्षेत्रों में काम किया है जैसे-बौद्ध साहित्य, वेद तथा सूत्रग्रंथ। मैक्समूलर द्वारा सम्पादित पवित्र प्राच्य ग्रंथमाला (Sacred Books of the East) के कई भागों में गृह्यसूत्रों तथा ऋग्वेद के अग्नि-सूक्तों का टिप्पणी-सहित अनुवाद इन्होंने ही किया। पुनः दो खण्डों में 'ऋग्वेद का पाठालोचन तथा टिप्पणी' नामक ग्रंथ जर्मन में लिखा, जिसमें ऋग्वेद के शब्द, व्याकरण तथा उच्चारण पर विस्तृत आलोचना है (प्रकाशन, 1909 तथा 1912)। दो खण्डों में 'वेद का धर्म' (Religion des Veda) लिखकर इन्होंने दिखाया कि कर्मकाण्ड को जानकर ही वैदिक धर्म का ज्ञान हो सकता है (प्रकाशन-1894 ई.)। ऋग्वेद के व्याख्याताओं में जर्मन विद्वान् डा. ओल्डनबर्ग का नाम भी बहुत प्रसिद्ध है। उन्होंने ऋग्वेद की मार्मिक व्याख्या (1909–12) की थी, जो दो जिल्दों में बर्लिन से प्रकाशित हुई थी। आपने इससे पहले ऋग्वेद के छन्द आदि पर भी विवेचनात्मक ग्रंथ लिखा था।

ओल्डनबर्ग का विश्वास था कि वैदिक धर्म अनिवार्यतया भारतीय धर्म है; इसका सम्बन्ध ईरानी (पारसी) धर्म से निकट का है किन्तु भारोपीय धार्मिक परम्पराओं से भी दूरवर्ती सम्बन्ध है। इनका ऋग्वेद-विषयक कार्य आज भी महत्त्व की दृष्टि से देखा जाता है।

(ञ) **गेल्डनर (1852–1929 ई.)**— कार्ल एफ. गेल्डनर का नाम जर्मन भारतीविद्याविदों में ऋग्वेद के अर्थानुशीलन की दृष्टि से अन्तिम प्रमाण के रूप में स्वीकृत है। रिचर्ड पिशल के साथ मिलकर इन्होंने 'वैदिक अध्ययन' (Vedische Studien) नामक ग्रंथ तीन खण्डों में लिखा। इसका प्रकाशन स्तुतगार्त से क्रमशः 1889, 92 तथा 1901 ई. में हुआ।

गेल्डनर ने ऋग्वेद-संहिता का जर्मन अनुवाद किया था, जो उनकी मृत्यु के बहुत बाद हार्वर्ड ओरियंटल सीरिज (सं. 33–35) में अमेरिका से 1951 ई. में प्रकाशित हुआ। इसकी अनुक्रमणिका 1957 ई. में एक पृथक् खण्ड के रूप में प्रकाशित हुई।

(ट) ग्रिफिथ (1889-92)– आर.टी.एच. ग्रिफिथ ने सायण के भाष्य के अनुसार ऋग्वेद का अंग्रेजी में पद्य में अनुवाद (1889-92) किया था, जो काशी से प्रकाशित हुआ।

इन विद्वानों के अतिरिक्त वेदों के पाश्चात्य व्याख्याताओं में डा. आर्नल्ड, बेबर, श्रीदर, क्लाएर, कीथ, स्टेवेन्सन, बर्नेल, विन्टरनिट्ज, हिवटनी, ब्लूमफील्ड, मैक्डानल, पीटर्सन आदि के नाम भी विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं।

1.4.4 सारांश

ऊपर के विवेचन से यह स्पष्ट है कि भारतीय साहित्य में वेदों का महत्त्व अत्यन्त प्राचीन काल से बना रहा है। ऋग्वेद सभी वेदों में प्राचीनतम है। यह मण्डलों या अष्टकों में विभाजित है। अति प्राचीन युग से भारतीय ऋषि, मनीषी, विद्वान् और समालोचक वेदों का महत्त्व स्वीकार करके इस पर व्याख्यायें लिखते रहे हैं। इनकी निरन्तरता अब भी बनी हुई है। आज भी अनेक भारतीय विद्वानों ने अपना जीवन वेदों की व्याख्याओं और शोध के लिये अर्पित किया हुआ है। वैदिक रिसर्च संस्थान एवं आर्यसमाज की अनेक संस्थाओं में वेदों पर कार्य हो रहा है। भारत से बाहर के भी अनेक विद्वान् वेदों की अलौकिक गरिमा से प्रभावित हुये और उन्होंने इसका अध्ययन-अनुशीलन करके समालोचनात्मक लेख लिखे। जर्मनी, फ्रांस, इंग्लैण्ड आदि देशों के विश्वविद्यालयों में वेदों के अध्ययन के सम्बन्ध में अब भी कार्य हो रहा है और निरन्तर अधिक रुचि भी उत्पन्न हो रही है।

1.4.5 अभ्यास प्रश्नावली

वस्तुनिष्ठ प्रश्न

प्रश्न-1. सर्वप्राचीन वेदभाष्यकार हैं—

- (अ) मैक्डोनल
- (ब) सायण
- (स) स्वामी दयानन्द
- (द) मैक्समूलर

प्रश्न-2. ऋषि दयानन्द ने वेद-व्याख्या में प्रतिपादित किया—

- (अ) बहुदेववाद
- (ब) प्रकृतिवाद
- (स) एकदेवतावाद
- (द) द्वैतवाद

प्रश्न-3. ऋग्वेद की आन्तरिक संरचना में मण्डलों की संख्या है—

- (अ) आठ

(ब) दस

(स) नौ

(द) सात

प्रश्न-4. वैदिक व्याकरण के लेखक पाश्चात्य विद्वान् हैं—

(अ) कोलब्रुक

(ब) रुडाल्फ रॉथ

(स) मेकडोनल

(द) ग्रिफिथ

लघूत्तरात्मक—प्रश्न

प्रश्न-1. वैदिक साहित्य के क्षेत्र में डा. विल्सन के योगदान पर प्रकाश डालें।

प्रश्न-2. मेकडोनल द्वारा वैदिक साहित्य के क्षेत्र में किये गये योगदान पर प्रकाश डालें।

प्रश्न-3. ऋग्वेद की आन्तरिक संरचना पर प्रकाश डालें।

निबन्धात्मक प्रश्न

प्रश्न-1. भारतीय विद्वानों/आचार्यों द्वारा वैदिक व्याख्या में किये गये योगदान पर एक लघु निबन्ध लिखें।

अथवा

वैदिक भाष्यकारों की परम्परा में स्वामी दयानन्द के योगदान का विवेचन करें।

अथवा

वैदिक साहित्य के क्षेत्र में अनेक प्रकारों से योगदान करने वाले किन्हीं दो विद्वानों पर परिचयात्मक निबन्ध लिखें।

अथवा

वैदिक संहिताओं में ऋग्वेद के स्वरूप व महत्त्व आदि पर एक लघु निबन्ध लिखें।

1.4.6 संदर्भ ग्रंथ—सूची

1. ऋक्सूक्त संग्रह : (डा. हरिदत्त शास्त्री), प्रका. साहित्य भण्डार, सुभाष बाजार, मेरठ-250002 (उ. प्र.)

2. संस्कृतसाहित्यविमर्शः (पं. द्विजेन्द्र नाथ शास्त्री), प्रका. गुरुकुल वृन्दावन शोध संस्थान, स्नातक सदन, ए-5/3, राणा प्रताप बाग, दिल्ली- 110007
3. वैदिक साहित्य और संस्कृति (डा. किरणकुमारी), द्वितीय भाग, प्रका. न्यू भारतीय बुक कार्पोरेशन, दिल्ली-110006
4. संस्कृत साहित्य का इतिहास (डा. उमाशंकर शर्मा 'ऋषि'), प्रका. चौखम्भा भारती अकादमी, वाराणसी-221001

1.5 ऋग्वैदिक मंत्रों के ऋषि व छन्द

संरचना

- 1.5.0 प्रस्तावना
- 1.5.1 उद्देश्य
- 1.5.2 ऋग्वेद के सूत्रों के ऋषि
- 1.5.3 वैदिक छन्द
- 1.5.4 पाठ्य ऋग्वेद सूक्तों के प्रमुख छन्द
- 1.5.5 छन्दों के उदाहरण
- 1.5.6 सारांश
- 1.5.7 अभ्यास प्रश्नावली

1.5.0 प्रस्तावना

ऋग्वेद छन्दोबद्ध रचना है। यास्क ने छन्द शब्द की रचना 'छद्' धातु से बताई है, जिसका अर्थ है, आवृत करना। अर्थात् छन्द वेदों के आवरण हैं। शब्दों को विशिष्ट आवरण में बांधे रखने वाले छन्द होते हैं। मंत्रों का पाठ और अर्थों का ज्ञान छन्दों के बिना नहीं होता। वेद मंत्रों को पढ़ते हुए ऋषि, देवता और छन्दों का जानना आवश्यक है। बृहदेवता में लिखा है—

अविदित्वा ऋषिञ्छन्दो दैवतं योगमेव च।

योऽध्यापयेज्जपेद्वापि पापीयान् जायते तु सः॥

अर्थात्, जो ऋषि, छन्द और देवता को एवं इनके विनियोग को जाने बिना वेद—मंत्रों का अध्ययन करता है, या जाप करता है, वह पापी होता है। अतः वैदिक मंत्रों के ऋषियों व छन्दों का परिचय आवश्यक है।

1.5.1 उद्देश्य

ऋग्वैदिक मंत्रों के अध्येताओं को, उन मंत्रों/सूक्तों के ऋषि व छन्द से परिचित कराना।

1.5.2 ऋग्वेद के सूक्तों के ऋषि

यास्क ने ऋषि का अर्थ किया है—‘ऋषिर्दर्शनात्’। अर्थात् मंत्रों के अर्थों का दर्शन करने वाले व्यक्ति को ऋषि कहा गया। ये ऋषि मंत्रों के रचयिता नहीं थे, अपितु इन ऋषियों ने सर्वप्रथम उन सूक्तों के अर्थों का दर्शन करके उनका लोक में प्रचार किया था।

ऋग्वेद के प्रत्येक सूक्त के अपने देवता, ऋषि और छन्द हैं। आधुनिक आलोचकों के अनुसार ये ऋषि मंत्रों के रचयिता थे। कुछ समालोचक ऋषियों के इन नामों को कुटुम्बवाची मानते हैं। ऋग्वेदमें मंडलों का संगठन ऋषियों की दृष्टि से किया गया था। इस दृष्टि से दूसरे मण्डल के गृत्समद, तीसरे मण्डल के विश्वामित्र, चौथे मण्डल के वामदेव, पांचवें मण्डल के अत्रि, छठे मण्डल के भारद्वाज, सातवें मण्डल के वसिष्ठ एवं आठवें मण्डल के कण्व एवं उनके वंशज ऋषि हैं।

पहले, नवें और दसवें मण्डलों के सूक्तों के ऋषि एक नहीं हैं, अपितु ये अनेक ऋषियों की रचनाएं हैं। नवम मण्डल को पवमान मंडल भी कहते हैं तथा इसमें केवल सोम विषयक सूक्तों का संग्रह है। इस दृष्टि से नवम मण्डल, पहले व दसवें मण्डल से अधिक संगठित है। इसलिए अनेक आलोचकों का विचार है कि ऋग्वेद में प्रारम्भ में, दूसरे से नवें मण्डल का ही भाग था तथा पहले और दसवें मण्डल बाद में जोड़े गये।

1.5.3 वैदिक छन्द

ऋग्वेद में मुख्य रूप से सात छन्दों का उपयोग किया गया है। इनको तीन वर्गों में विभक्त किया जा सकता है।

1. तीन पादों वाले छन्द — गायत्री और उष्णिक्।
2. चार पादों वाले छन्द — अनुष्टुप्, त्रिष्टुप्, बृहती और जगती।
3. पांच पादों वाला छन्द — पंक्ति

छन्द दो प्रकार के हैं—मात्रिक और वर्णिक। मात्रिक छन्दों में मात्राओं के अनुसार और वर्णिक छन्दों में वर्णों के अनुसार गणना की जाती है। वेदों में वर्णिक छन्दों का ही अधिक प्रयोग हुआ है।

ऊपर कहे सात छन्दों के प्रमुख लक्षण इस प्रकार हैं—

1. गायत्री— इसमें तीन पाद होते हैं और प्रत्येक पाद के आठ वर्ण होते हैं।
2. उष्णिक्— इसमें भी तीन पाद होते हैं। पहले और दूसरे पाद में 8—8 तथा तीसरे पाद में 12 वर्ण होते हैं।
3. अनुष्टुप्— यह चार पादों वाला छन्द है। प्रत्येक पाद में 8—8 वर्ण होते हैं। इस छन्द का प्रयोग वैदिक साहित्य के अतिरिक्त लोक में भी प्रचुर हुआ है।
4. त्रिष्टुप्— यह भी चार पादों का छन्द है। इसके प्रत्येक पाद में 11 वर्ण होते हैं। ऋग्वेद में इस छन्द का प्रयोग सबसे अधिक हुआ है।

5. बृहती— इस छन्द में भी चार पाद होते हैं। इसके पहले, दूसरे और तीसरे पाद में 8-8 वर्ण और चौथे पाद में 12 वर्ण होते हैं।
6. जगती— जगती छन्द भी चार पादों वाला है। इसके प्रत्येक पाद में 12 वर्ण होते हैं।
7. पंक्ति— यह पांच पादों का छन्द है। इसके प्रत्येक पाद में आठ वर्ण होते हैं। छन्दों में वर्णों की संख्या को निम्न तालिका में दिखलाया जा सकता है—

छन्दों में वर्णों की संख्या

क्र.सं.	छंद का नाम	प्रथम पाद	द्वितीय पाद	तृतीय पाद	चतुर्थ पाद	पंचम पाद	योग
1	गायत्री	8	8	8	X	X	= 24
2	उष्णिक्	8	8	12	X	X	= 28
3	अनुष्टुप्	8	8	8	8	X	= 32
4	त्रिष्टुप्	11	11	11	11	X	= 44
5	बृहती	8	8	8	12	X	= 36
6	जगती	12	12	12	12	X	= 48
7	पंक्ति	8	8	8	8	8	= 40

सामान्यतः इन सात छन्दों में ऊपर दिखाये वर्णों की संख्या रहती है। परन्तु ये वर्ण कम या अधिक भी हो सकते हैं। इससे उस छन्द के अवान्तर भेद हो जाते हैं। यदि छन्द में एक वर्ण कम हो तो उसे 'निचृत्' कहते हैं और दो वर्ण कम होने पर 'विराट्' कहते हैं। इसी प्रकार एक वर्ण अधिक होने पर उस छन्द को 'भूरिक' तथा दो वर्ण अधिक होते हैं तो 'स्वराट्' कहते हैं। उदाहरण के लिये गायत्री छन्द में 24 वर्ण होते हैं। यदि इसमें एक वर्ण कम हो अर्थात् 23 वर्ण होने पर यह 'निचृद् गायत्री' होगा। दो वर्ण कम होने पर, अर्थात् 22 वर्ण होने पर यह 'विराट् गायत्री' होगा। गायत्री छन्द में एक वर्ण अधिक होने पर अर्थात् 25 वर्ण होने पर छन्द 'भूरिगायत्री' कहलायेगा तथा दो वर्ण अधिक होने पर अर्थात् 26 वर्ण होने पर 'स्वराट्गायत्री' कहलायेगा।

कई बार किसी मंत्र में निर्धारित संख्या से एक वर्ण कम होता है। तब उसको नियम में बांधने के लिये एक वर्ण को दो वर्णों में परिणत कर देते हैं। वह पूर्ति प्रधानतः निम्न प्रकार से की जाती है—

(क) सन्धि युक्त पदों को पृथक् करके उच्चारण करना। यथा 'नोऽव' को 'नो अव' अथवा 'ब्रह्मावदतो' को 'ब्रह्म अवदतो' या 'अद्याद्या' को 'अद्य अद्या' उच्चारण करना।

(ख) ए, ओ, ऐ और औ को दो स्वरों में पृथक् करना। यथा 'ज्येष्ठ' को 'ज्ययिष्ठ' पढ़ना।

(ग) संयुक्त 'य' और 'व' से पहले 'इ' और 'उ' लगा देना। जैसे 'सोम्यं' को 'सोमियं', 'वरेण्यं' को 'वरेणियं' तथा 'स्वः' को 'सुवः' पढ़ना।

(घ) संयुक्त रेफ से पहले स्वर लगाना। यथा 'इन्द्र' का इन्द्र पढ़ना।

1.5.4 पाठ्य ऋग्वेद-सूक्तों के प्रमुख छन्द

पाठ्य ऋग्वेद-सूक्तों में प्रमुखतया चार छन्द प्रयुक्त हुए हैं— त्रिष्टुप्, गायत्री, अनुष्टुप् व जगती। उषस् सूक्त (4/51), वरुण सूक्त (7/86), हिरण्यगर्भ (प्रजापति) सूक्त (10/21), नासदीय सूक्त (10/129), इन्द्रसूक्त (2/12) व सूर्य सूक्त (1/115)— इनकी रचना त्रिष्टुप् छन्द में हुई है। अग्निसूक्त (1/1) की रचना गायत्री छन्द में हुई है। पुरुषसूक्त (10/90) में त्रिष्टुप् व अनुष्टुप्— इन दोनों छन्दों का प्रयोग है। वाक्सूक्त (10/125) की रचना जगती व त्रिष्टुप्— इन दोनों छंदों में है।

1.5.5 छन्दों के उदाहरण

(त्रिष्टुप् छन्द)

1. यो जात एव प्रथमो मनस्वान्,
देवो देवान्क्रतुना पर्यभूषत्।
यस्य शुष्माद्रोदसी अभ्यसेतां
नृम्णस्य महना स जनास इन्द्रः॥ (इन्द्रसूक्त)
उपर्युक्त मंत्र के चारों पादों में ग्यारह-ग्यारह वर्ण हैं, इसलिए यह त्रिष्टुप् छन्द में है।
2. चित्रं देवानामुदगादनीकं
चक्षुर्मित्रस्य वरुणस्याग्नेः।
आ प्रा द्यावापृथिवी अन्तरिक्षं
सूर्य आत्मा जगतस्तस्थुषश्च॥ (सूर्यसूक्त)
उपर्युक्त मंत्र के चारों पादों में 11-11 वर्ण हैं, अतः यह मंत्र त्रिष्टुप् छन्द में रचित है।

(गायत्री छन्द)

अग्निमीले पुरोहितं
यज्ञस्य देवमृत्विजम्।
होतारं रत्नधातमम्। (अग्निसूक्त)
उपर्युक्त मंत्र में तीन पाद हैं। प्रत्येक पाद में आठ-आठ वर्ण हैं। इसलिए यह गायत्री छन्द में रचित है।

(जगती छन्द)

हिरण्यपाणिः सविता विचर्षणि—
रुभे द्यावापृथिवी अन्तरीयते।

अपामीवा बाधते वेति सूर्यम्

अभि कृष्णेन रजसा दयामृणोति ।। (सवितृ सूक्त)

उपर्युक्त मंत्र के चार पाद हैं। प्रत्येक पाद में बारह-बारह वर्ण हैं, इसलिए यह जगती छन्द में है।

(अनुष्टुप्)

तस्माद् विराडजायत,

विराजो अधि पूरुषः ।

स जातो अत्यरिच्यत,

पश्चाद्भूमिमथो पुरः ।। (पुरुष सूक्त)

उपर्युक्त मात्र में चार पाद हैं। प्रत्येक पाद में 8-8 वर्ण हैं, इसलिए यह अनुष्टुप् छन्द में रचित है।

1.5.6 सारांश

वेद के सूक्तों में प्रत्येक के ऋषि, छन्द व देवता होते हैं। इनका ज्ञान करके ही वेद-मंत्रों का अध्ययन या जाप किया जाना औचित्यपूर्ण माना गया है। मंत्रों के द्रष्टा 'ऋषि' होते हैं। जिनकी स्तुति की जाती है या महिमा गाई जाती है, वे देवता हैं। मंत्रों की रचना मान्त्रिक या वर्णिक छन्द में की गई है। वर्णिक छन्दों में निर्धारित संख्या में पाद (चरण) व वर्ण होते हैं। गायत्री, त्रिष्टुप्, जगती व अनुष्टुप्—ये वर्णिक छन्द हैं। छन्दों से सम्बद्ध नियम-विशेष भी होते हैं, जिन्हें वर्णों की संख्या के निर्धारण में ध्यान में रखा जाता है।

1.5.7 अभ्यास प्रश्नावली

वस्तुनिष्ठ प्रश्न

प्रश्न-1. 'ऋषि' होते हैं—

- (अ) मंत्रद्रष्टा
- (ब) मंत्र-द्रष्टा
- (स) स्तुति योग्य
- (द) स्तुतिकर्ता

प्रश्न-2. गायत्री छन्द में होते हैं—

- (अ) 8 वर्णों वाले तीन पाद
- (ब) 8 वर्णों वाले चार पाद
- (स) 12 वर्णों वाले चार पाद
- (द) 11 वर्णों वाले चार पाद

प्रश्न-3. अनुष्टुप् छन्द में होते हैं—

- (अ) 8 वर्णों वाले चार पाद

- (ब) 11 वर्णों वाले तीन पाद
 (स) 12 वर्णों वाले तीन पाद
 (द) 8 वर्णों वाले तीन पाद

लघूत्तरात्मक प्रश्न

- प्रश्न-1. गायत्री छन्द सम्बन्धी नियम को सोदाहरण समझाएं।
 प्रश्न-2. अनुष्टुप् छन्द से सम्बन्धित नियम को सोदाहरण स्पष्ट करें।

निबन्धात्मक प्रश्न

- प्रश्न-1. वैदिक ऋषि व छन्द विषय पर एक लघु निबन्ध लिखें।
 प्रश्न-2. वैदिक छन्दोरचना पर एक लघु निबन्ध लिखें।

1.6 वैदिक देवता

संरचना

- 1.6.0 प्रस्तावना
- 1.6.1 उद्देश्य
- 1.6.2 इन्द्र देवता
- 1.6.3 अग्नि देवता
- 1.6.4 वरुण देवता
- 1.6.5 सूर्य देवता
- 1.6.6 उषा देवी
- 1.6.7 वाक् देवी
- 1.6.8 पुरुष देवता
- 1.6.9 हिरण्यगर्भ देवता
- 1.6.10 परमात्मा देवता (नासदीय सूक्त)
- 1.6.11 सारांश
- 1.6.12 अभ्यास प्रश्नावली

1.6.0 प्रस्तावना

वेद-अध्ययन व वैदिक अनुष्ठान में वैदिक मंत्रों के ऋषि व छन्द के ज्ञान के साथ-साथ 'देवता' का ज्ञान भी परमावश्यक माना गया है। ऋग्वेद के प्रत्येक सूक्त का एक अपना देवता है, जिसमें उस देवता की स्तुति की गई है। यास्क ने देवता का अर्थ किया है—“देवो दानाद् द्योतनाद् दीपनाद् वा”। पदार्थों को देने वाले, प्रकाशित होने वाले अथवा प्रकाशित करने वाले को देवता कहा जाता है। ऋग्वेद में देवताओं की कुल संख्या 33 है। यास्क ने देवताओं को तीन प्रकार का बताया है—पृथिवीस्थानीय, अन्तरिक्षस्थानीय और द्युस्थानीय। अनेक विद्वान् विभिन्न प्राकृतिक शक्तियों को देवता कहते हैं। कुछ आलोचकों ने अग्नि आदि देवतावाचक शब्दों का अर्थ परमेश्वर किया है तथा उसमें विभिन्न शक्तियों की कल्पना की है। बृहदेवता और निरुक्त में एक ही महादेवता परमात्मा को माना गया है। वैदिक सूक्तों के प्रमुख देवों में प्रमुखतया अग्नि, वरुण, इन्द्र, सूर्य, उषा, वाक्, हिरण्यगर्भ (प्रजापति), पुरुष एवं परमात्मा परिगणित हैं। इनमें प्रत्येक का संक्षिप्त परिचय प्रस्तुत किया जा रहा है।

1.6.1 उद्देश्य

ऋग्वैदिक मंत्र स्तुतिपरक हैं। जिनकी स्तुति की जाती है या जिनकी महिमा गाई जाती है, वे सम्बद्ध सूक्त के 'देवता' होते हैं। उनका संक्षिप्त परिचय या स्वरूप—महत्त्व आदि का अध्येताओं को परिचय कराना।

1.6.2 इन्द्र देवता

इन्द्र ऋग्वेद का सबसे महान् देवता है। इन्द्र की स्तुति 1027 सूक्तों में की गई है। अपने गुणों के कारण इन्द्र आर्यों का जातीय और राष्ट्रीय देवता बन गया तथा वह सभी देवों का राजा हुआ। ऋग्वेद की ऋचाओं के अनुसार इन्द्र के तीन विशेष गुण कहे गये हैं—महान् कार्यों के करने की शक्ति, अतुल पराक्रम और असुरों को युद्ध में जीतना।

प्रारम्भ में इन्द्र को विद्युत् का देवता माना गया था। यह वर्षा को रोकने वाले दैत्यों का संहार करता था और अन्धकार को दूर करता था। इन्द्र युद्ध का भी देवता है। वह आर्यों की रक्षा करता है और उनके शत्रुओं का वध करता है। ऋग्वेद में इन्द्र के सोमपान का वर्णन बहुत है। सोमपान से उसके अन्दर प्रचुर शक्ति का आविर्भाव होता है, तब वह बहुत बड़े-बड़े कार्य कर सकता है। उसके अन्दर वज्र को घुमाने और बिजली को गिराने की शक्ति है।

इन्द्र का प्रमुख शस्त्र वज्र था। त्वष्ठा ने इन्द्र के लिये वज्र बनाया था। ऋग्वेद के अनुसार इन्द्र पक्के मकानों में रहता था और हरे घोड़ों वाले सुनहरे रथ पर चढ़ता था। इसको देवताओं के शिल्पी ऋभुजों ने बनाया था।

इन्द्र का प्रमुख शत्रु वृत्र है। वह वर्षा रोकने वाला है। इन्द्र सोमपान करके और मरुतों की सहायता पाकर वृत्र पर आक्रमण करता है। इस युद्ध से द्युलोक और पृथ्वीलोक कांप उठते हैं, पहाड़ नष्ट हो जाते हैं तथा उनसे जल के झरने बहने लगते हैं। इन्द्र ने दैत्यों के पुरों को नष्ट करके पुरभित् उपाधि धारण की थी। यह मेघ रूपी पहाड़ों में निवास करने वाले दैत्यों को मार देता है और वहां से जल को इसी प्रकार से मुक्त करता है, जैसे कोई गायों को घेरे से मुक्त करता है।

इन्द्र बहुत पराक्रमी है। उसने हिलते हुए पहाड़ों को स्थिर करके उनकी रक्षा की और आकाश और पृथिवी को स्थिर किया तथा उनको फैलाया। इन्द्र अपने उपासकों की रक्षा करता है, सहायता करता है और उनको धन-धान्य से पूर्ण करता है, अतः वह मघवा कहलाता है। इन्द्र उषा के रथ को हिलाने वाला है। वह सूर्य के घोड़ों को रोक लेता है और सोम को जीत लेता है।

एक सूक्त के अनुसार एक बार पणियों ने गौओं को कैद कर लिया था। तब इन्द्र ने सरमा (देवशुनी) को दूत बनाकर भेजा था। सुदास के साथ इन्द्र के युद्ध का वर्णन भी मिलता है। इन्द्र कार्य करने में अत्यधिक शक्तिशाली, दुर्धर्ष, अथक लड़ने वाला, मनुष्यों की भलाई करने वाला, दान देने में उदार और प्रचुर सोमपान करने वाला है। वह संसार के सबसे बड़े राजा, विश्व के नियन्ता और धर्म एवं चरित्र के आदर्शों की स्थापना करने वाले वरुण की अपेक्षा भी महान् है। मनुष्य और देव उस की शक्ति का पार नहीं पा सकते। देवों में वह सबसे अधिक प्रसिद्ध और महान् है। अत्यधिक शक्तिशाली होने के कारण उसकी शक्र, शचीपति, शचीवान्, शतक्रतु आदि नामों से भी पुकारा गया।

वैदिक गाथाओं में इन्द्र और वृत्र प्रबल शत्रु बताये गये हैं। ऐतिहासिक दृष्टि के अनुसार वृत्र एक असुर है, जो वृष्टि का अवरोधक है। उसको मारने के लिये इन्द्र अपने वज्र को तीक्ष्ण करता है। इन्द्र का सम्बन्ध अन्य सभी देवताओं से किसी न किसी रूप में वेदों में कहा गया है।

ऋषि दयानन्द का कहना है कि इन्द्र की यह कल्पना धार्मिक जगत् की आलंकारिक कल्पना है। इन्द्र प्राण है और वरुण इन्द्रियां हैं। वह असुर रूपी आसुरी भावों को पराजित करता है। ऋग्वेद में स्वर्ण, रजत आदि कान्तिमान् पदार्थों को भी इन्द्र कहा गया है। इसीलिये निरुक्तकार यास्क कहते हैं—“या च का च बलकृतिः इन्द्रकर्मैव तत्” अर्थात् जो भी बल और दीप्ति के कार्य हैं, वे सब इन्द्र के कार्य हैं।

इन्द्र आर्यों का सबसे महान् देवता रहा। इसीलिये ऋग्वेद के लगभग चौथाई सूक्तों में इन्द्र की स्तुति है। इसकी प्रतिष्ठा आर्यों के जातीय और राष्ट्रीय देवता के रूप में प्राप्त हो चुकी थी।

1.6.3 अग्निदेवता

प्रभाव और विस्तार की दृष्टि से अग्नि को ऋग्वेद में दूसरा स्थान प्राप्त है। 200 सूक्तों में अग्नि की स्तुति की गई है। वैदिक मंत्रों में अग्नि की तीन प्रमुख विशेषताएं बताई गई हैं—(क) नेतृत्व शक्ति से

सम्पन्न होना, (ख) यज्ञ की आहुतियों को ग्रहण करना और (ग) तेज एवं प्रकाश का अधिष्ठाता होना। अग्नि को 'जातवेदाः' कहा गया है, अर्थात् वह ज्ञान का आगार है और उपासना करने वालों का कल्याण करता है। अग्नि की उपासना बहुत प्राचीन काल से चली आ रही है। भारत, फारस और ग्रीस में इसकी उपासना समान रूप से होती रही थी। मैक्डानल के अनुसार अग्नि नाम भारोपीय है। यह संस्कृत में 'अग' धातु और लैटिन में 'ag' धातु से निष्पन्न हुआ है (संस्कृत-अग्नि, लैटिन ignis, स्लोवानिक-Ogni)।

ऋग्वेद के मंत्रों में अग्नि का विशेष सम्बन्ध यज्ञ की अग्नि से है, अतः इसको घृतपृष्ठ (घी की पीठ वाला), रोचिषकेश (ज्वालाओं के बालों वाला), रक्तश्मश्रु (लाल दाढ़ी वाला), तीक्ष्णदंष्ट्र (तेज दांतों वाला) और रुक्मदन्त (स्वर्णिम दांतों वाला) कहा गया है।

अग्नि की जिह्वा द्वारा देवता हवियों का उपभोग करते हैं। दीप्यमान मूर्धा से, ज्वालाओं से, यह सब दिशाओं में विचरण करता है। यह देवताओं का मुख है। इसकी लपटें चम्पच हैं। इससे प्रार्थना की जाती है कि वह हव्य का भोजन करें। सोमरस का पान करने के लिये इसको बुलाया जाता है। इसका शरीर ज्योतिष्मान् है। यह पुरोहित है, यज्ञ का देव, ऋत्विक् है, नेता है, श्रेष्ठ रत्नों को धारण करने वाला है। यह सूर्य और बिजली के समान चमकता है। यह रात्रि में लुप्त होता है और अन्धकार को भगा देता है। इसका रास्ता काला है। जब यह जंगलों को जलाता है तो उन्हें उसी प्रकार साफ कर देता है, जैसे नाई दाढ़ी को। इसकी लपटों की ध्वनि समुद्र की गर्जनाओं के समान है। इसका लाल रंग का धुंआ आकाश तक उठता है और ऐसा प्रतीत होता है जैसे आकाश को थामने के लिये खम्मा हो। इसे धूमकेतु (धुंयें की पताका वाला) भी कहा गया है। इसका रथ सोने के समान चमकता है और दो या अधिक लाल घोड़ों द्वारा खींचा जाता है।

अग्नि की उपमा अनेक पशुओं से दी गई है। यह महान् शब्द करते हुये बैल के समान है। इसके सींग भी हैं, जिनको यह तेज करता है। उत्पन्न हुआ अग्नि बाल वत्स के समान है। यह देवताओं के वाहन के समान है जो यज्ञ को देवताओं तक ले जाता है। इसको आकाश में उड़ने वाले गरुड़ या श्येन के समान तथा जल में रहने वाले हंस के समान भी बताया गया है। लकड़ी या घी इसका भोजन है और पिघला मक्खन इसका पेय है। यह लकड़ी को इसी प्रकार आक्रान्त करता है, जैसे कोई पक्षी विटंक पर बैठता है।

अग्नि देवताओं को रथ पर बैठा कर यज्ञ भूमि में लाता है। वह द्यौस् का पुत्र है। उसको जल का पुत्र भी कहा गया है। इन्द्र और अग्नि जुड़वां भाई हैं। अग्नि सूखी अरणियों से उत्पन्न होता है, जो उसकी माता है। सूखी समिधाओं से उत्पन्न होने वाला अग्नि उत्पन्न होते ही अपने माता-पिता का वध कर देता है। अग्नि को दस कन्याओं से उत्पन्न भी कहा गया है। ये दस कन्यायें मनुष्य की दस

अंगुलियां हैं। इसको 'सहस् पुत्र' की कहा गया है, क्योंकि अग्नि को उत्पन्न करने के लिये मनुष्य को जोर लगाना पड़ता है। प्रातःकाल के समय अग्नि का बालरूप होता है।

अग्नि जल का गर्भरूप है और जल से उत्पन्न होता है। वह आकाश में भी उत्पन्न हुआ था और मातरिश्वा (वायु) के द्वारा पृथ्वी पर आया। सूर्य भी अग्नि का ही रूप है। अग्नि के दो स्थान बताये गये हैं—द्युलोक और पृथिवी लोक। वह मानवीय जीवन से अधिक सम्बन्ध रखता है, इसलिए इसको अतिथि और गृहपति भी कहा गया है। ऋग्वेद में अग्नि के महत्त्व को बहुत अधिक बताया गया है और इसकी सार्वभौम शक्तियों की प्रशंसा की गई है।

जिस प्रकार ऋतु और युद्ध के कार्यों का अधिष्ठाता इन्द्र है, उसी प्रकार आर्यों के गृह-कृत्यों का अधिष्ठाता अग्नि है। यह तेज का रूप है और घर के कार्यों को निष्पन्न कराता है। अग्नि तेज को प्रदान करता है तथा इन्द्र जल को। अग्नि को अनेक नामों से पुकारा जाता है—यविष्ठ्य (सदा युवा रहने वाला), मेध्य (सदा पवित्र रहने वाला), कविशस्त (कवियों द्वारा प्रशंसित), दमूना (घर का परम मित्र) आदि। अग्नि का जन्म तीनों स्थानों में कहा गया है—काष्ठों में, जल में और द्युलोक में। अग्नि को जल का पुत्र (अपांनपात्) कहा गया है। प्रातःकाल उषा के आगमन के साथ-साथ अग्नि का जन्म होता है और यह भूमि से उसी प्रकार उठता है, जैसे वृक्षों से पक्षी। यह घी के द्वारा हव्य का भक्षण करता है, अतः घृतजिह्व है। यह हव्यों को देवताओं तक पहुंचाता है, अतः हव्यवाहन है। सभी मनुष्य इसको चाहते हैं, अतः यह वैश्वानर है। सब इसकी स्तुति करते हैं, अतः यह नाराशंस है। यह यज्ञ का साधन है और भूत-प्रेतों-राक्षसों को भगाने वाला है तथा जादू को दूर करता है।

अग्नि आर्यों का प्रमुख देव है और उसके बिना कोई धार्मिक कृत्य सम्पन्न नहीं होता।

1.6.4 वरुण देवता

इन्द्र और अग्नि के बाद देवताओं में वरुण का महत्त्व है। ऋग्वेद में वरुण का मुख्य रूप शासक का है। वह विश्व का राजा या सम्राट् है, जो प्रशासन करता है तथा नियमों का संचालन करता है। वरुण जनता के पाप-पुण्यों तथा सत्य-असत्य का हिसाब रखता है। उसके गुप्तचर विश्वभर में घूमते रहते हैं। वरुण के पाश की महिमा का वेदों में बहुत अधिक वर्णन है। वह पाश पापियों को बांध लेता है, परन्तु जो पश्चात्ताप करते हैं, उनके प्रति वह दयालु हो जाता है। पाप कर्म को देखते ही वह क्रुद्ध हो जाता है और नियम भंग करने वालों को कठोर दण्ड देता है। परन्तु जो लोग भूल से गलती करते हैं या नियम भंग करने के बाद उसके प्रति आत्मसमर्पण करते हैं, उनको वह क्षमा कर देता है। वरुण सूक्तों में स्थान-स्थान पर पापों की क्षमा करने की प्रार्थना की गई है।

ऋग्वेद के वरुण सूक्तों में वरुण का बाह्य रूप उज्ज्वल बताया गया है। वहां उसके मुख, आंखों, भुजाओं और पैरों का वर्णन है। सूर्य उसके नेत्र हैं, जिनसे वह सबको देखता है। वह दूरदर्शी और हजारों आंखों वाला है। वह कुशा पर बैठता और सुनहरा चोगा पहनता है। उसका रथ सूर्य के

समान दीप्तिमान् है तथा उसमें घोड़े जुते हुए हैं। अपने प्रासाद में बैठा हुआ वह प्रशासन और नियन्त्रण करता है। उसके गुप्तचर विश्व भर में फैले रहते हैं। वरुण का एक दूत सुनहरे पंखों का है, जो वस्तुतः सूर्य है।

वरुण ब्रह्माण्ड का सम्राट् हैं। उसने स्वर्ग और पृथिवी लोक को अपनी शक्ति से धारण किया हुआ है। वह जनता से शारीरिक और चरित्रगत नियमों का पालन करवाता है। वरुण ने सूर्य की रचना की, अग्नि और जल का निर्माण किया तथा पर्वतों पर सोमवल्ली को उत्पन्न किया। वरुण रात्रि और दिन का अधिष्ठाता है। और जलों का नियमन करता है। वायु उसके आदेश में रहकर ध्वनि करती है, चन्द्रमा उसी के आदेश मानते हैं, नदियां उसकी आज्ञा से बहती हैं, समुद्र उसके नियंत्रण में रहकर वेला का उल्लंघन नहीं करता और मेघ उसके आदेश से बरस कर पृथ्वी को सींचते हैं। वह आकाश में उड़ने वाले पक्षियों की गति को पहचानता है, समुद्र में चलने वाले जहाजों को जानता है और कोई भी उसकी दृष्टि से ओझल नहीं है। वह अन्य सभी देवताओं से बढ़कर है। वह 'धृतव्रत' है अर्थात् संसार को नियमों में चलाने का व्रत धारण किये हुये हैं।

वरुण को वैदिक साहित्य में असुर भी कहा गया है, जिसका अर्थ है— असु=प्राण को, र=देने वाला। अर्थात् प्राणियों में प्राण शक्ति को संचरित करने वाला वरुण ही है।

1.6.5 सूर्य देवता

ऋग्वेद के वर्णनों के अनुसार लोकों को प्रकाशित करने वाले सूर्य ही सूर्य देवता हैं। इसलिये सूर्य देवता की स्तुति में भौतिक सूर्य की विशेषतायें वर्णित की गई हैं। सूर्य का चमकदार घेरा उपासकों के लिये विशेष आकर्षण है। सूर्य को मित्रावरुण का नेत्र कहा गया है। यह दूरद्रष्टा और सर्वद्रष्टा है। यह स्थावरों और जंगमों की आत्मा है और उन्हें गति प्रदान करता है। सूर्य के रथ में एक या सात घोड़े जुते होते हैं। इसके एक घोड़े का नाम एतग्व है और सात घोड़े हरित कहलाते हैं। सूर्य का पिता द्यौ और माता अदिति हैं। कहीं-कहीं उषा को इसकी माता तथा कहीं पत्नी भी कहा गया है। सूर्य को देवताओं ने ऊपर उठाकर द्युलोक का अधिष्ठाता बना दिया था। सूर्य को आकाश में उड़ने वाला पक्षी या अनेक रंगों वाला अश्व भी कहा गया है। यह बादलों में छिपा हुआ मित्रावरुण का आयुध और इन्द्र का पवि (वज्र) है। यह अन्धकार को दूर करता है और उसको कैंचुली के समान परे फैंक देता है। सूर्य शब्द की उत्पत्ति स्वः से हुई है, जिसका अर्थ है—प्रकाश।

1.6.6 उषा देवी

ऋग्वेद के 20 सूक्तों में उषा की स्तुति गाई गई है वह सौन्दर्य की देवी है, उसके उदय होने पर आकाश का कोना-कोना जगमगा जाता है तथा विश्व हर्ष के अतिरेक से भर जाता है। उषा सूर्य की प्रेयसी है। वह एक नर्तकी के समान सजी हुई और चमकीले वस्त्र पहने हुये पूर्व दिशा में अपना आकर्षक रूप प्रकट करती है। सूर्य एक रसिक युवक के समान उसका अनुगमन करता है।

उषा प्रकाश में स्नान करती हुई रात्रि रूपी नायिका की काली पोशाक को उतार कर फेंक देती है। वह युवती है और प्रतिदिन उत्पन्न होती है। उषा को पुराणी युवती कहा गया है अर्थात् अत्यन्त प्राचीन होते हुये भी वह नई नवेली युवती के समान सुन्दर दिखाई देती है। विभिन्न रंगों में चमकती हुई उषा मरणशील मनुष्यों को उद्बोधित करती है। उसके निकलते ही आकाश का कोना-कोना जगमगा जाता है तथा स्वर्ण-द्वार खुल जाता है।

उषा की किरणें पशुओं के झुण्ड के समान निकलती हैं और दुःस्वप्नों को, हानिकर भूत-प्रेतों को तथा दिशाओं के अंधकार को भगा देती हैं।

उषा प्रत्येक प्राणी को अपने कार्य में प्रवृत्त कर देती है। चिड़ियां आकाश में उड़ने लगती हैं और मनुष्य अपने कार्यों में लग जाते हैं। नियमों का पालन कराने में वह सदा तत्पर है। देवताओं के उपासकों को वह प्रातःकाल जगा देती है, उनको भजन में प्रवृत्त करती है और देवताओं को सोमपान में लगाती है।

उषा का रथ चमकदार है और उसमें लाल रंग के घोड़े जुते हैं, जिनसे वह खींचा जाता है। सूर्य की प्रातःकालीन किरणें घोड़े हैं। उषा का सूर्य के साथ घनिष्ठ सम्बन्ध है। वह सूर्य की प्रेयसी है तथा सूर्य एक रसिक युवक के समान उसके पीछे पीछे जाता है। कहीं कहीं सूर्य को उसका पुत्र भी बताया गया है। उस कान्तिमान् पुत्र को गोद में उठा कर वह उदित होती है।

कुछ स्थानों पर उषा को रात्रि की छोटी बहन भी कहा गया है तथा दोनों का साथ-साथ वर्णन है। आकाश में उत्पन्न होने के कारण उषा को स्वर्ग की पुत्री भी कहा गया है। उषा का अग्नि के साथ भी सम्बन्ध मिलता है। अग्नि उषा का प्रेमी है। जब उषा अग्नि को जलाती है, तब अग्नि उससे मिलने के लिये लपटों को ऊपर उठाता है। उषा का सम्बन्ध अश्विनीकुमारों से भी कहा गया है।

उषा अपने भक्तों को धन, पुत्र, यश आदि प्रदान करती है, अतः उसको 'मघोनी' भी कहा गया है। उषा शब्द की निष्पत्ति 'वस्' धातु से हुई है, जिसका अर्थ है-चमकना। उषा में ज्योतिष्मान् पदार्थ निवास करते हैं।

उषा वैदिक ऋषियों की प्रमुख देवी रही। अनेक याज्ञिक प्रक्रियाएं उषा के बिना निष्पन्न नहीं हो सकती थीं। यज्ञों में उषा का विशेष स्थान है। पौराणिक गाथाओं में उसका विशेष स्थान रहा। उषा का आगमन आर्यों में उत्साह और हर्ष की नवीन भावनाओं को भर देता था। उसका व्यक्तित्व किसी अन्य देवता से कम नहीं था। लौकिक कार्यों के साथ उसका विशेष सम्बन्ध रहा। अपनी शानदार चमक के लिये, नियमों का पालन कराने के लिये, निरन्तर उन्नति के लिये और भौतिक समृद्धि की प्राप्ति के लिये उषा की उपासना की जाती रही। वह सदाचार सम्बन्धी त्रुटियों को पूरा करती है और ऋत का वितरण करती है। इसलिये इसको ऋतावरी भी कहा जाता है। उषा को वर्ष की स्त्री और ऋतुओं की स्वामिनी भी कहा गया है।

वैदिक काव्यों में उषा की विशेष महिमा गाई गई। मघोनी, विश्ववारा, प्रचेता, सुभगा, रेवती आदि उसके विशेषण हैं। वह प्रकाश-पुंज का उसी प्रकार आवर्तन करती है, जैसे कोई पहिये को लुढ़काता है।

शतपथ ब्राह्मण की एक कथा के अनुसार काले रंग के एक दैत्य ने उषा को गुफा में बन्द कर दिया। देवताओं के बहुत खोजने पर भी उसका पता न लगा। अन्त में सूर्य ने उषा का उद्धार किया। इसका अभिप्राय है कि कालरात्रि रूपी राक्षस ने उषा को बन्द कर दिया और इन्द्र रूपी सूर्य ने उसको बन्धन से मुक्त किया।

1.6.7 वाक्देवी

ऋग्वेद में वाक् की वाणी की देवी के रूप में स्तुति की गई है। इसमें वे सभी विशेषतायें हैं जो वाणी में होती हैं। वाक् को ब्रह्म से उत्पन्न हुई एक महान् शक्ति के रूप में वर्णित किया गया है। सर्वानुक्रमणी के अनुसार वाक् के पिता का नाम ऋम्भण ऋषि था।

वाक् ब्रह्म का ही एक रूप है। वह देवताओं की प्रेरक है और उनको कर्तव्य के पालन में सहायता देती है। वह अपने भक्तों को अपने तेज से ऋषि, ब्राह्मण और विद्वान् बना देती है। वाणी की महत्ता को प्राप्त करने के लिये और वाक् शक्ति का विकास करने के लिये वाक् सूक्त का पाठ करना चाहिये। इस सूक्त में वाणी के प्रत्यक्ष और परोक्ष रूपों का वर्णन किया गया है।

1.6.8 पुरुष देवता

सृष्टि की उत्पत्ति के सम्बन्ध में ऋग्वेद में 6-7 सूक्त हैं। इनमें पुरुष सूक्त बहुत प्रसिद्ध है। इस सूक्त में सृष्टि के पदार्थों की रचना का वर्णन किया गया है।

सृष्टि का मूल रूप से रचना करने वाला पुरुष है, जिसके सभी अंग सृष्टि के विभिन्न अंग बन जाते हैं। सृष्टि की रचना एक यज्ञ का रूप है, जिसमें पुरुष की बलि दी जाती है।

इस सूक्त में विराट् पुरुष के स्वरूप का वर्णन किया गया है। 'भगवद्गीता' के 11वें अध्याय के विराट् पुरुष पर इसी सूक्त का प्रभाव पड़ा है। सांख्य दर्शन में पुरुष-बहुलता को भी सम्भवतः यहीं से लिया गया होगा। कुछ विद्वानों का मत है कि इस सूक्त की रचना कुछ अर्वाचीन है, क्योंकि इसमें एक परम पुरुष की उपासना की गई है और एकदेवतावाद का प्रतिपादन किया गया है।

यह विराट् पुरुष हजारों सिरों, आंखों और पैरों वाला है और उसने सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड को व्याप्त कर रखा है। वह भूत और भव्य का स्वामी है। उस पुरुष से ही ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र—ये चारों वर्ण उत्पन्न हुये; वसन्त आदि ऋतुयें उत्पन्न हुईं और ऋक्, यजुस् और साम उत्पन्न हुये। चारों वर्ण इस पुरुष के चार अंग हैं। सूर्य चक्षु है, वायु प्राण है, अग्नि मुख है और मन चन्द्रमा है। स्वर्ग या नरक की प्राप्ति इस पुरुष रूप यज्ञ द्वारा होती है। पुरुष सूक्त के अनुसार भौतिक जगत्—जैसे वृक्ष, पशु, तृण,

सूर्य, चन्द्र आदि की सृष्टि मनुष्य की सृष्टि से पहले हुई। इस पुरुष ने एक चरण से पृथिवी लोक की रचना की और तीन चरणों को ऊपर रखा।

ऋषियों द्वारा इस पुरुष यज्ञ का विस्तार हुआ था। इस सूक्त का रहस्य यही है कि आत्मज्ञान के द्वारा जीवन को सफल बनाना चाहिये।

1.6.9 हिरण्यगर्भ देवता

वेदों में पुरुष से हिरण्यगर्भ की उत्पत्ति प्रदर्शित की गई है। पुरुष में जो 'विराट्' उत्पन्न होता है वही हिरण्यगर्भ है। हिरण्यगर्भ को प्रजापति भी कहा गया है। पुराणों में इसी को ब्रह्मा कहा गया है।

हिरण्यगर्भ और प्रजापति कहीं तो पर्यायवाची हैं, कहीं हिरण्यगर्भ को प्रजापति से और कहीं प्रजापति से हिरण्यगर्भ को श्रेष्ठ बताया गया है। वास्तव में दोनों एक ही हैं। हिरण्यगर्भ सूक्त में इन दोनों की स्तुति की गई है।

सृष्टि के आदि में सबसे पहले हिरण्यगर्भ की सृष्टि हुई थी। यह उत्पन्न हुई सम्पूर्ण सृष्टि का स्वामी था। उसने इस पृथिवी और द्युलोक को धारण किया हुआ था और अपने तेज से अन्तरिक्ष में टिका हुआ था। देवलोक और पृथिवीलोक के प्राणी अपनी रक्षा के लिये उसी को पुकारते हैं। प्राण शक्ति को और बल को देने वाला वही है। हिरण्यगर्भ पर्वतों की ऊंचाई और समुद्रों की गहराई को जानता है। द्युलोक उसका सिर है तथा पृथिवी पैर है। हिरण्यगर्भ देवता कर्मफल का प्रदान करने वाला है। इसी हिरण्यगर्भ के आधार पर वेदान्त दर्शन के "सर्व खल्विदं ब्रह्म" सूक्त का विकास हुआ था।

हिरण्यगर्भ-सूक्त में 10 मंत्र हैं। 9 मंत्रों की समाप्ति "कस्मै देवाय हविषा विधेम" से हुई है तथा दसवें मंत्र "प्रजापते न त्वदेतानि" में इसका उत्तर दिया गया है।

1.6.10 परमात्मा देवता

ऋग्वेद के दशम मण्डल के एकादश अनुवाक में तेईस सूक्त पठित हैं। नासदीय सूक्त सात ऋचाओं वाला प्रथम सूक्त है। इसके ऋषि परमेष्ठी प्रजापति हैं तथा आकाशादि तत्त्वों के कर्त्ता परमात्मा देवता। इस सूक्त के सारे मंत्र त्रिष्टुप् छंद में हैं। सदसत् विवेचन से सम्बद्ध होने के कारण यह सूक्त नासदीय सूक्त कहलाता है अथवा सत् की प्रतिष्ठा एवं असत् की अभावावस्था का प्रतिपादक यह सूक्त नासदीय कहलाता है।

सृष्टि के पूर्व प्रलयावस्था में अवस्थित जो जगत् का मूलकारण था, वह असत् नहीं था, क्योंकि असत् से सदात्मक जगत् की उत्पत्ति कैसे हो सकती है? पूर्वावस्था में न तो सत् था न असत् ही अर्थात् न तो नामरूपात्मक अवस्था थी और न नामरूपादि रहित अवस्था, न लोक था न आकाश, उस समय न मृत्यु थी न अमृतत्व, रात्रि एवं दिन का भेदक ज्ञान भी नहीं था। मात्र सृष्टिकर्त्ता परमेश्वर वायु

के बिना भी अपनी इच्छा शक्ति से वर्तमान था, उससे पृथक् कुछ नहीं था। सर्वप्रथम काम इच्छा की उत्पत्ति हुई। तैत्तिरीय आरण्यक में आया है—

“सोऽकामयत बहुः स्यां प्रजायेयेति स तपोऽतप्यत ।

सतपस्तप्त्वेदं सर्वमसृजत यदिदं किंच ।।” तै.आ. 8/6

परमात्मा का कार्यजाल किरणों की तरह सम्पूर्ण सृष्टि में फैल गया। वह स्वयं सर्वत्र व्याप्त था। आकाशादि महाभूत उसी परमात्मा के परिणाम हैं। परमात्मा स्वयं भोक्ता था तथा सम्पूर्ण सृष्टि उसका भोग्य। जो इस विश्व का नियन्ता, अध्यक्ष है, वह सर्वोच्च आकाश अर्थात् स्वर्ग में अवस्थित है तथा वे ही विविध रूपात्मक सृष्टि को जानते हैं। इनके अतिरिक्त जानने वाला कोई दूसरा नहीं है।

सृष्टि की अवस्था, पूर्वावस्था या प्रलयावस्था तथा वर्तमान अवस्था परमात्मा की कामना का परिणाम है। सृष्टि सम्बन्धी विवेचन करने वाला यह सूक्त अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है।

1.6.11 सारांश

देवता अभीष्ट पदार्थों को देते हैं, प्रकाशित होते हैं और प्रकाशित भी करते हैं। ऋग्वेदिक सूक्तों में इनकी स्तुति है या महिमा गाई गई है। पृथ्वी, अन्तरिक्ष व द्यौः—इन तीन स्थानों से ये देव जुड़े होते हैं। कुछ व्याख्याकार देवतावाचक शब्दों को परमेश्वर का वाचक या विशेषण मानते हैं।

सभी देवों में इन्द्र को सर्वाधिक महत्त्व दिया गया है। राष्ट्रीय देवता के रूप में इन्हें प्रतिष्ठा दी गई है। इसके बाद अग्निदेवता को महत्त्व दिया गया है। समस्त गृह—कृत्यों का वह अधिष्ठाता है। यज्ञ में जिन पदार्थों की आहुति दी जाती है, उन्हें अग्नि देवताओं तक पहुंचाता है। वह भूत—प्रेतों को भगाता है। कोई भी धार्मिक कृत्य इसके बिना संभव नहीं होता।

इन दोनों देवताओं के बाद वरुण को महत्त्व दिया गया है। यह ब्रह्माण्ड का शासक है और जनता से चारित्रिक नियमों की पालना करवाता है। वह दूरदर्शी है। उसके गुप्तचर विश्व में फैले हुए रहते हैं। इसी क्रम में सूर्य देवता है। वह लोकों में प्रकाश फैलाता है। वह दूरद्रष्टा व सर्वद्रष्टा है। वह द्युलोक का अधिष्ठाता है। वह स्थावर व जंगम जगत् की आत्मा है और उन्हें गतिशील बनाता है।

उषा देवी सौन्दर्य की देवी है। वह लोकों को कार्यों में प्रवृत्त कराती है। वह रात्रि की छोटी बहिन है एवं स्वर्ग की पुत्री है। अग्नि उषा का प्रेमी है। उसका सम्बन्ध अश्विनीकुमारों से भी है। वह भौतिक समृद्धि व यश को देने वाली है। काल रात्रि ने इसे गुफा में कैद कर लिया था, किन्तु सूर्य ने उसे बन्धनमुक्त कराया था।

वाक् वाणी की देवी है। वह ब्रह्म से उत्पन्न एक महान् शक्ति है। वह देवताओं की भी प्रेरक है। पुरुष देवता को सृष्टि का रचयिता माना गया है। इसके विराट् रूप से भौतिक जगत् सूर्य—चन्द्रादि एवं ब्राह्मणादि वर्ण उत्पन्न हुए हैं। पुरुष देवता का विराट् रूप ही हिरण्यगर्भ देवता हैं। वास्तव में पुरुष व हिरण्यगर्भ एक ही हैं। नासदीय सूक्त का देवता है—परमपिता परमेश्वर देवता। वह भी आकाशादि तत्त्वों का कर्ता है।

इन देवताओं के अतिरिक्त, विष्णु, मरुत्, मित्र, रुद्र, यम, पर्जन्य, अपस्, अदिति, बृहस्पति, सरित् आदि देवता भी हैं।

1.6.12 अभ्यास प्रश्नावली

वस्तुनिष्ठ प्रश्न

प्रश्न-1. देवताओं में सर्वाधिक महत्त्व वाले देवता हैं—

- (अ) वरुण
- (ब) अग्नि
- (स) इन्द्र
- (द) वाक्

प्रश्न-2. मघवा' विशेषण वाले देवता हैं—

- (अ) सूर्य
- (ब) इन्द्र
- (स) अग्नि
- (द) पुरुष

लघूत्तरात्मक प्रश्न

प्रश्न-1. उषा देवी का स्वरूप बताइये।

प्रश्न-2. वाक्देवी के स्वरूप पर प्रकाश डालिये।

प्रश्न-3. नासदीय सूक्त के देवता कौन हैं, उनका स्वरूप क्या है?

निबन्धात्मक प्रश्न

प्रश्न-1. इन्द्र देवता के स्वरूप पर एक लघुनिबन्ध लिखें।

प्रश्न-2. अग्नि देवता के दैविक स्वरूप पर निबन्ध लिखें।

1.7 ऋग्वैदिक सूक्त

संरचना

1.7.0 प्रस्तावना

1.7.1 उद्देश्य

1.7.2 अग्निसूक्त

- 1.7.2.0 सूक्त-परिचय
 - 1.7.2.1 मूल पाठ व हिन्दी अर्थ
 - 1.7.2.2 सूक्तसार
 - 1.7.2.3 चयनित मंत्रों का पदच्छेद व सप्रसंग व्याख्या
- 1.7.3 उषस् सूक्त
 - 1.7.3.0 सूक्त परिचय
 - 1.7.3.1 मूल पाठ व हिन्दी अर्थ
 - 1.7.3.2 सूक्त सार
 - 1.7.3.3 चयनित मंत्रों का पदच्छेद व सप्रसंग व्याख्या
- 1.7.4 वरुण सूक्त
 - 1.7.4.0 सूक्त परिचय
 - 1.7.4.1 मूल पाठ व हिन्दी अर्थ
 - 1.7.4.2 सूक्तसार
 - 1.7.4.3 चयनित मंत्रों का पदच्छेद व सप्रसंग व्याख्या
- 1.7.5 वाक् सूक्त
 - 1.7.5.0 सूक्त परिचय
 - 1.7.5.1 मूलपाठ व हिन्दी अर्थ
 - 1.7.5.2 सूक्तसार
 - 1.7.5.2 चयनित मंत्रों का पदच्छेद व सप्रसंग व्याख्या
- 1.7.6 हिरण्यगर्भ (प्रजापति) सूक्त
 - 1.7.6.0 सूक्त परिचय
 - 1.7.6.1 मूल पाठ व हिन्दी अर्थ
 - 1.7.6.2 सूक्तसार
 - 1.7.6.3 चयनित मंत्रों का पदच्छेद व सप्रसंग व्याख्या
- 1.7.7 नासदीय सूक्त

1.7.7.0 सूक्त परिचय

1.7.7.1 मूल पाठ व हिन्दी अर्थ

1.7.7.2 सूक्तसार

1.7.7.3 चयनित मात्र का पदच्छेद व सप्रसंग व्याख्या

1.7.8. इन्द्र सूक्त

1.7.8.0 सूक्त-परिचय

1.7.8.1 मूल पाठ व हिन्दी अर्थ

1.7.8.2 सूक्तसार

1.7.8.3 चयनित मंत्र का पदच्छेद व सप्रसंग व्याख्या

1.7.9 पुरुष सूक्त

1.7.9.0 सूक्त-परिचय

1.7.9.1 मूल पाठ व हिन्दी अर्थ

1.7.9.2 सूक्तसार

1.7.9.3 चयनित मन्त्र का पदच्छेद व सप्रसंग व्याख्या

1.7.10 सूर्य सूक्त

1.7.10.0 सूक्त-परिचय

1.7.10.1 मूल पाठ व हिन्दी अर्थ

1.7.10.1 सूक्तसार

1.7.10.3 चयनित मंत्र का पदच्छेद व सप्रसंग व्याख्या

1.7.11 अभ्यास प्रश्नावली

1.7.0 प्रस्तावना

पिछले पाठों में वेद और उसकी संहिताओं, सूक्तों के देवों व छन्दोयोजना आदि का सामान्य परिचय दिया जा चुका है। अब ऋग्वेद के सूक्तों का अध्ययन कराया जाएगा। परीक्षा में पाठ्य रूप में नौ सूक्त निर्धारित हैं— अग्नि (1/1), उषस् (4/51), वरुण (7/86), वाक् (10/125), हिरण्यगर्भ (प्रजापति) (10/121), नासदीय (10/129), इन्द्र (2/12), पुरुष (10/10) व सूर्य सूक्त (1/115)। अब इनमें से प्रत्येक सूक्त का अध्ययन व विशेष परिचय कराया जाएगा।

1.7.1 उद्देश्य

1. प्रत्येक सूक्त के सामान्य परिचय के साथ, उसमें निहित हार्द को सार रूप में समझाना।
2. प्रत्येक सूक्त के मूलपाठ व हिन्दी अर्थ से अवगत कराना।
3. मंत्र के पदच्छेद व सप्रसंग व्याख्या के स्वरूप से अवगत कराना।
4. सभी सूक्तों के अन्त में अभ्यास प्रश्नावली के माध्यम से संभावित प्रश्नों से अवगत कराना।

1.7.2 अग्निसूक्त

1.7.2.0 सूक्त-परिचय

यह 'अग्निसूक्त' ऋग्वेद के प्रथम मण्डल का प्रथम सूक्त है। इसमें अग्नि देवता की स्तुति की गई है और इसके महनीय स्वरूप का भी निरूपण किया गया है। इसके ऋषि हैं—विश्वामित्र। इसके देवता 'अग्नि' हैं। यह गायत्री छन्द में रचित है।

1.7.2.1 मूल पाठ व हिन्दी अर्थ

1. अग्निमीळे पुरोहितं, यज्ञस्य देवमृत्विजम्।
होतारं रत्नधातमम्॥
2. अग्निः पूर्वेभिर्ऋषिभिरीड्यो नूतनैरुत।
स देवाँ एह वंक्षति॥
3. अग्निना रयिमश्नवत्, पोषमेव दिवे दिवे।
यशसं वीरवत्तमम्॥
4. अग्ने यं यज्ञमध्वरं, विश्वतः परिभूरसि।
स इद् देवेषु गच्छति॥
5. अग्निर्होता कविक्रतुः, सत्यश्चित्रश्रवस्तमः।
देवो देवेभिरा गमत्॥
6. सद्ङ्ग दाशुषे त्वमग्ने भद्रं करिष्यसि।
तवेत्तत्सत्यमङ्गिरः॥
7. उप त्वाग्ने दिवेदिवे, दोषावस्तर्धिया वयम्।
नमो भरन्तु एमसि॥
8. राजन्तमध्वराणां गोपामृतस्य दीदिविम्।
वर्धमानं स्वे दमे॥

9. स नः पितेव सूनवे, अग्ने सूपायनो भव ।

सचस्वा नः स्वस्तये ।।

हिन्दी अर्थ

1. यजमान की कामनाओं को पूरा करने वाले, यज्ञ के पुरोहित, दान आदि गुणों से सम्पन्न, देवताओं के ऋत्विक् और होता एवं रत्नों अर्थात् यज्ञ के फलस्वरूप प्राप्त होने वाले श्रेष्ठ पदार्थों को धारण करने वाले अग्नि देवता की, मैं विश्वामित्र ऋषि, स्तुति करता हूँ।
2. इस अग्नि देवता की प्राचीन भृगु, अंगिरा आदि ऋषियों द्वारा स्तुति की जाती है और अब नवीन हम विश्वामित्र आदि ऋषियों द्वारा भी उसकी स्तुति किया जाती है। वह इस यज्ञ में देवताओं को प्राप्त करावे।
3. स्तुति किये जाते हुये अग्नि से यह यजमान प्रतिदिन ही निरन्तर पोषण को प्राप्त होने वाले, पान आदि के द्वारा यश को प्राप्त होने वाले और पुत्र, भृत्य आदि वीरों से अत्यधिक युक्त धन को प्राप्त करता है।
4. हे अग्ने! तुम जिस हिंसा से रहित यज्ञ को सभी दिशाओं में प्राप्त कर रहे हो, वह ही यज्ञ देवताओं को भी तृप्ति के लिये प्राप्त होता है।
5. होम को निष्पन्न करने वाला, अतीत और अनागत यज्ञ आदि कर्मों को जानने वाला, मिथ्या से रहित अर्थात् निश्चय ही फलों को देने वाला, विविध प्रकार की कीर्ति से युक्त होता हुआ, दिव्य गुणों से सम्पन्न यह अग्नि देवता अन्य देवताओं के साथ इस यज्ञ में आवे।
6. हे अग्ने! जो भी तुम हवि का दान करने वाले यजमान के लिये धन, गृह, प्रजा, पशु आदि कल्याण करने वाले पदार्थ प्रदान करोगे, वे सब पदार्थ तुम्हारे ही हैं। हे अंगार रूपी अग्नि देवता! अथवा हे अंगिरा मुनि को जन्म देने वाले अग्नि देवता! यह बात सच ही है। इसमें कोई संशय नहीं है।
7. हे अग्नि देव! हम यज्ञ का अनुष्ठान करने वाले प्रतिदिन और दिन-रात उत्तम बुद्धि से नमस्कार करते हुये तुम्हारे समीप आते हैं।
8. (पूर्व मंत्र में जिस अग्नि को सम्बोधित किया गया है, उसके अन्य विशेषण कहे जाते हैं—) प्रकाशमान होते हुये, हिंसारहित यज्ञों के रक्षक, सत्य कर्मफलों को पुनः पुनः प्रकाशित करने वाले और अपने गृह यज्ञशाला में बढ़ने वाले (अग्नि के समीप हम जाते हैं, पहले श्लोक से अन्वित है)।
9. पहले मंत्रों में कहे गये गुणों से सम्पन्न हे अग्नि देव! जिस प्रकार पिता पुत्र के लिये सुप्राप्य और कल्याण करने वाला होता है, उसी प्रकार तुम भी हमारे लिये सुप्राप्य बनो और हमारे कल्याण के लिये हमारे संग रहो।

1.7.2.2 सूक्त सार

अग्निदेव स्तुति योग्य हैं, प्राचीन भृगु आदि ऋषियों ने और नवीन ऋषियों ने भी इनकी स्तुति की है। वे दाता के गुण से सम्पन्न हैं। वे यजमान को अभीष्ट पदार्थों, यज्ञ-कीर्ति, पुत्र-पौत्रादि, धन-वैभव प्रदान करते हैं। वे अंगिरा ऋषि के जन्मदाता भी हैं। अग्नि के माध्यम से अन्य देवों की तृप्ति होती है, अर्थात् यज्ञ में जिन पदार्थों की आहुति दी जाती है, वे पदार्थ अन्य देवों तक पहुंचते हैं। वे पिता की तरह सबका कल्याण करते हैं।

इस प्रकार, ऋग्वेद में लगभग 200 सूक्तों में 'अग्नि' की स्तुति है या उसकी महिमा का निरूपण है। संक्षेप में, वे तेज व प्रकाश के अधिष्ठाता हैं, यज्ञ की आहुतियों को ग्रहण कर देवताओं तक पहुंचाते हैं और यजमान के लिए अभीष्ट फल के दायक होते हैं।

1.7.2.3 चयनित मंत्रों का पदच्छेद व सप्रसंग व्याख्या

(उदाहरण-1)

मंत्र

अग्निः पूर्वभिर्ऋषिभिरीड्यो नूतनैरुत ।

स देवो एह वक्षति ।।

पदच्छेद (अन्वय)–

अग्निः पूर्वभिः ऋषिभिः ईड्यः उत नूतनैः । स इह देवान् आ वक्षति ।

प्रसंग–

यह मंत्र ऋग्वेद के अग्निसूक्त से लिया गया है, इसमें अग्नि देवता को स्तुति-योग्य बताया गया है।

व्याख्या–

अग्निः = अग्नि देवता, पूर्वभिः ऋषिभिः – पुरातन (भृगु, अंगिरा आदि) ऋषियों द्वारा, ईड्यः = स्तुति योग्य हैं), सः = वे अग्निदेव, इह = यहां, देवान् = देवों को, आवक्षति = प्राप्त करावें, ले आवें।

भाव यह है कि सभी ऋषियों ने उनकी स्तुति की है। वे देवों के साथ में लेकर उपस्थित हों।

(उदाहरण-2)

मंत्र

स नः पितेव सूनवे, अग्ने सूपायनो भव ।

सचस्वा नः स्वस्तये ।।

(पदच्छेद)

सः अग्ने! सूनवे पिता इव नः सूपायनः भव। न स्वस्तये सचस्व।

प्रसंग— यह मंत्र ऋग्वेद के अग्नि सूक्त से उद्धृत है। इसमें अग्नि देवता के स्वरूप या विशेषता को बताया गया है।

व्याख्या—

सः अग्ने! = हे अग्निदेव! **सूनवे** = पुत्र के लिए, **पिता इव** = पिता की तरह, **नः** = हमारे लिए, **सूपायनः भव** = सुप्राप्य, सहज सुलभ या कल्याणकारी, **भव** = हों। **नः** = हमारे; **स्वस्तये** = कल्याण के लिए, **सचस्व** = साथ में रहें।

भाव यह है कि जैसे पिता पुत्र के लिए कल्याणकारी होता है, वैसे ही अग्निदेव! आप हमारे लिए सहज सुलभ बनें और कल्याण करते रहें।

1.7.3 उषस् सूक्त**1.7.3.0 सूक्त-परिचय**

ऋग्वेद का यह सूक्त (4/51) है। इसमें उषा देवी की स्तुति की गई है और उसके स्वरूप को उजागर किया गया है। इसके ऋषि हैं—वामदेव। इसकी रचना त्रिष्टुप् छन्द में की गई है।

1.7.3.1 मूल पाठ व हिन्दी अर्थ

1. इदमु त्यत्पुरुतमं पुरस्ताज्ज्योतिस्तमसो वयुनावदस्थात्।
नूनं दिवो दुहितरो विभातीर्गातुं कृणवन्नुषसो जनाय।
2. अस्थुरु चित्रा उषसः पुरस्तान्मिता इव स्वरवोऽध्वरेषु।
व्यू व्रजस्य तमसो द्वारोच्छन्तीरव्रज्छुचयः पावकाः॥
3. उच्छन्तीरद्य चितयन्त भोजान्नाधोदेयायोषसो मघोनीः।
अचित्रे अन्तः पणयः। ससन्त्वबुध्यमानास्तमसो विमध्ये॥
4. कुवित्स देवीः सनयो नवो वा यामो बभूयादुषसो वो अद्य।
येना नवग्वे अङ्गिरे दशग्वे सप्तास्ये रेवती रेवदूष॥
5. यूयं हि देवीर्ऋतयुग्भिरश्वैः परिप्रयाथ भुवनानि सद्यः।
प्रबोधयन्तीरुषसः ससन्तं द्विपाच्चतुष्पाच्चरथाय जीवम्॥
6. क्व सिंदासां कतमा पुराणी यया विधाना विदधुर्ऋभूणाम्।
शुभं यच्छुभ्रा उषसश्चरन्ति न वि ज्ञायन्ते सदृशीरजुर्याः।

7. ता घा ता भद्रा उषसः पुरासुरभिष्टिद्युम्ना ऋतजातसत्याः ।
यास्वीजानः शशमान उक्थैः स्तुवन्नसन्द्रविणं सद्य आप ॥
8. ता आ चरन्ति समना पुरस्तात् समानतः समना पप्रथानाः ।
ऋतस्य देवीः सदसो बुधाना गवां न सर्गा उषसो जरन्ते ॥
9. त इन्वेष्टव समना समानीरमीतवर्णा उषसश्चरन्ति ।
गूहन्तीरभ्वमसितं रुशदिभः शुक्रास्तनूभिः शुचयो रुचानाः ॥
10. रयिं दिवो दुहितरो विभातीः प्रजावन्तं यच्छतास्मासु देवीः ।
स्योनादा वः प्रतिबुध्यमानाः सुवीर्यस्य पतयः स्याम ॥
11. तद्वो दिवो दुहितरो विभातीरुप ब्रुव उषसो यज्ञकेतुः ।
वयं स्याम यशसो जनेषु तद्द्यौश्च धत्तां पृथिवी च देवी ॥

हिन्दी अर्थ—

1. सामने दिखाई देने वाली वह अत्यधिक प्रकाशमान प्रकृष्ट कान्ति अथवा प्रज्ञा से युक्त ज्योति पूर्व दिशा में अन्धकार में से निकली है। निश्चय से प्रकाश करने वाली द्युलोक की पुत्रियां उषायें स्तुति करने वाले यजमानों के लिये गमन आदि क्रियाओं के सामर्थ्य को उत्पन्न कर चुकी हैं।
2. प्रशंसनीय या सुन्दर उषायें उसी प्रकार से पूर्व दिशा में स्थित हैं, जिस प्रकार यज्ञों में गाड़े गये यूप प्रकाशित होते हैं। आवृत करने वाले अन्धकार के द्वारों को हटाती हुई दीप्तिमान पवित्र करने वाली उन उषाओं ने मार्गों को खोल दिया है।
3. आज इस दिन अन्धकार को हटा देने वाली उषायें धनसम्पन्न कराने वाले या भोजन कराने वाले अपने उपासकों को सोम आदि धन देने के लिए विचार कर रही हैं या ज्ञान करा रही हैं। अपूजनीय या कुरूप प्रगाढ अन्धकार के अन्दर के अज्ञानी तथा दान न देने वाले कंजूस पणि सोते रहें।
4. हे दीप्तिमती उषाओं! तुम्हारा पुराना या नया जाने का साधनभूत वह रथ आज इस यज्ञ के दिन बहुत बार होवे अर्थात् उस रथ से तुम बहुत बार आओ। इस रथ के द्वारा, हे धन से सम्पन्न उषाओं! तुम नौ घोड़ों द्वारा जाने वाले, दस घोड़ों द्वारा जाने वाले सात छन्द रूप मुखों वाले अंगिराओं में, जिस प्रकार से धन की प्राप्ति हो, उस प्रकार से चमको अर्थात् अन्धकार को नष्ट करो।
5. हे दीप्तिमती उषाओं! तुम निश्चय ही यज्ञ की ओर जाने वाले घोड़ों से, सोते हुए दोपायों (मनुष्य आदि जीवों), चौपायों (गाय आदि जीवों) को गमन आदि व्यापार करने के लिये जगाती हुई अतिशीघ्र भुवनों के चारों ओर प्रकृष्ट रूप से जाती हो।
6. उन उषाओं के मध्य कौन सी कहां पर ऐसी है, जो पुरानी हो तथा जिससे ऋभु नामक उषा के उपासकों के चमस आदि साधन स्वयं बनाये गये। जो उषायें चमकती हुई शोभा को उत्पन्न करती हैं, वे क्योंकि एक सी दिखाई पड़ती हैं, अतः वे नवीन नहीं प्रतीत होती हैं।

7. वे प्रसिद्ध उषायें उपकार करने वाली हैं। वे कल्याणकारी उषायें पहले थीं। वे अपने पहुंचने मात्र से धनों को देने वाली हैं, जिस यज्ञ के लिये उत्पन्न हुई हैं और सत्य रूप से फल देने वाली हैं। जिन उषाओं के प्रति यज्ञ करने वाला, स्रोत या ऋचाओं से प्रशंसा करने वाला, सामगान से स्तुति करने वाला और मंत्रों का गान करने वाला यजमान धन को शीघ्र प्राप्त कर लेता है।
8. वे उषायें सब ओर समान रूप से विचरण करती हैं। पूर्व दिशा में अन्तरिक्ष रूप स्थान से चारों ओर से विस्तृत होती हुई यज्ञ को और वेदी में स्थापित हवि आदि को जतलाती हुई इन दीप्तिमान उषाओं की उसी प्रकार स्तुति की जाती है, जिस प्रकार जलों या किरणों की सृष्टियों की स्तुति की जाती है।
9. वे ही उषायें निश्चय से समान होती हुई, एक से रूप वाली, जिनका रूप नष्ट नहीं हुआ है, ऐसी अववा अपरिमित रूपों वाली, महान् काले रूप को अर्थात् रात्रि के अन्धकार को छिपाती हुई, दीप्तिमान् शरीर को चमकाती हुई, पवित्र और प्रकाशित होती हुई विचरण कर रही है।
10. प्रकाशित होने वाली प्रकाशमान सूर्य की पुत्रियों! हे उषाओं! हमें पुत्र आदि से युक्त धन को प्रदान करो। हे दीप्तिशालिनी उषाओं! आपके द्वारा सुख से प्रतिबोधित होते हुये हम पुत्र आदि रूप उत्तम धन के पालक या स्वामी होवें।
11. विशेष प्रकार से प्रकाशमान होती हुई हे सूर्य की पुत्री रूप उषाओं! यज्ञ से ज्ञान प्राप्त करने वाला मैं तुम्हें उसको (इस मन्त्र से प्राप्त होने वाले फल को), समीप आकर कहता हूं। मनुष्यों में हम कीर्ति या अन्न को प्राप्त करें। उसे द्युलोक और पृथिवी देवी हमें धारण करावें।

1.7.3.2 सूक्तसार

सौन्दर्य व प्रकाश की अनेक देवियों का समूह उषाएं हैं। वे द्युलोक या सूर्य की पुत्रियां हैं। वे सभी एक जैसी दिखाई देती हैं। उनका रूप अपरिमेय हैं। अपने दीप्तिमान् शरीर को चमकाती हुई वे विचरण करती हैं। वे स्तुतिकर्ता यजमानों को गमनागमन की सामर्थ्य प्रदान करती हैं। अपने दिव्य प्रकाश से मार्गों को वे उद्घाटित करती हैं। वे अपने दिव्य रथ पर आरूढ़ होकर दोपाये व चौपाये प्राणियों को गतिशील बनाती हैं। वे कल्याणकारिणी हैं। जो यजमान इनके लिए यज्ञ करते हैं, स्तुति करते हैं, मन्त्र-गान करते हैं, उन्हें शीघ्र धन की प्राप्ति होती है। अन्त में स्तुतिकर्ता ने कीर्ति व अन्न आदि धन प्राप्त कराने की प्रार्थना इनसे की है।

1.7.3.3 चयनित मंत्रों का पदच्छेद व सप्रसंग व्याख्या

(उदाहरण-1)

मंत्र

कुवित्स देवीः सनयो नवो वा यामो बभूयादुषसो वो अद्य।

येना नवगवे अङ्गिरे दशगवे सप्तास्ये रेवती रेवदूष॥

पदच्छेद (अन्वय)

देवी: उषसः वः सनयः नवः वा यामः सः अद्य कुवित् बभूयात्। येन रेवतीः नवग्वे दशग्वे सप्तास्ये अंगिरे रेवत् ऊष।

प्रसंग-

यह मंत्र ऋग्वेद के उषःसूक्त से लिया गया है। इसमें स्तुतिकार ने उषा देवियों से अन्धकार-नाश और धन-प्राप्ति हेतु प्रार्थना की है।

व्याख्या

देवी उषसः = हे दीप्तिमती उषा देवियों!, वः = तुम्हारा, सनयः = पुराना, नवः वा = या नया, यामः = (जो) रथ है, सः = वह, अद्य = आज, कुवित् = बार बार, बभूयात् = हो, या आता रहे। येन रथेन = जिस रथ से, रेवतीः = धनसम्पन्न, नवम्वे = नौ घोड़ों द्वारा जाने वाले, दशग्वे = या दश घोड़ों द्वारा जाने वाले, सप्तास्ये = सात (छन्द रूप) मुखों वाले, अंगिरे = अंगिराओं में अर्थात् अंगिरानामक मनुष्य-समुदाय में, रेवत् = धनसम्पन्नता हो, इस प्रकार ऊष = चमको।

भाव यह है कि स्तुतिकार यह चाहता है कि उषा देवियां, नये या पुराने रथ से बार-बार आवें। वे इस प्रकार चमकें कि धन की प्राप्ति हो और अंधकार को भी वे नष्ट करें।

(उदाहरण-2)

मंत्र

ता घा ता भद्रा उषसः पुरासुरभिष्टिद्युम्ना ऋतजातसत्याः।

यास्वीजानः शशमान उक्थैः स्तुवञ्छसन्द्रविणं सद्य आप॥

पदच्छेद (अन्वय)

ताः घ ताः भद्राः उषसः पुरा आसुः। अभिष्टिद्युम्नाः ऋतजातसत्याः। यासु ईजानः उक्थैः शशमानः स्तुवन् शसन् द्रविणम् सद्यः आप।

प्रसंग

यह मंत्र ऋग्वेद के उषः सूक्त से लिया गया है। इसमें उषा देवी के स्वरूप एवं विशेषता को रेखांकित किया गया है।

व्याख्या

ताः घ उषसः- वे उषा देवियां प्रसिद्ध हैं, ख्याति प्राप्त हैं। ताः पुरा भद्राः आसुः = वे पहले उपकारकारिणी थीं। अभिष्टिद्युम्ना = वे पहुंचने मात्र से धन देने वाली हैं, ऋतजातसत्याः - यज्ञ के

लिए वे उत्पन्न हुई हैं और सत्य से (निश्चय ही) फल देने वाली हैं, यासु= जिन उषाओं में, ईजानः = यज्ञ करने वाला, शशमानः = प्रशंसा करने वाला, उक्थैः = स्तोत्रों व ऋचाओं से, स्तुवन् = स्तुति करने वाला, शंसन् = मंत्रों का गान करने वाला, द्रविणं = धन को, सद्यः = शीघ्र, आप= प्राप्त करता है।

भाव यह है कि उषा देवियां सदा से उपकार करती आई हैं। उनका आगमन ही धन प्रदान करता है। जो उनकी स्तुति, मंत्र-गान, प्रशंसा व यज्ञानुष्ठान करता है, उसे धनसंपत्ति व वैभव की प्राप्ति हो जाती है।

1.7.4 वरुण सूक्त

1.7.4.0 सूक्त-परिचय

यह वरुण सूक्त ऋग्वेद का है। यह सातवें मण्डलका 86वां सूक्त है। उन्हीं की स्तुति इसमें की गई है और सब देवताओं में अग्नि की महनीयता का निरूपण भी है। इसके ऋषि हैं-वशिष्ठ। इसके देवता वरुण हैं। यह त्रिष्टुप् छन्द में रचित है।

1.7.4.1 मूल पाठ व हिन्दी अर्थ

1. धीरा त्वस्व महिना जनूंषि वि यस्तस्तम्भ रोदसी चिदुर्वी।
प्र नाकमृष्वं नुनुदे बृहन्तं द्विता नक्षत्रं पप्रथच्च भूम॥
2. उत स्वया तन्वा३ सं वदे तत् कदा न्व१न्तर्वरुणे भुवानि।
किं मे हव्यमहृणानो जुषेत कदा मृळीकं सुमना अभि ख्यम्।
3. पृच्छे तदेनो वरुण दिदृक्षूपो एमि चिकितुषो विपृच्छम्।
समानमिन्मे कवयश्चिदाहुरयं ह तुभ्यं वरुणो हृणीते॥
4. किमाग आस वरुण ज्येष्ठं यत्स्तोतारं जिघांससि सखायम्।
प्र तन्मे वोचो दूळभ स्वधावोऽव त्वानेना नमसा तुर इयाम्॥
5. अव द्रुग्धानि पित्र्यां सृजा नोऽव या वयं चकृमा तनूभिः।
अव राजन्पशुतृपं न तायुं सृजा वत्सं न दाम्नो वसिष्ठम्॥
6. न स स्वो दक्षो वरुण ध्रुतिः सा सुरा मन्युर्विभीदको अचित्तिः।
अस्ति ज्यायान्कनीयस उपारे स्वप्नश्चनेदनृतस्य प्रयोता॥
7. अरं दासो न मीळहुषे कराण्यहं देवाय भूर्येऽनागाः।
अचेतयदचितो देवो अर्यो गृत्सं राये कवितरो जुनाति॥
8. अयं सु तुभ्यं वरुण स्वधावो हृदि स्तोम उपश्रितश्चिदस्तु।
शं नः क्षमे शमु योगे नो अस्तु यूयं पात स्वस्तिभिः सदा नः।

हिन्दी अर्थ

1. इस वरुण की महिमा से जन्म लेने वाले प्राणी शीघ्र धैर्यशाली बन जाते हैं, जो वरुण विस्तीर्ण द्युलोक और पृथिवी लोक को भी विविध प्रकार से धारण किये हुये हैं और जिस वरुण ने महान् स्वर्ग लोक को या आदित्य को एवं नक्षत्रों को दर्शनीय रूप से दो प्रकार से प्रेरित किया है, तथा जिसने भूमि को विस्तृत बनाया है।
2. वरुण की स्तुति करता हुआ ऋषि इस प्रकार कह रहा है कि क्या मैं अपने शरीर के साथ बातचीत करूँ अथवा उस वरुण के साथ बातचीत करूँ? क्रुद्ध न होता हुआ वरुण मेरे स्तोत्र या हवि का क्या सेवन करेगा? प्रसन्न मन वाला होता हुआ मैं किस समय सुख देने वाले वरुण को देखूँगा।
3. हे वरुण! तुमको देखने की इच्छा वाले अथवा मैंने कौनसा पाप किया है, जिसके कारण तुमने मुझको अपने पाशों से बांधा उस पाप को जानने की इच्छा वाला मैं तुमसे उस पाप के विषय में पूछता हूँ। उस पाप के सम्बन्ध में विविध प्रकार से पूछने के लिये मैं विद्वानों के समीप जाता हूँ। उन क्रान्तदर्शी विद्वानों ने मुझको समान रूप से ही बताया कि हे स्तोता! निश्चय से यह वरुण ही तुझ पर कुपित है।
4. हे वरुण देवता! मेरा कौनसा बड़ा पाप था, जिसके कारण तुम मित्र होते हुये मुझे और स्तुति करते हुये भी मुझको मारना चाहते हो। हे शत्रुओं द्वारा अधृष्य एवं तेजस्वी वरुण! उस पाप के सम्बन्ध में मुझे बताओ, जिससे कि उस पाप का प्रायश्चित्त करके पाप से रहित होकर मैं शीघ्र ही नमस्कार या हवि द्वारा तुम्हारे पास आ सकूँ या तुम को प्राप्त कर सकूँ।
5. हे वरुण! पिता आदि पूर्वजों के समय से किये गये हमारे द्रोह आदि पापों को छोड़ दो अर्थात् क्षमा कर दो। हमने अपने इन वर्तमान शरीरों द्वारा जो द्रोह किये हैं, उनको भी क्षमा कर दो। हे प्रकाशमान या सबके स्वामी वरुण! पहले पशुओं को चुरा कर फिर प्रायश्चित्त कर घास आदि द्वारा पशुओं को तृप्त करने वाले चोर के समान और रस्सी से बंधे हुये बछड़े के समान, वसिष्ठ को अथवा धनों को वश में रखने वाले मुझ को पाप से छुड़ा दो अर्थात् क्षमा कर दो।
6. हे वरुण! मनुष्य का वह अपना बल पाप की ओर प्रवृत्ति में कारण नहीं होता, किन्तु ध्रुति अर्थात् उत्पत्ति के समय उत्पन्न हुई देवगति ही उस पाप की कारण होती है। वह ध्रुति सुरा अर्थात् उन्मादक पदार्थों से होती है, क्रोध से होती है, जुये से होती है और अज्ञान से होती है। अल्प शक्ति वाले या साधनहीन मनुष्य के पाप की प्रवृत्ति के निकट आने पर उससे बड़ा या ईश्वर जो उसके पास है, उसको पाप में प्रवृत्त कराता है या उसकी रक्षा करता है। स्वप्न भी अर्थात् मानसिक भावनायें भी पाप की प्रयोक्ता होती हैं।

7. सींचने वाले अर्थात् कामनाओं को पूरा करने वाले, जगत् का भरण-पोषण करने वाले और दान आदि दिव्य गुणों से युक्त वरुण देवता की मैं निष्पाप होता हुआ बहुत अधिक सेवा उसी प्रकार से करता हूँ, जिस प्रकार एक दास अपने स्वामी की सेवा करता है। सबका स्वामी वह वरुण देव हम अज्ञानी उपासकों को ज्ञान प्रदान करे। बहुत अधिक ज्ञानी वह वरुण अपनी स्तुति करने वाले को धन के लिए प्रेरित करे अर्थात् उसको धन प्रदान करे।

1.7.4.2 सूक्तसार

वरुण देव का स्वरूप शासक-प्रशासक का है। वे पापियों को दण्ड भी देते हैं और पश्चात्ताप व आत्मसमर्पण करने वालों को क्षमा भी करते हैं। सूक्त में बताया गया है कि द्युलोक, पृथ्वी लोक व स्वर्गलोक आदि जो टिके हुए हैं, उसके पीछे वरुण देव की ही महिमा है। स्तुतिकार की भावना है कि वह वरुण देव के अन्तःकरण में अपनी जगह बना ले और वरुण देव का दर्शन कर सके। स्तुतिकार कहता है कि न जाने मैंने कौनसा अपराध किया है कि वरुण देव मुझ पर कुपित हैं और मुझे अपने पाशों में बांध रखा है। हे वरुण देव! मेरे अपराध क्या हैं—यह बताएं ताकि प्रायश्चित्त कर, निष्पाप हो सकूँ और आपके निकट आ सकूँ। मैंने अपने पूर्वजों के प्रति जो अपराध किये हैं, उन्हें आप क्षमा कर दें। उन्मादक पदार्थों के सेवन से, क्रोध से, जुआ खेलने से, अज्ञान से पाप हो जाते हैं। मानसिक भाव भी पाप के कारण बनते हैं।

वरुण देव सभी कामनाओं को पूरा करते हैं। वे जगत् का पोषण भी करते हैं। दाता आदि के गुण भी उनमें हैं। स्तुतिकार कहता है कि मैं तो उनका दासवत् सेवक हूँ। वे वरुण देव अपने उपासकों को ज्ञान प्रदान करे और स्तुति करने वाले को धन दें।

अन्त में स्तुतिकार की प्रार्थना है—हे वरुण देव! हमें जो पदार्थ उपलब्ध हैं, उनकी रक्षा में तथा जो अनुपलब्ध हैं, उनकी प्राप्ति में कोई विघ्न न हो और आप हमारा कल्याण करते हुए हमारी रक्षा करें।

1.7.4.3 चयनित मंत्रों का पदच्छेद व सप्रसंग व्याख्या

(उदाहरण-1)

मंत्र

किमाग आस वरुण ज्येष्ठ यत्स्तोतारं जिघांससि सखायम्।

प्र तन्मे वोचो दूळभ स्वधावोऽव त्वानेना नमसा तुर इयाम्॥

पदच्छेद (अन्वय)

वरुण! किम् ज्येष्ठम् आगः आस यत् सखायम् स्तोतारम् जिघांससि? दूळभ स्वधावः तत् मे प्र वोचः। अनेनाः तुरः नमसा त्वा अव इयाम्।

प्रसंग

यह मंत्र ऋग्वेद के वरुण सूक्त से लिया गया है। इसमें स्तुतिकार अपने पापों का प्रायश्चित्त कर रहा है और पापों से छूटने की प्रार्थना कर रहा है।

व्याख्या

हे वरुण= हे वरुण देव! किम् ज्येष्ठम् आगः आस= मेरा क्या बड़ा पाप हो गया, यत्= कि, सखायम्=मित्र होते हुए भी मुझ, स्तोतारम्= स्तुतिकर्ता को, जिघांससि= मारना चाहते हो। दूलभः= शत्रुओं द्वारा अपराजेय!, स्वधावः = तेजस्वी वरुण!, तत् = उस (पाप) को, मे= मुझे, प्रवोचः= बताएं, ताकि, अनेनाः= निष्पाप होता हुआ मैं, तुरः=शीघ्र ही, नमसा= नमस्कार द्वारा, हवि द्वारा, अव इयाम्= तुम्हारे पास आ सकूं।

भाव यह है कि मैं तो आपका मित्र हूं, फिर मुझसे क्या बड़ा पाप हो गया कि मुझे भी मारना चाहते हैं। मेरा वह बड़ा अपराध क्या है, कृपया बताएं, ताकि निष्पाप होकर आपके समक्ष उपस्थित हो सकूं।

(उदाहरण-2)

मंत्र

अयं सु तुभ्यं वरुण स्वधावो हृदि स्तोम उपश्रितश्चिदस्तु।

शं नः क्षेमे शम् योगे नो अस्तु यूयं पात स्वस्तिभिः सदा नः॥

पदच्छेद (अन्वय)– स्वधावः वरुण। तुभ्यम् अयम् स्तोमः हृदि चित् सु उपश्रितः अस्तु। नः क्षेमे शम् उ योगे नः शम् अस्तु, यूयं नः सदा स्वस्तिभिः पात।

सप्रसंग व्याख्या

प्रसंग– यह मंत्र ऋग्वेद के वरुण सूक्त से लिया गया है। इसमें स्तुतिकार वरुण देव से प्रार्थना कर रहा है।

व्याख्या

स्वधावः वरुण! = हे अन्न को धारण करने वाले वरुण देव!, तुभ्यम् = तुम्हारे लिए, अयं स्तोमः = यह स्तुति या स्तोत्र, हृदि चित्= तुम्हारे हृदय में, अन्तःकरण में, उपश्रितः अस्तु= अच्छी तरह प्राप्त हो, प्रतिष्ठित हो, नः क्षेमे = हमारे प्राप्त पदार्थों की रक्षा करने में, शम् = विघ्नों का अभाव हो, योगे च=

अनुपलब्ध पदार्थों की प्राप्ति में भी विघ्नों का अभाव हो, नः= हमें, स्वस्तिभिः= अविनश्वर कल्याण द्वारा, पात = रक्षा करें।

भाव यह है कि मैं यह स्तुति कर रहा हूँ ताकि आपके हृदय में स्थान प्राप्त कर सकूँ। हमारे योग-क्षेम में हमारे लिए निर्विघ्नता करें और कल्याण कर हमारी रक्षा करें।

1.7.5 वाक् सूक्त

1.7.5.0 सूक्त-परिचय

यह सूक्त ऋग्वेद के 10वें मण्डल का 125वां सूक्त है। इसमें वाणी देवी की स्तुति की गई है और इसकी महनीयता का निरूपण किया गया है। इसके ऋषि हैं-वाक्। इसके देवता हैं-परमात्मा। यह त्रिष्टुप् और जगती छन्दों में रचित है।

1.7.5.1 मूल पाठ व हिन्दी अर्थ

1. अहं रुद्रेभिर्वसुभिश्चराम्यहमादित्यैरुत विश्वदेवैः।
अहं मित्रावरुणोभा बिभर्म्यहमिन्द्राग्नी अहमश्विनोभा॥
2. अहं सोममाहनसं बिभर्म्यहं त्वष्टारमुत पूषणं भगम्।
अहं दधामि द्रविणं हविष्मते सुप्राव्ये३ यजमानाय सुन्वते॥
3. अहं राष्ट्री संगमनी वसूनां चिकितुषी प्रथमा यज्ञियानाम्।
तां मा देवा व्यदधुः पुरुत्रा भूरिस्थात्रां भूर्यावेशयन्तीम्॥
4. मया सो अन्नमत्ति यो विपश्यति य प्राणिति य ईं शृणोत्युक्तम्।
अमन्तवो मां त उप क्षियन्ति श्रुधि श्रुत श्रद्धिवं ते वदामि॥
5. अहमेव स्वयमिदं वदामि जुष्टं देवेभिरुत मानुषेभिः।
यं कामये तं तमुग्रं कृणोमि तं ब्रह्माणं तमृषिं तं सुमेधाम्॥
6. अहं रुद्राय धनुरा तनोमि ब्रह्मद्विषे शरवे हन्तवा उ।
अहं जनाय समदं कृणोम्यहं द्यावापृथिवी आ विवेश॥
7. अहं सुवे पितरमस्य मूर्धन्मम योनिरप्स्व१न्तः समुद्रे।
ततो वि तिष्ठे भुवनानु विश्वोतामूं द्यां वर्ष्मणोप स्पृशामि॥
8. अहमेव वात इव प्र वाम्यारभमाणा भुवनानि विश्वा।
परो दिवा पर एना पृथिव्यैतावती महिना सं बभूव॥

हिन्दी अर्थ

1. जगत् के कारण रूप ब्रह्म के साथ तादात्म्य का अनुभव करती हुई अम्भृण ऋषि की पुत्री मैं 'वाक्' ग्यारह रुद्रों के रूप में विचरण करती हूँ, मैं आठ वसुओं के रूप में विचरण करती हूँ। मैं

बारह आदित्यों के रूप में और विश्वदेवों के रूप में विचरण करती हूं। मैं मित्र और वरुण— इन दोनों देवताओं को धारण करती हूं। मैं इन्द्र और अग्नि को धारण करती हूं और दोनों अश्विनी देवताओं को धारण करती हूं।

2. कूट पीस कर अभिषवन (निचोड़ने) योग्य सोम रस को अथवा शत्रुओं का वध करने वाले द्युलोक में विद्यमान सोम देवता को मैं ही धारण करती हूं। मैं त्वष्टा (निर्माण करने वाला देवता), पूषा (पोषण करने वाला सूर्य देवता) और भग (भग नामक ऐश्वर्य का देवता या ऐश्वर्य) के लिये सुन्दर हवि पहुंचाने वाले और सोम का अभिषव करने वाले यजमान के लिये यज्ञ के फल रूप धन को धारण करती हूं।
3. मैं सम्पूर्ण जगत् की ईश्वरी हूं, धनों को प्राप्त कराने वाली हूं, खोज करने वाली, ज्ञान से सम्पन्न या ब्रह्म को जानने वाली हूं और यजन करने योग्य व्यक्तियों को अपने अन्दर आवेशित करने वाली मुझको देवताओं ने विभिन्न स्थानों में रखा है। अर्थात् भिन्न देवताओं की जो पूजा की जाती है, वह वस्तुतः मेरी ही पूजा है।
4. इस जगत् में जो भी व्यक्ति अन्न को खाता है, अर्थात् सांसारिक भोगों को भोगता है, वह मेरे द्वारा ही अन्न का भोग करता है, जो देखता है वह मेरे द्वारा ही देखता है, जो श्वास लेता है, वह मेरे द्वारा लेता है और जो भी कहे गये वचन को सुनता है, वह मेरे द्वारा सुनता है। जो व्यक्ति इस प्रकार से अन्तर्यामी रूप से अवस्थित मुझको नहीं जानते या मानते, वे संसार में हीनता को प्राप्त होते हैं। हे विद्वान् मित्र! सुनो। श्रद्धा से प्राप्त होने योग्य वचन का मैं उपदेश देती हूं।
5. स्वयं ही इन्द्र आदि देवताओं के द्वारा और मनुष्यों के द्वारा सेवित इस ब्रह्म का उपदेश करती हूं। मैं जिस पुरुष को चाहती हूं उस उस को प्रचण्ड या सर्वश्रेष्ठ बना देती हूं। उसको मैं सृष्टि की रचना करने वाला ब्रह्मा, भूत-भविष्य का द्रष्टा ऋषि और उत्तम बुद्धि वाला मनुष्य बना देती हूं।
6. ब्रह्म से अर्थात् वेदों से या ब्राह्मणों से द्वेष करने वाले हिंसक त्रिपुरनिवासी असुरों को मारने के लिये मैं रुद्र के धनुष की प्रत्यंचा को चढ़ाती हूं। अर्थात् रुद्र को मैं यह प्रेरणा देती हूं कि हिंसक असुरों को मारने के लिए वह धनुष पर प्रत्यंचा को चढ़ावे। मैं अपने जनों के लिये अर्थात् उनका कल्याण करने के लिये उनके शत्रुओं के साथ युद्ध करती हूं, अर्थात् उनको युद्ध के लिये प्रेरित करती हूं। मैं ही द्युलोक और पृथिवीलोक में व्याप्त हो रही हूं।
7. इस ब्रह्म के शिरःस्थानीय द्यु लोक को अथवा इस ब्रह्म के सिर पर आकाश को मैं उत्पन्न करती हूं। समुद्र अर्थात् परमात्मा में जो अप् अर्थात् व्यापनशील बुद्धियां हैं, उनमें मेरा ही कारण है। अथवा समुद्रों में, जलों में मैं ही कारण रूप से विद्यमान हूं। अथवा समुद्र अर्थात् अन्तरिक्ष और जलशरीर देवों में कारण हूं। इसलिये सम्पूर्ण भुवनों अर्थात् पंचमहाभूतों में प्रविष्ट होकर मैं ही उनको विविध रूप से व्याप्त किये हुये हूं और इस द्युलोक को मैं सर्वत्र व्यापक होते हुये अपने कारणभूत शरीर से स्पर्श कर रही हूं।

8. मैं ही सारे लोकों को या पंच महाभूतों को उत्पन्न करती हुई वायु के समान प्रवृत्त होती हूँ। अर्थात् उनमें वायु के समान व्याप्त हो जाती हूँ। द्युलोक से परे और इस पृथिवी लोक से भी परे और इनको अतिक्रान्त करती हुई मैं अपनी महिमा से इतने बड़े परिमाण वाली हो जाती हूँ।

1.7.5.2 सूक्तसार

वाक् देवी ब्रह्म से उत्पन्न एक महान् दैवी शक्ति है। वह ब्रह्म का ही एक रूप है। उससे सम्बद्ध यह सूक्त महनीय हो जाता है। ग्यारह रुद्र, आठ वसु, बारह आदित्य व विश्वदेवों में वही वाक् शक्ति विद्यमान है। इन्द्र, अग्नि, मित्र, वरुण व अश्विनीकुमारों में भी वही विद्यमान है, वही उन्हें धारण किये रहती है। त्वष्टा, पूषा एवं ऐश्वर्य के देव 'भग' देवता को, यज्ञ के माध्यम से हवि पहुंचाने वाले यजमान को उसके यज्ञ का फल वही वाक् देवी देती है। समग्र जगत् की वह ईश्वरी है। विभिन्न देवों की पूजा उसी वाक् देवी की पूजा है। वाक् देवी के माध्यम से ही प्राणी देखता-सुनता-श्वास लेता है। ब्रह्म का उपदेश भी वही देती है, उसके माध्यम से ही उसका उपदेश प्राप्त होता है। उसकी जिस पर कृपा होती है, वही प्राणी सर्वश्रेष्ठ हो जाता है।

असुरों के संहार हेतु रुद्र की प्रत्यंचा को वही चढ़ाती है। पंच महाभूतों को वही उत्पन्न करती है। सारे जगत् व तीन लोकों में उसकी महिमा व्याप्त है।

1.7.5.3 चयनित मंत्रों का पदच्छेद एवं सप्रसंग व्याख्या

(उदाहरण-1)

मंत्र

अहं रुद्रेभिर्वसुभिश्चराम्यहमादित्यैरुत विश्वदेवैः।

अहं मित्रावरुणोभा बिभर्म्यहमिन्द्राग्नी अहमश्विनोभा॥

पदच्छेद (अन्वय)

अहम् रुद्रेभिः चरामि वसुभिः। अहम् आदित्यैः उत विश्वदेवैः। अहम् मित्रावरुणा उभा बिभर्मि। अहम् इन्द्राग्नी अहम् उभा अश्विना।

प्रसंग

इस सूक्त में वाक् या वाणी की महत्ता का वर्णन किया गया है। प्राचीन भाष्यकारों के अनुसार, जैसा कि सायण ने लिखा है, महर्षि अम्भृण की पुत्री वाक् ब्रह्मविद्या में निष्णात थी। सच्चिदानन्द स्वरूप ब्रह्म या परमात्मा से तादात्म्य का अनुभव करती हुई उसने अपनी इस प्रकार स्तुति की है कि वह ही सम्पूर्ण जगत् की अधिष्ठान रूप से स्वामिनी है।

व्याख्या

अहं = मैं (ब्रह्म के साथ तादात्म्य अनुभव करती हुई अम्भृण ऋषि की पुत्री), रुद्रेभिः = ग्यारह रुद्रों के रूप में, चरामि—विचरण करती हूं। वसुभिः = आठ वसुओं के रूप में भी विचरण करती हूं। अहम्= मैं, मित्रावरुणा उभा= मित्र व वरुण, इन दोनों को, बिभर्मि= धारण करती हूं। अहम् = मैं, इन्द्राग्नी = इन्द्र व अग्नि को (भी) तथा, उभा अश्विना= दोनों अश्विनीकुमारों को भी धारण करती हूं।

(उदाहरण-2)

मंत्र

अहं रुद्राय धनुरा तनोमि ब्रह्मद्विषे शरवे हन्तवा उ ।

अहं जनाय समदं कृणोम्यहं द्यावापृथिवी आ विवेश ॥

पदच्छेद (अन्वय)

ब्रह्मद्विषे शरवे हन्तवै अहम् रुद्राय धनुः आतनोमि । अहम् जनाय समदम् कृणोमि । अहम् द्यावापृथिवी आविवेश ।

प्रसंग

इस सूक्त में अम्भृण ऋषि की पुत्री 'वाक्', ब्रह्म से तादात्म्य अनुभव करती हुई, अपनी महनीयता के अनुभव को व्यक्त कर रही है ।

व्याख्या

ब्रह्मद्विषे = ब्रह्म अर्थात् वेदों व ब्राह्मणों से द्वेष करने वाले शरवे= हिंसक असुर को, हन्तवे=मारने के लिए, अहम्= मैं, रुद्राय =रुद्र के लिए, उसके, धनुः आतनोमि= धनुष की प्रत्यंचा चढ़ाती हूं। अहम्=मैं, जनाय = लोक-कल्याण के लिए, समदम्=युद्ध, कृणोमि=करती हूं। अहम्= मैं ही, द्यावापृथिवी= द्युलोक व पृथिवी लोक में, आ विवेश= व्याप्त हो रही हूं।

1.7.6 हिरण्यगर्भ (प्रजापति) सूक्त

1.7.6.0 सूक्त-परिचय

सृष्टि की आदि में पुरुष से उत्पन्न विराट् ही हिरण्यगर्भ है। हिरण्यगर्भ ही प्रजापति है। यही पुराणों में 'ब्रह्म' है। इस सूक्त में उसी की स्तुति की गई है। इस सूक्त का ऋषि हिरण्यगर्भ है, वस्तुतः इसे देवता मानना अधिक उपयुक्त प्रतीत हो रहा है। इसके देवता हैं—प्रजापति। यह त्रिष्टुप् छन्द में रचित है।

1.7.6.1 मूल पाठ व हिन्दी अर्थ

1. हिरण्यगर्भः समवर्तताग्रे भूतस्य जातः पतिरेक आसीत् ।
स दाधार पृथिवीं द्यामुतेमां कस्मै देवाय हविषा विधेम ॥
2. य आत्मदा बलदा यस्य विश्व उपासते प्रशिषं यस्य देवाः ।
यस्य छायामृतं यस्य मृत्युः कस्मै देवाय हविषां विधेम ॥
3. यः प्राणतो निमिषतो महित्वैक इद्राजा जगतो बभूव ।
य ईशे अस्य द्विपदश्चतुष्पदः कस्मै देवाय हविषा विधेम ॥
4. यस्येमे हिमवन्तो महित्वा यस्य समुद्रं रसया सहाहुः ।
यस्येमाः प्रदिशो यस्य बाहू कस्मै देवाय हविषा विधेम ॥
5. येन द्यौरुग्रा पृथिवी च दृल्हा येन स्वः स्तभितं येन नाकः ।
यो अन्तरिक्षे रजसो विमानः कस्मै देवाय हविषा विधेम ॥
6. यं क्रन्दसी अवसा तस्तभाने अभ्यैक्षेतां मनसा रेजमाने ।
यत्राधि सूर उदितो विभाति कस्मै देवाय हविषा विधेम ॥
7. आपो ह यद्बृहतीर्विश्वमायन्गर्भं दधाना जनयन्तीरग्निम् ।
ततो देवानां समवर्ततासुरेकः कस्मै देवाय हविषा विधेम ॥
8. यश्चिदापो महिना पर्यपश्यद्दक्षं दधाना जनयन्तीर्यज्ञम् ।
यो देवेष्वधि देव एक आसीत्कस्मै देवाय हविषा विधेम ॥
9. मा नो हिंसीज्जनिता यः पृथिव्या यो वा दिवं सत्यधर्मा जजान ।
यश्चापश्चन्द्रा बृहतीर्जजान कस्मै देवाय हविषा विधेम ॥
10. प्रजापते न त्वदेतान्यन्यो विश्वा जातानि परि ता बभूव ।
यत्कामास्ते जुहुमस्तन्नो अस्तु वयं स्याम पतयो रयीणाम् ॥

हिन्दी अर्थ—

1. परमात्मा का वह हिरण्यगर्भ रूप सबसे पहले, अर्थात् सृष्टि की उत्पत्ति से भी पूर्व उत्पन्न हुआ था। उत्पन्न होते ही वह सभी प्राणियों का एकमात्र स्वामी हुआ। वह पृथिवी और द्युलोक को धारण किये हुये है। सुख स्वरूप अथवा 'क' इस नाम वाले दिव्य गुणों से युक्त उस हिरण्यगर्भ का हम हवि के द्वारा पूजन करते हैं।
2. जो हिरण्यगर्भ प्रजापति आत्माओं का अर्थात् जीवन का देने वाला है और बल का देने वाला है, जिसके शासन को सभी प्राणी मानते हैं, जिसके शासन को देवता भी मानते हैं, अमृतत्व या दिव्यलोक जिसके छाया के समान वशवर्ती हैं और मृत्यु भी छाया के समान जिसकी

- वशवर्ती है, सुख-स्वरूप या 'क' संज्ञक दिव्य गुणसम्पन्न उस हिरण्यगर्भ का हम हवि द्वारा पूजन करते हैं।
3. जो हिरण्यगर्भ प्रजापति अकेला ही अपनी महिमा से श्वास-प्रश्वास लेने वाले और पलकों का संचालन करने वाले सम्पूर्ण गतिशील जगत् का राजा हुआ है, जो दृश्यमान जगत् के दो पैरों वाले मनुष्य आदि प्राणियों तथा चार पैरों वाले गाय, घोड़ा आदि पशुओं का स्वामी है, सुखस्वरूप अथवा 'क' संज्ञक दिव्य गुणसम्पन्न हिरण्यगर्भ प्रजापति का हम हवि के द्वारा पूजन करते हैं।
 4. ये बर्फीले पर्वत जिस हिरण्यगर्भ प्रजापति की महिमा को कहते हैं, नदियों सहित समुद्र जिसकी महिमा को कहते हैं, ये प्रधान दिशाएँ (पूर्व आदि चार दिशाएँ) और बाहू के समान कोण-दिशाएँ (आग्नेय आदि चार कोण-दिशाएँ) जिसकी महिमा को कहती हैं, सुख स्वरूप या 'क' संज्ञक दिव्य गुण सम्पन्न उस हिरण्यगर्भ का हम हवि के द्वारा पूजन करते हैं।
 5. जिस हिरण्यगर्भ प्रजापति ने द्युलोक को ऊपर उठाया हुआ है और पृथिवी को स्थिर कर दिया है, जिसने स्वर्ग लोक को ऊपर थामा हुआ है और सूर्य को ऊपर अन्तरिक्ष में थामा है, जो आकाश में जलों को बनाने वाला है, सुख स्वरूप अथवा 'क' संज्ञक दिव्य गुण सम्पन्न उस हिरण्यगर्भ प्रजापति का हम हवि के द्वारा पूजन करते हैं।
 6. संसार की रक्षा करने के हेतु से निर्माण करने हेतु स्थिर किये गये और प्रकाशमान होते हुये द्युलोक और पृथिवी लोक जिस हिरण्यगर्भ प्रजापति को अपने मन से देखते हैं अर्थात् हमारे महिमा उसी से है-इस प्रकार देखते हैं, जिस प्रजापति को आधार बना कर सूर्य उदय होकर प्रकाशित होता है, सुखस्वरूप या 'क' संज्ञक दिव्य गुणसम्पन्न उस प्रजापति का हम हवि के द्वारा पूजन करते हैं।
 7. जिस हिरण्यगर्भ रूप प्रजापति को गर्भ के रूप में धारण करते हुये, अग्नि को (अग्नि के उपलक्षण से आकाश, वायु, अग्नि, जल, पृथिवी इन पंच महाभूतों को ग्रहण किया जाता है) उत्पन्न करते हुये महान् जलों ने निश्चय ही सृष्टि के प्रारम्भ में सम्पूर्ण विश्व को व्याप्त किया हुआ था, उसके बाद देवताओं (इन्द्रियों) का एक प्राणभूत वायु उत्पन्न हुआ। सुख स्वरूप अथवा 'क' संज्ञक उस दिव्य गुणसम्पन्न हिरण्यगर्भ प्रजापति का हम हवि द्वारा पूजन करते हैं।
 8. जो हिरण्यगर्भ प्रजापति सृष्टि-उत्पत्ति रूप यज्ञ को उत्पन्न करने वाले और सृष्टि-उत्पत्ति में दक्ष प्रजापति को धारण करने वाले जलों को अपनी महिमा से देखता है, और जो सभी देवताओं के मध्य में उनका स्वामी अद्वितीय देव है, सुख स्वरूप अथवा 'क' संज्ञक उस दिव्य गुणसम्पन्न हिरण्यगर्भ प्रजापति का हम हवि के द्वारा पूजन करते हैं।
 9. वह हिरण्यगर्भ प्रजापति हमारी हिंसा न करे, जो पृथिवी लोक को उत्पन्न करने वाला है और जिसने सत्य नियमों को धारण करते हुये अथवा वास्तविक धारण-क्षमता से युक्त

होकर द्यु लोक को उत्पन्न किया था और जिसने आनन्द प्रदान करने वाले महान् जलों को उत्पन्न किया। सुख स्वरूप अथवा 'क' संज्ञक उस दिव्य गुणसंपन्न हिरण्यगर्भ प्रजापति का हम हवि द्वारा पूजन करते हैं।

10. हे हिरण्यगर्भ प्रजापति! तुम्हारे अतिरिक्त दूसरा कोई भी इन विद्यमान सम्पूर्ण उत्पन्न हुए पदार्थों को और उन सारे भूतकालीन पदार्थों को व्याप्त किये हुये नहीं है। अर्थात् तुम ही इन सबको व्याप्त करते हो। जिस फल की कामना करते हुये हम तुम्हारे लिये आहुतियां देते हैं, वह फल हमें प्राप्त हो। हम ऐश्वर्यों के स्वामी होवें।

1.7.6.2 सूक्तसार

सुवर्णमय अण्डे को गर्भ में धारण करने वाला होने से उस परम देव की हिरण्यगर्भ संज्ञा है। इस सूक्त द्वारा एकदेववाद की स्थापना की गई है। सृष्टि के प्रारम्भ होने से पूर्व उसकी स्थिति है। सृष्टि होने पर वही सबका स्वामी हुआ। वही सभी प्राणियों को जीवन व शक्ति प्रदान करता है। अमृतत्व व मृत्यु, दोनों उसी के अधीन हैं।

समस्त गतिशील जगत् का, दोपाए, चौपाए प्राणियों (मनुष्यों, पशुओं) का वह स्वामी है, पर्वत, नदियां, दिशाएं उसी की महिमा को व्यक्त करती हैं। पृथ्वी स्थिर है, स्वर्गलोक ऊपर स्थित रहता है, सूर्य प्रतिदिन उदित व अस्त होता है, यह सब उसी की महिमा है। पंच महाभूतों को उत्पन्न कर, प्रजापति को सक्षम बनाते हुए, उसी ने द्युलोक को उत्पन्न किया। जल को भी उसने उत्पन्न किया। भूत, वर्तमान—इन सभी पदार्थों में वह व्याप्त है।

अन्त में, स्तुतिकार द्वारा यज्ञ के फल को प्राप्त करने एवं ऐश्वर्य को पाने की प्रार्थना की गई है।

1.7.6.3 चयनित मंत्रों का पदच्छेद एवं सप्रसंग व्याख्या

(उदाहरण-1)

मंत्र

हिरण्यगर्भः समवर्तताग्रे, भूतस्य जातः पतिरेक आसीत्।

स दाधार पृथिवीं द्यामुतेमां, कस्मै देवाय हविषा विधेम॥

पदच्छेद (अन्वय)

हिरण्यगर्भः अग्रे समवर्तत। जातः भूतस्य एकः पतिः आसीत्। पृथिवीम् उत इमाम् द्याम् दाधार। कस्मै देवाय हविषा विधेम।

सप्रसंग व्याख्या

यह मंत्र ऋग्वेद के हिरण्यगर्भ सूक्त (प्रजापति सूक्त) से लिया गया है। सृष्टि के प्रारम्भ की स्थिति व घटना को वहां शाब्दिक रूप दिया गया है।

व्याख्या

हिरण्यगर्भः = स्वर्णमय अण्डे को धारण करने वाला प्रजापति (का रूप) **अग्रे समवर्तत** = सर्वप्रथम उत्पन्न हुआ। स्वयं शरीरधारी हुआ, या सर्वप्रथम शरीर धारण किया। **जातः** = उत्पन्न होते ही, भूतस्य **एकः पतिः** = ब्रह्माण्ड आदि समग्र जगत् का ईश्वर, **आसीत्** = हुआ। **पृथिवीम्** = पृथ्वी को, **उत इमां द्याम्** = और इस द्युलोक को, **दाधार** = धारण करने वाला हुआ। **कस्मै देवाय हविषा विधेम** = इस प्रजापति को छोड़कर किसकी पूजा करें? (उसी की पूजा करणीय है।) इस मंत्र में प्रयुक्त 'कस्मै' पद का अन्य अर्थ भी किया गया है—'क' अर्थात् प्रजापति, उसकी पूजा करें।

(उदाहरण-2)

मंत्र

यश्चिदापो महिना पर्यपश्यद् दक्षं दधाना जनयन्तीर्यज्ञम्।

यो देवेष्वधि देव एक आसीत् कस्मै देवाय हविषा विधेम।।

पदच्छेद (अन्वय)

यः चित् यज्ञम् जनयन्तीः दक्षम् दधानाः आपः महिना पर्यपश्यत्, यः देवेष्वधि एकः देवः आसीत्, कस्मै देवाय हविषा विधेम।

प्रसंग

सृष्टि का प्रारंभ करने वाले हिरण्यगर्भ प्रजापति की स्तुति इस मंत्र में की गई है। दक्ष प्रजापति को धारण करने वाले 'जल' तत्त्व को (सर्वप्रथम) उसने अपनी महिमा द्वारा देखा। सभी देवों में वह देवाधिदेव है। उसी की पूजा करणीय है, यह भाव इस मंत्र में अभिव्यक्त किया गया है।

व्याख्या

यः चित् = जो, **यज्ञ जनयन्तीः** = यज्ञ रूप सृष्टि को उत्पन्न करने वाले, **दक्षं दधाना आपः** = एवं दक्ष प्रजापति को स्वयं में धारण करने वाले, **आपः** = (प्रलयकालीन) जल तत्त्व को, **महिना पर्यपश्यत्** = महिमा से देखता है। **यः** = जो, **देवेष्वधि** = देवों में भी, **एकः देवः आसीत्** = अद्वितीय देव था। **कस्मै देवाय हविषा विधेम** = उस प्रजापति देव को छोड़कर किसकी पूजा करें? (उसी की पूजा करणीय है।) अथवा 'क' संज्ञक प्रजापति की पूजा करें।

1.7.7 नासदीय सूक्त

1.7.7.0 सूक्त-परिचय

यह सूक्त ऋग्वेद (10/129) का 'नासदीय' सूक्त है। इसका प्रारम्भ 'नासद्' से होता है, इसलिए इस सूक्त का नाम 'नासदीय' है। सृष्टि के प्रारम्भ में 'असत्' अर्थात् अभावात्मक तत्त्व नहीं था, अन्यथा यह 'सत्' सृष्टि कैसे होती? इस भाव के साथ, सृष्टि की उत्पत्ति के विषय में संभावित विकल्पों पर भी यहां विचार किया गया है। उस सूक्त के ऋषि परमेष्ठी प्रजापति हैं। देवता हैं—परमात्मा, जो सृष्टि—स्थिति—प्रलयकर्ता हैं। इस सूक्त की रचना त्रिष्टुप् छंद में हुई है।

1.7.7.1 मूल पाठ एवं हिन्दी अर्थ

1. नासदासीन्नो सदासीत्तदानीं नासीद्रजो नो व्योमा परो यत् ।
किमावरीवः कुह कस्य शर्मन्ममः किमासीद्गहनं गभीरम् ॥
2. न मृत्युरासीदमृतं न तर्हि न रात्र्या अह्ण आसीत्प्रकेतः ।
आनीदवातं स्वधया तदेकं तस्माद्धान्यन्न पुरः किं चनास ॥
3. तम आसीत्तमसा गूळहमग्रेऽप्रकेतं सलिलं सर्वमा इदम् ।
तुच्छयेनाभवपिहितुं यदासीत्तपसस्तन्महिनाजायतैकम् ॥
4. कामस्तदग्रे समवर्तताधि मनसो रेतः प्रथमं यदासीत् ।
सतो बन्धुमसति निरविन्दन् हृदि प्रतीष्यां कवयो मनीषा ॥
5. तिरश्चीनो विततो रश्मिरेषामधः स्विदासीऽदुपरि स्विदासीऽत् ।
रेतोधा आसन्महिमानं आसन्त्स्वधा अवस्तात्प्रयतिः पुरस्तात् ॥
6. को अद्धा वेद क इह प्र वोचत्कुत आजाता कुत इयं विसृष्टिः ।
अर्वाग्देवा अस्य विसर्जनेनाथा को वेद यत आबभूव ॥
7. इयं विसृष्टिर्यत आबभूव यदि वा दधे यदि वा न ।
यो अस्याध्यक्षः परमे व्योमन् सो अङ्ग वेद यदि वा न वेद ॥

हिन्दी अर्थ

1. उस अर्थात् सृष्टि उत्पत्ति से पहले प्रलय दशा में असत् अर्थात् अभावात्मक तत्त्व नहीं था और सत्तात्मक तत्त्व भी नहीं था। रजः अर्थात् पृथिवी से लेकर पाताल पर्यन्त लोक नहीं थे। अन्तरिक्ष नहीं था और अन्तरिक्ष से परे भी जो कुछ है, वह भी नहीं था। पुनः आवरण करने वाला तत्त्व क्या था? वह आवरक तत्त्व कहां था और किसकी संरक्षा में था? उस समय दुष्प्रवेश्य एवं अत्यंत गहरा जल क्या था? अर्थात् वे सब नहीं थे।
2. उस प्रलयकाल में मृत्यु नहीं थी और अमृत अर्थात् मृत्यु का अभाव भी नहीं था। रात्रि का और दिन का ज्ञान भी नहीं था। वह ब्रह्म तत्त्व ही प्राण से युक्त, अपनी क्रिया से शून्य और माया के साथ अविभक्त एक रूप में विद्यमान था। उस मायासहित ब्रह्म से भिन्न कुछ नहीं था और उससे परे भी कुछ नहीं था।

3. सृष्टि के उत्पन्न होने से पहले अर्थात् प्रलय की अवस्था में यह जगत् अंधकार से आच्छादित था और यह जगत् अपने तमस् रूप मूल कारण में विद्यमान था। अज्ञायमान यह सम्पूर्ण जगत् उस समय सलिल रूप में था। अर्थात् उस समय कार्य और कारण दोनों मिले हुए थे। यह जो जगत् व्यापक एवं तुच्छ अभाव रूप अज्ञान से आच्छादित था तो वह कारण के साथ हुआ जगत् ईश्वर के संकल्प रूप तप की महिमा से उत्पन्न हुआ।
4. सृष्टि की उत्पत्ति होने के समय सबसे पहले वह काम अर्थात् सृष्टि उत्पन्न करने की इच्छा उत्पन्न हुई, जो परमेश्वर के मन में सबसे पहला सृष्टि का बीज रूप कारण हुआ। अस्तित्व रूप से विद्यमान जगत् के बन्धन के कारण को क्रान्तदर्शी ऋषियों ने अपनी बुद्धि से हृदय में विचार कर भाव से विलक्षण अभाव में खोज कर पाया।
5. इन तीनों कारणों ('नासदासीत्' में कथित अविद्या, 'कामस्तदग्रे' में कथित संकल्प और 'मनस रेतः' में कथित सृष्टि के बीज रूप कारण) का सूर्य की किरणों के समान बहुत अधिक व्यापकता का भाव बहुत विस्तृत था। यह सब पहले क्या तिरछा था या मध्य में विद्यमान था, क्या वह नीचे विद्यमान या अथवा क्या वह ऊपर विद्यमान था? अर्थात् वह सब स्थानों पर समान भाव से उत्पन्न हुआ था। इस प्रकार उत्पन्न हुये जगत् में कुछ पदार्थ बीज रूप कर्म को धारण करने वाले जीवरूप में थे और कुछ पदार्थ आकाश आदि महान् रूप में प्रकृति रूप थे। इस भोक्ता और भोग्य सृष्टि में भोग्य पदार्थ निकृष्ट समझा जाता है और नियमित करने वाला भोक्ता पदार्थ उत्कृष्ट माना जाता है।
6. कौन इस बात को वास्तविक रूप से जानता है और कौन इस लोक में सृष्टि के उत्पन्न होने का विवरण बता सकता है कि यह विविध प्रकार की सृष्टि किस उपादान कारण से और किस निमित्त कारण से सब ओर से उत्पन्न हुई है। देवता भी इस विविध प्रकार की सृष्टि के उत्पन्न होने के बाद के हैं, अतः वे भी अपने से पहले की बात नहीं बता सकते। इसलिये कौन मनुष्य जानता है, जिस कारण से यह सारा संसार उत्पन्न हुआ है?
7. यह विविध प्रकार की सृष्टि जिस प्रकार उपादान और निमित्त कारण से उत्पन्न हुई है, यह कारण अर्थात् ईश्वर ही सृष्टि को धारण किये हुये है, उसके अतिरिक्त अन्य कोई धारण किये हुये नहीं है। इस सृष्टि को, जो स्वामी ईश्वर उत्कृष्ट सत्य रूप आकाश के सदृश अपने प्रकाश में या आनन्द स्वरूप में प्रतिष्ठित है, हे प्रिय श्रोताओं! यह सुख स्वरूप परमात्मा ही उसको जानता है। उसके अतिरिक्त इसको कोई नहीं जानता है।

1.7.7.2 सूक्तसार

जब सृष्टि नहीं हुई थी, उस समय कोई असत् तत्त्व नहीं था, क्योंकि असत् से सृष्टि नहीं हो सकती। अभावात्मक पदार्थ से भावात्मक जगत् उत्पन्न नहीं हो सकता। कोई सत् पदार्थ भी नहीं था, क्योंकि कोई सृष्टि थी ही नहीं, तब कोई सत् पदार्थ कैसे होता? इसी तरह, उस समय, न मृत्यु थी, न

ही जीवन था। रात-दिन का ज्ञान भी नहीं था। मात्र एक ब्रह्म तत्त्व था, और कुछ नहीं था। जगत् अन्धकार से आच्छादित था। जल ही सर्वत्र था। ईश्वर के संकल्प रूप तप से जगत् उत्पन्न हुआ।

सर्वप्रथम 'काम' (सृष्टि की इच्छा) ही सृष्टि का बीज रूप कारण बना। पंचभूत व जीव अस्तित्व में आए। भोक्ता व भोग्य यह भेद भी सामने आया। इस सृष्टि के उद्भव में निमित्त व उपादान कारण को कौन जानता है? परमात्मा ही जानता है, और कोई नहीं।

1.7.7.3 चयनित मंत्र का पदच्छेद एवं सप्रसंग व्याख्या

(उदाहरण-1)

मंत्र

न मृत्युरासीदमृतं न तर्हि न रात्र्या अह आसीत्प्रकेतः ।
आनीदवातं स्वधया तदेकं तस्माद्धान्यन्न परः किं चनास ॥

पदच्छेद (अन्वय)

तर्हि मृत्युः न आसीत्, न अमृतम्, रात्र्याः अहः प्रकेतः न आसीत्। तत् आनीत् अवातम्, स्वधया, एकम्। ह तस्मात् अन्यत् किंचन न आस न परः।

प्रसंग

यह मंत्र ऋग्वेद के नासदीय सूक्त से लिया गया है। इसमें सृष्टि के पूर्व, प्रलय-काल में क्या स्थिति थी, इसका निरूपण किया गया है।

व्याख्या

तर्हि = प्रलय-काल में, सृष्टि-उत्पत्ति से पूर्व, मृत्युः न आसीत् = मृत्यु नहीं थी, और न अमृतम् = मृत्यु का अभाव भी नहीं था। रात्र्याः अहः = रात व दिन का, प्रकेतः न आसीत् = (भेद-) ज्ञान नहीं था। तत् = वह तत्त्व था-आनीत् = प्राण से युक्त एवं अवातम् = क्रियाशून्य (ब्रह्म तत्त्व था)। स्वधया एकम् = माया से अविभक्त रूप में वह तत्त्व था। ह तस्मात् अन्यत् = अतः उस (ब्रह्म) तत्त्व से अलग, किंचन न आस परः = कोई दूसरा कुछ नहीं था।

भाव यह है कि सृष्टि से पूर्व माया से अविभक्त ब्रह्म तत्त्व ही एकमात्र था, और कुछ नहीं। न तो किसी की मृत्यु थी, न ही उसका अभाव। रात-दिन भी नहीं होते थे।

(उदाहरण-2)

मंत्र

को अद्धा वेद क इह प्र वोचत्कुत आजाता कुत इयं विसृष्टिः ।

अर्वाग्देवा अस्य विसर्जनेनाथा को वेद यत आबभूव ।।

पदच्छेद (अन्वय)

कः अद्धा वेद, कः इह प्र वोचत्, इयम् विसृष्टिः कुतः आजाता। देवाः विसर्जनेन अर्वाक्। अथ कः वेद यतः आ बभूव।

प्रसंग

यह मंत्र ऋग्वेद के नासदीय सूक्त से लिया गया है। सृष्टि की उत्पत्ति के कारणों का ज्ञाता कौन हो सकता है? यह भाव व्यक्त किया गया है। ज्ञानयुक्त प्राणियों की उत्पत्ति तो सृष्टि के बाद हुई है, अतः यह कोई नहीं जानता है कि सृष्टि का कारण क्या था? उसका उपादान व निमित्त कारण भी क्या था?

व्याख्या

कः अद्धा वेद = कौन वास्तविक रूप से जानता है, कः इह प्र वोचत् = कौन इस लोक में है जो इसे बता सकता है कि इयं विसृष्टिः कुतः आजाता = यह विविध सृष्टि किस उपादान कारण से उत्पन्न हुई है। देवाः = देवता भी, अस्य विसर्जनेन अर्वाक् = इसकी सृष्टि के बाद उत्पन्न हुए हैं। अथ को वेद = ऐसी स्थिति में कौन जानता है कि यतः आ बभूव = जिस (किस) कारण से यह संसार उत्पन्न हुआ। अर्थात् सिवा परमेश्वर के यह कोई नहीं जानता कि इस सृष्टि का उपादान व निमित्त कारण क्या रहा?

1.7.8 इन्द्र सूक्त

1.7.8.0 सूक्त-परिचय

यह इन्द्र सूक्त ऋग्वेद का (2 रे मण्डल का 12वां) सूक्त है। इसमें इन्द्र की स्तुति की गई है। स्तुति के माध्यम से उसके स्वरूप, शक्ति आदि की महिमा का निरूपण किया गया है। इस सूक्त के ऋषि हैं— गृत्समद। इसके देवता इन्द्र हैं। यह त्रिष्टुप् छन्द में रचित है।

1.7.8.1 मूल पाठ व हिन्दी अर्थ

1. यो जात एव प्रथमो मनस्वान्, देवो देवान्क्रतुना पर्यभूषत्।
यस्य शुष्माद्रोदसी अभ्यसेतां, नृम्णस्य महना स जनास इन्द्रः॥
2. यः पृथिवीं व्यथमानामदृहद् यः पर्वतान्प्रकुपितौ अरम्भात्।
यो अन्तरिक्षं विममे वरीयो यो द्यामस्तभ्नात्स जनास इन्द्रः॥
3. यो हत्वाहिमरिणात्सप्त सिन्धून् यो गा उदाजदपधा बलस्य।
यो अश्मनोरन्तरग्निं जजान संवृक्समत्सु स जनास इन्द्रः॥
4. येनेमा विश्वा च्यवना कृतानि, यो दासं वर्णमधरं गुहाकः।

- श्वघ्नीव यो जिगीवॉल्लक्षमादद्, अर्यः पुष्टानि स जनास इन्द्रः ॥
5. यं स्मा पृच्छन्ति कुह सेति घोरम् उतेमाहुर्नैषो अस्तीत्येनम् ।
सो अर्यः पुष्टीर्विज इवा मिनाति श्रदस्मै धत्त स जनास इन्द्रः ॥
6. यो रध्रस्य चोदिता यः कृशस्य यो ब्रह्मणो नाधमानस्य कीरेः ।
युक्तग्राव्यो योऽविता सुशिप्रः सुतसोमस्य स जनास इन्द्रः ॥
7. यस्याश्वासः प्रदिशि यस्य गावो यस्य ग्रामा यस्य विश्वे रथासः ।
यः सूर्यं य उषसं जजान यो अपां नेता स जनास इन्द्रः ॥
8. यं क्रन्दसी संयती विह्वयेते परेऽवर उभया अमित्राः ।
समानं चिद्रथमातस्थिवांसा नाना हवेते स जनास इन्द्रः ॥
9. यस्मान्न ऋते विजयन्ते जनासो यं युध्यमाना अवसे हवन्ते ।
यो विश्वस्य प्रतिमानं बभूव यो अच्युतच्युत्स जनास इन्द्रः ॥
10. यः शश्वतो मह्येनो दधानान् अमन्यमानाञ्छर्वा जघान ।
यः शर्धते नानुददाति शृध्यां यो दस्योर्हन्ता स जनास इन्द्रः ॥
11. यः शम्बरं पर्वतेषु क्षियन्तं चत्वारिंश्यां शरद्यन्वविन्दत् ।
अजायमानं यो अहिं जघान दीनुं शयानं स जनास इन्द्रः ॥
12. यः सप्तरश्मिर्वृषभस्तुविष्मन् अवासृजत्सर्तवे सप्त सिन्धून् ।
यो रौहिणमस्फुरद् बज्रबाहुर् द्यामारोहन्तं स जनास इन्द्रः ॥
13. द्यावा चिदस्मै पृथिवी नमेते शुष्माच्चिदस्य पर्वता भयन्ते ।
यः सोमपा निचितो वज्रबाहुर् यो वज्रहस्तः स जनास इन्द्रः ॥
14. यः सुन्वन्तमवति यः पचन्तं यः शंसन्तं यः शशमानमूती ।
यस्य ब्रह्म वर्धनं यस्य सोमो यस्येदं राधः स जनास इन्द्रः ॥
15. यः सुन्वते पचते दुध्र आ चिद् वाजं दर्दर्षि स किलासि सत्यः ।
वयं त इन्द्र विश्वह प्रियासः सुवीरासो विदथमा वदेम ॥

हिन्दी अर्थ

- हे मनुष्यों! अथवा हे असुरों! जो उत्पन्न होते ही सब देवताओं में प्रमुख परम मनस्वी हुआ, दिव्य गुणों से युक्त होते हुए, जिसने यज्ञ से या वृत्र के वध आदि कर्मों से अन्य देवताओं को अलंकृत किया या अन्य देवताओं की शक्ति का अतिक्रमण किया, जिसके शारीरिक बल से द्युलोक, पृथिवी लोक डरते थे या कांपते थे, महती सेना के महत्त्व से युक्त वह ही इन्द्र है।
- हे असुरों! जिसने हिलती हुई पृथिवी को स्थिर कर दिया था अर्थात् जिसने पृथिवी को और उस पर रहने वाले प्राणियों को स्थिरता प्रदान की थी। जिसने कुपित हुए अर्थात् इच्छानुसार इधर उधर स्वच्छन्द विचरण करते हुए पंखों से युक्त पर्वतों को अपने-अपने स्थान पर नियमित कर

- दिया था, जिसने विस्तृत अन्तरिक्ष की रचना की थी या विस्तार किया था और जितने द्युलोक को थामा हुआ है, वही इन्द्र है।
3. हे असुरों! जिस इन्द्र ने वृत्र को मारकर अर्थात् जल रोकने वाले पर्वतों को हटाकर सात नदियों को बहाया था, जिसने बल नामक दैत्य के द्वारा गुफा में रोकी गई गायों को बन्धन से मुक्त कर बाहर निकाला था, जिसने दो मेघों के या चट्टानों के मध्य में विद्युत-अग्नि को उत्पन्न किया था और जिसने युद्धों में शत्रुओं का अच्छी प्रकार विनाश किया था, वही इन्द्र है।
 4. जिसने इन सम्पूर्ण नश्वर भुवनों को स्थिर किया है, जिसने दास अर्थात् शूद्र आदि वर्णों को गुफा आदि स्थानों में स्थापित कर दिया है, अथवा हिंसा करने वाली असुर जाति को नरक में डाल दिया है, जिसने लक्ष्य को जीत लिया है और जिसने शत्रुओं के धनों को उसी प्रकार छीन लिया है, जैसे शिकारी या जुआरी छीन लेता है, हे असुरों! वही इन्द्र है।
 5. वह कहाँ है? इस प्रकार जिस भयानक इन्द्र के सम्बन्ध में लोग पूछते रहते हैं और निश्चय ही जिसके विषय में यह नहीं है—इस प्रकार कहते हैं, वह विजेता के समान शत्रु की पोषक सम्पत्तियों गौ आदि को छीन लेता है। इस इन्द्र के लिये श्रद्धा को धारण करो। हे असुरों! वही इन्द्र है।
 6. जो समृद्धिशाली व्यक्ति को प्रेरणा देने वाला है, जो निर्धन को प्रेरणा देने वाला है, जो याचना करने वाले और स्तुति करने वाले ब्राह्मण को प्रेरणा देने वाला है और सुन्दर ठोड़ी वाला जो अभिषव करने के लिये पत्थरों को उद्यत किये हुए सोमरस को निचोड़ने वाले यजमान की रक्षा करता है, हे असुरों! वही इन्द्र है।
 7. जिसके अनुशासन में घोड़े रहते हैं, जिसके अनुशासन में गौयें रहती हैं, जिसके अनुशासन में गांव रहते हैं, जिसके अनुशासन में सब रथ रहते हैं, जिसने सूर्य को और जिसने ऊषा को उत्पन्न किया था एवं जो मेघों में से जलों को लाने वाला है, हे असुरों! वही इन्द्र है।
 8. शब्द करते हुए द्युलोक और पृथिवी लोक मिलकर जिसका अपनी रक्षा के लिये आह्वान करते हैं अथवा शोर करती हुई परस्पर युद्ध के लिये सामने खड़ी दो सेनायें सहायता के लिये जिसको पुकारती हैं, उत्तम और अधम दोनों प्रकार के शत्रु जिसका आह्वान करते हैं, इन्द्र के रथ के समान रथ पर बैठे हुए दोनों पक्ष अनेक प्रकार से जिसका आह्वान करते हैं, एक ही रथ पर बैठे हुए इन्द्र और अग्नि यज्ञ के लिये यजमानों द्वारा पुकारे जाते हैं, असुरों! वही इन्द्र है।
 9. जिस इन्द्र के बिना मनुष्य विजय को प्राप्त नहीं करते, युद्ध करते हुए सैनिक अपनी रक्षा के लिये जिसका आह्वान करते हैं, जो सम्पूर्ण जगत् का प्रतिनिधि या रक्षक है, जो क्षय रहित पर्वतों का भी विनाश करने वाला है अथवा अचल को भी बनाने वाला है, हे असुरों! वही इन्द्र है।

10. जिसने अत्यधिक पाप को धारण करने वाले और अवज्ञा करने वाले बहुत से व्यक्तियों का वज्र से वध कर दिया था, जो हिंसा करने वाले या चुनौती देने वाले व्यक्तियों को उत्साह से युक्त कर्म को नहीं देता है, जो दस्युओं को मारने वाला है, हे असुरों! वही इन्द्र है।
11. जिसने अपने डर से पर्वतों में छिप कर निवास करने वाले शम्बर नाम के असुर को चालीसवीं शरद् ऋतु में (चालीसवें वर्ष में) खोज कर पा लिया था और जिसने बल का प्रदर्शन करते हुए, प्रहार करने वाले उस दनु के पुत्र असुर को सोते हुए को या लेटे हुए को मार डाला था, हे असुरों! वही इन्द्र हैं।
12. सात प्रकार के मेघों के नियन्ता, वर्षा करने वाले, शक्तिशाली या बुद्धिमान जिसने बहने के स्वभाव वाले जलों को बहने के लिये प्रवाहित किया था और वज्र को बाहु में उठाकर जिस इन्द्र ने द्युलोक में चढ़ते हुये रौहिण नाम के असुर को मारा था, हे असुरों! वही इन्द्र है।
13. इस इन्द्र के लिये द्युलोक और पृथिवी लोक भी प्रणाम करने के लिये स्वयं झुक जाते हैं। इसके बल से पर्वत भी भय खाते हैं। जो इन्द्र सोम रस का पान करने वाला है, दृढ़ अंगों वाला है, वज्र के समान कठोर भुजाओं वाला है, और जो हाथ में वज्र को धारण किये हुये है, हे असुरों! वही इन्द्र है।
14. जो सोम का रस निकालने वाले यजमान की रक्षा करता है, जो पुराडोश आदि हवियों को पकाने वाले यजमान की रक्षा करता है, जो रक्षा करने के लिये स्तुति करने वाले यजमान की रक्षा करता है, जो स्तोत्र पढ़ने वाले या यज्ञ करने वाले यजमान की रक्षा करता है, वृद्धि करने वाले ब्रह्म नामक स्तोत्र जिसको बढ़ाते हैं, सोम रस जिसका बढ़ाने वाला है, यह सब पुरोडाश आदि अन्न जिसके हैं, हे असुरों! वही इन्द्र है।
15. दुर्धर अर्थात् असह्य प्रभाव वाला होता हुआ जो इन्द्र सोम अभिषव करने वाले और पुरोडाश आदि हवियों को पकाने वाले यजमान के लिये बल या अन्न को प्रदान करता है, निश्चय से वह तू सत्य ही है, अर्थात् तेरी सत्ता वास्तविक है। हे इन्द्र! हम तुम्हारे प्रिय होते हुये उत्तम पुत्र-पौत्रों से युक्त होते हुये सब दिनों में अर्थात् सदा तुम्हारी स्तुति को अच्छी प्रकार से गाते रहें।

1.7.8.2 सूक्तसार

ऋग्वेद में सर्वाधिक स्तुति इन्द्र देव की गई है। अनेक सूक्तों से यह एक सूक्त है। इन्द्र के प्रभावशाली स्वरूप एवं वीरतापूर्ण कार्यों का निरूपण कर, उसकी महिमा इस सूक्त में गाई गई है।

इन्द्र देवता की ही यह महिमा है कि पृथिवी, द्युलोक, अन्तरिक्ष लोक, धरती के पर्वत—ये सभी अपने-अपने स्थान पर स्थिर हैं। नश्वर भुवनों को उसी ने स्थिर किया। मेघों में बिजली इसी ने उत्पन्न की। पहले पर्वतों के पंख होते थे और वे उड़कर कहीं भी विनाशक हो सकते थे, किन्तु इन्द्र ने उनके पंखों को काट दिया। इस प्रकार जो भी शत्रु लोक-हित में बाधक बनता है, उसका नाश इन्द्र करते हैं। उदाहरणार्थ—वृत्रासुर नदियों के जल को रोकता था, उसका विनाश इन्द्र के हाथों हुआ। असुर जाति को

उसने नरक में डाला। वह यजमान या स्तुतिकर्ता की रक्षा करता है। उसका अनुशासन सर्वत्र है। अग्निदेव के साथ वह रथ पर आरुढ़ होता है। वह वज्रधारी है और दुर्धर प्रभाव वाला है। वह पापी अनुशासन-हीन दस्युओं को मार गिराता है। उसी ने शम्बर असुर एवं रौहिण नामक असुर का वध किया। उसके प्रति पृथिवी व द्युलोक नतमस्तक रहते हैं। उसकी स्तुति करने वाले, उसे आवाहन करने वाले एवं यज्ञ में सोम रस का अभिषेक (छानने आदि) करने वाले यजमान की वह रक्षा करता है और उसके लिए कल्याणकारी बनता है, उसे बल व धन-धान्य प्रदान करता है। वही सत्य अर्थात् 'वास्तविक सत्ता' है।

अन्त में, स्तुतिकार ने कामना व्यक्त की है— हम इन्द्र के प्रिय बने रहें, उसकी स्तुति करते रहें और उसकी कृपा का पात्र बनकर पुत्र-पौत्रादि से सम्पन्न रहें।

1.7.8.3 चयनित मंत्रों का पदच्छेद एवं सप्रसंग व्याख्या

(उदाहरण-1)

मंत्र

यो जात एव प्रथमो मनस्वान्
देवो देवान् क्रतुना पर्यभूषत्।
यस्य शुष्माद् रोदसी अभ्यसेतां
नृम्णस्य महना स जनास इन्द्रः॥

पदच्छेद (अन्वय)

जनासः! यः जात एव प्रथमः मनस्वान् देवः क्रतुना देवान्-पर्यभूषत्, यस्य शुष्मात् रोदसी अभ्यसेताम्, नृम्णस्य महना स इन्द्रः।

प्रसंग

यह मंत्र ऋग्वेद के (12वें मण्डल के दूसरे सूक्त) इन्द्रसूक्त से लिया गया है। इसमें गृत्समद ऋषि द्वारा इन्द्र के महापराक्रम का वर्णन करते हुए उसकी महिमा का गान किया गया है।

व्याख्या

जनासः! = हे मनुष्यों! हे असुरों!, यः जात एव = जो उत्पन्न होते ही, प्रथमः = देवों में प्रधान बना एवं मनस्वान् = मनस्वियों में अग्रगण्य बना। देवः = द्युतिमान् होता हुआ, क्रतुना = स्वकीय कर्म (पराक्रम) से, यज्ञ से, देवान् पर्यभूषत् = देवों का रक्षक बना, या सब देवों का अतिक्रमण किया। यस्य शुष्मात् = जिसके बल से, रोदसी = द्यावापृथिवी, द्युलोक व पृथ्वी लोक, अभ्यसेताम् = डरते-कांपते हैं, डरते-कांपने लगे, नृम्णस्य = सेना के, महना = महत्त्व से युक्त, स इन्द्रः वही इन्द्र (नामक देव) है।

(उदाहरण-2)

मंत्र

यः सप्तरश्मिवृषभस्तुविष्मान्,
 अवासृजत्सर्तवे सप्त सिन्धून् ।
 यो रौहिणमस्फुरद् वज्रबाहुः,
 द्यामारोहन्तं स जनास इन्द्रः ॥

पदच्छेद (अन्वय)

सप्तरश्मिः वृषभः तुविष्मान् यः सप्त सिन्धून् सर्तवे अवासृजत्। वज्रबाहुः यः द्याम् आरोहन्तं रौहिणम् अस्फुरत्, जनासः! स इन्द्रः।

प्रसंग

यह मंत्र ऋग्वेद के (12 वें मण्डल के दूसरे) सूक्त इन्द्रसूक्त से लिया गया है। इस मंत्र में इन्द्र के बल को प्रकट करने वाले, एवं लोककल्याणकारी कार्यों का निरूपण कर उसकी लोकव्यापी महिमा बताई गई है।

व्याख्या

सप्तरश्मिः = सात प्रकार के मेघों का नियन्ता, वृषभः = वर्षा करने वाला, तुविष्मान् = शक्तिशाली, बुद्धिमान्, यः = जिस (इन्द्र) ने, सप्त सिन्धून् = सात प्रकार के जल को अथवा नदियों को सर्तवे = बहने के अवासृजत् = लिए प्रवाहित किया था। वज्रबाहुः = वज्र को बाहु में उठाए हुए, यः = जिसने द्याम् आरोहन्तं = स्वर्गलोक पर आक्रमण करने वाले, रौहिणम् = रौहिण नामक असुर को, अस्फुरत् = मार दिया था। जनासः = हे मनुष्यों, असुरों! स इन्द्रः = वह इन्द्र है।

विशेष

तैत्तिरीय आरण्यक में मेघों के सात प्रकार बताये गए हैं, उनका नियन्ता होने से इन्द्र को सप्तरश्मि कहा गया है। कुछ अंग्रेजी विद्वानों ने 'सप्त सिंधु' का अर्थ 'सात नदियां' किया है, जबकि सायण ने सिन्धु का अर्थ जल किया है।

1.7.9 पुरुष सूक्त

1.7.9.0 सूक्त-परिचय

यह 'पुरुष सूक्त' ऋग्वेद में (10वें मण्डल का 90 वां सूक्त) है। इसमें सर्वप्राणियों के समष्टि रूप ब्रह्माण्ड-शरीर का निरूपण करते हुए, उसकी महिमा का गायन किया गया है। इसके ऋषि हैं—नारायण। इसके देवता हैं—पुरुष। इसकी रचना अनुष्टुप् तथा त्रिष्टुप् (मात्र अंतिम मंत्र) में की गई है।

1.7.9.1 मूल पाठ व हिन्दी अर्थ

1. सहस्रशीर्षा पुरुषः सहस्राक्षः सहस्रपात् ।
स भूमिं विश्वतो वृत्वात्यतिष्ठद्दशाङ्गुलम् ।।
2. पुरुष एवेदं सर्वं यद्भूतं यच्च भव्यम् ।
उतामृतत्वस्येशानो यदन्नेनातिरोहति ।।
3. एतावानस्य महिमातो ज्यायांश्च पूरुषः ।
पादोऽस्य विश्वा भूतानि त्रिपादस्यामृतं दिवि ।।
4. त्रिपादूर्ध्व उदैत् पुरुषः पादोऽस्येहाभवत् पुनः ।
ततो विष्वङ् व्यक्रामत् साशनानशने अभि ।।
5. तस्माद् विराळ् जायत विराजो अधि पूरुषः ।
स जातो अत्यरिच्यत पश्चाद्भूमिमथो पुरः ।।
6. यत्पुरुषेण हविषा देवा यज्ञमतन्वत ।
वसन्तो अस्यासीदाज्यं ग्रीष्म इध्मः शरद्धविः ।।
7. तं यज्ञं बर्हिषि प्रौक्षन् पुरुषं जातमग्रतः ।
तेन देवा अयजन्त साध्या ऋषयश्च ये ।।
8. तस्माद्यज्ञात्सर्वहुतः संभृतं पृषदाज्यम् ।
पशून्तांश्चक्रे वायव्यानारण्यान्ग्राम्याश्च ये ।।
9. तस्माद्यज्ञात्सर्वहुत ऋचः सामानि जज्ञिरे ।
छन्दांसि जज्ञिरे तस्माद् यजुस्तस्मादजायत ।।
10. तस्मादश्वा अजायन्त ये के चोभयादतः ।
गावो ह जज्ञिरे तस्मात् तस्माज्जाता अजावयः ।।
11. यत्पुरुषं व्यदधुः कतिधा व्यकल्पयन् ।
मुखं किमस्य कौ बाहू का ऊरू पादा उच्येते ।।
12. ब्राह्मणोऽस्य मुखमासीद् बाहू राजन्यः कृतः ।
ऊरू तदस्य यद्वैश्यः पद्भ्यां शूद्रो अजायत ।।
13. चन्द्रमा मनसो जातश् चक्षोः सूर्यो अजायत ।
मुखादिन्द्रश्चाग्निश्च प्राणाद्वायुरजायत ।।
14. नाभ्या आसीदन्तरिक्षं शीर्ष्णो द्यौः समवर्तत ।
पद्भ्यां भूमिर्दिशः श्रोत्रात् तथा लोकाँ अकल्पयन् ।।
15. सप्तास्यासन् परिधयस् त्रिः सप्त समिधः कृताः ।
देवा यद्यज्ञं तन्वाना अबध्नन् पुरुषं पशुम् ।।

16. यज्ञेन यज्ञमयजन्त देवास् तानि धर्माणि प्रथमान्यासन्।

ते ह नाकं महिमानः सचन्त यत्र पूर्वे साध्याः सन्ति देवाः।।

हिन्दी अर्थ

1. यह परम पुरुष विराट् परमेश्वर हजारों (अनन्त) सिर वाला, हजारों आंखों वाला और हजारों पैरों वाला है। वह भूमि को चारों ओर से व्याप्त करके दस अंगुल प्रमाण में ब्रह्माण्ड को पार करके स्थित है। अर्थात् वह परम पुरुष ब्रह्माण्ड को भीतर और बाहर से व्याप्त किये हुए हैं।
2. यह सब कुछ दृश्यमान वर्तमान जगत् पुरुष ही है। जो कुछ हो चुका है, अर्थात् भूतकालीन और जो कुछ होगा अर्थात् भविष्यत् कालीन जगत् भी पुरुष ही है और वह पुरुष देवताओं का अथवा अमरत्व का स्वामी है। जो पुरुष अन्न अर्थात् प्राणियों के भोग्य पदार्थों के कारण बढ़ता है अर्थात् इस दृश्यमान जगत् रूप अवस्था को प्राप्त होता है।
3. इतनी इसकी महिमा है, अर्थात् भूत-भविष्यत्-वर्तमान कालत्रयवर्ती यह समग्र जगत् इसकी महिमा मात्र है, इसका स्वरूप नहीं। और इसलिये यह पुरुष तो इससे भी अधिक विराट् ही है। सम्पूर्ण प्राणी अर्थात् यह समग्र जगत् तो इसका केवल पाद (चौथाई अंश) है। इसके तीन पाद (तीन चौथाई अंश) अविनाशी रूप से द्युलोक में अर्थात् स्वप्रकाश रूप में अवस्थित रहते हैं।
4. संसार से ऊपर तीन पादों वाला यह विराट् पुरुष इस जगत् से ऊपर उठा हुआ है अर्थात् विश्व के गुण-दोषों से रहित है। इसका एक पाद इस भौतिक जगत् के रूप में बार-बार होता है, अर्थात् इसमें सृष्टि की उत्पत्ति और प्रलय होते रहते हैं। इसके बाद अर्थात् सृष्टि उत्पन्न होने पर भोजन करने वाले और भोजन न करने वाले अर्थात् चेतन व अचेतन जगत् को लक्ष्य करके विविध रूपों वाला पुरुष व्याप्त करके स्थित है।
5. उस आदिपुरुष से विराट् (ब्रह्माण्ड देह, व्यक्त जगत्) उत्पन्न हुआ। ब्रह्माण्ड देह का आश्रय लेकर उससे पुरुष (जीवात्मा) उत्पन्न हुआ। वह उत्पन्न होते ही सबसे आगे बढ़ गया अर्थात् पशु, पक्षी, मनुष्य आदि के रूप में चेतनता को प्राप्त करके अन्य जगत् से बढ़कर था। पश्चात् उस पुरुष ने भूमि और शरीरों को बनाया।
6. जब, अर्थात् सृष्टि के रचना क्रम के इस प्रकार प्रारम्भ होने पर देवताओं ने सृष्टि के क्रम को आगे बढ़ाने के लिये पुरुष हवि द्वारा यज्ञ को (सृष्टि रचना रूपी यज्ञ को मानसिक यज्ञ को) किया अर्थात् आगे सृष्टि की रचना का आरंभ किया तो बसन्त ऋतु इस यज्ञ का घृत था, ग्रीष्म ईधन हुआ और शरद् ऋतु हवि बनी, अर्थात् विभिन्न ऋतुयें उत्पन्न हुईं।
7. सबसे पहले अर्थात् सृष्टि से पूर्व उत्पन्न हुये, यजनीय या यज्ञ रूप उस पुरुष रूप पशु पर यज्ञ की वेदी पर देवताओं ने जल छिड़का अर्थात् उसको जल छिड़क कर पवित्र किया। उस प्रोक्षित पुरुष रूप पशु से देवताओं ने साध्य अर्थात् सृष्टि की उत्पत्ति के साधनभूत प्रजापति आदि ने और मंत्रद्रष्टा ऋषियों ने यजन किया।

8. जिस यज्ञ में सभी कुछ अथवा सब का आत्मरूप पुरुष आहुत कर दिया जाता है, ऐसे उस यज्ञ से दही से युक्त घी, उत्पन्न हुआ अर्थात् बनाया गया और उसने वायु या अन्तरिक्ष में विचरने वाले पशु अर्थात् पक्षी, जंगलों में रहने वाले हरिण आदि पशु और जो गांवों में रहने वाले अश्व, गौ आदि पशु हैं, वे भी बनाये।
9. जिस यज्ञ में सभी कुछ अर्थात् सबका आत्मरूप पुरुष आहुत कर दिया जाता है, ऐसे उस यज्ञ से ऋग्वेद और सामवेद उत्पन्न हुये। उससे गायत्री आदि छन्द उत्पन्न हुये, उससे यजुर्वेद उत्पन्न हुआ।
10. उस यज्ञ से घोड़े उत्पन्न हुये और जो घोड़ों के अतिरिक्त ऊपर-नीचे दोनों और दांतों वाले गधे, खच्चर आदि पशु हैं, वे उत्पन्न हुये। उस यज्ञ से गौएं उत्पन्न हुईं और उस यज्ञ से बकरियां और भेड़ें उत्पन्न हुईं।
11. प्रजापति के प्राण रूप देवताओं ने जब उस विराट् रूप पुरुष को विभाजित किया तो उसको कितने रूपों में विविध रूप से कल्पित किया? इस पुरुष का मुख कौनसा था, कौनसी भुजायें थीं, कौन सी जंघायें थीं और कौन से पैर कहे जाते हैं?
12. इस पुरुष का मुख ब्राह्मण हुआ अर्थात् ब्राह्मण इसके मुख से उत्पन्न हुए। भुजाओं को क्षत्रिय बनाया गया, अर्थात् क्षत्रिय इसकी भुजाओं से उत्पन्न हुये। जो इसकी जांघें थीं, वे वैश्य इस पुरुष की जांघों से उत्पन्न हुये और इसके पैरों से शूद्र उत्पन्न हुये।
13. इस प्रजापति रूप पुरुष के मन से चन्द्रमा उत्पन्न हुआ, आंख से सूर्य उत्पन्न हुआ, मुख से इन्द्र और अग्नि उत्पन्न हुये और प्राण से वायु उत्पन्न हुआ।
14. उस प्रजापति रूप परम पुरुष की नाभि से अन्तरिक्ष लोक बना, सिर से द्युलोक उत्पन्न हुआ, दोनों पैरों से भूमि उत्पन्न हुई और कानों से दिशायें उत्पन्न हुईं। इस प्रकार उस पुरुष से देवताओं ने लोकों की रचना की।
15. सृष्टि उत्पत्ति रूप मानस यज्ञ का सम्पादन करते हुये जब देवताओं ने विराट् पुरुष रूपी पशु को बांधा, अर्थात् स्वीकार किया तो इस यज्ञ की सात परिधियां और इक्कीस समिधायें बनाई गईं।
16. देवताओं ने उस संकल्प रूप मानस यज्ञ के द्वारा उस यज्ञ रूप परम पुरुष प्रजापति का यजन (पूजन) किया था। उससे उत्पन्न हुये उनके वे धर्म (नियम, या सृष्टि उत्पत्ति के विधान) सबसे मुख्य हुये। महिमा को प्राप्त करने वाले वे देवता उस दिव्य स्वर्ग को प्राप्त करते हैं, जहां प्राचीन काल में सिद्धि को प्राप्त करने वाले देवता रहते हैं।

1.7.9.2 सूक्त सार

परम पुरुष 'विराट्' के हजारों शिर, हजारों आंखें एवं हजारों पैर हैं। वह सर्वव्यापक है। वह ब्रह्माण्ड के भीतर भी है और बाहर भी है। समग्र चेतन-अचेतन जगत् तो उसका एक चौथाई भाग ही

है। वह पुरुष ही दृश्यमान जगत् स्वरूप को प्राप्त करता है। भूत-भावी जगत् भी उसी का स्वरूप है। विराट् पुरुष में सृष्टि व प्रलय होते रहते हैं।

वह परम पुरुष ही देवों व अमरत्व का स्वामी है। सर्वप्रथम उससे जीवात्मा अर्थात् समस्त चेतन प्राणी अस्तित्व में आए। बाद में भूमि व शरीर बने। विभिन्न ऋतुओं अथवा सत्त्व-रज-तम, इन तीन गुणों की सत्ता प्रकाश में आई।

यज्ञ रूप पुरुष से पशु-पक्षी अस्तित्व में आए। ऋग्वेद आदि भी प्रादुर्भूत हुए। पुरुष के मुख से ब्राह्मण, भुजाओं से क्षत्रिय, जांघों से वैश्य, पावों से शूद्र वर्ण उत्पन्न हुए। मन से चन्द्र, आंखों से सूर्य, मुख से इन्द्र एवं प्राण से वायु की उत्पत्ति हुई। नाभि से अन्तरिक्ष, सिर से द्युलोक, पैरों से भूमि तथा कानों से दिशाएं, इस प्रकार लोकों का अस्तित्व प्रकाश में आया। देवताओं ने मानस यज्ञ के द्वारा उस पुरुष का यजन किया।

1.7.9.3 चयनित मंत्रों के पदच्छेद एवं सप्रसंग व्याख्या

(उदाहरण-1)

मंत्र

पुरुष एवेदं सर्वं यद्भूतं यच्च भव्यम्।

उतामृतत्वस्येशानो यदन्नेनातिरोहति॥

पदच्छेद (अन्वय)

इदं सर्वं पुरुष एव। यत् भूतम् यत् च भव्यम्। उत अमृतत्वस्य ईशानः यत् अन्नेन अतिरोहति।

प्रसंग

यह मंत्र ऋग्वेद के 'पुरुष सूक्त' से लिया गया है। इस मंत्र में समष्टि ब्रह्माण्ड-शरीर रूप 'पुरुष' की महिमा का गान किया गया है।

व्याख्या

इदं सर्वम् = यह दृश्यमान समग्र जगत्, पुरुष एव = विराट् पुरुष ही है। यत् च भूतम् = जो कुछ अतीत हो चुका है, यत् च भव्यम् = जो कुछ भी भावी जगत् है, वह भी यह 'विराट् पुरुष' ही है (उससे वह जगत् भिन्न नहीं है)। उत अमृतत्वस्य = और, देवों का, अमरत्व का वही, ईशानः = स्वामी है। यही कारण है, यत् = कि, अन्नेन = अन्न से, भोग्य पदार्थों से (उस रूप में), अतिरोहति = बढ़ता है, अर्थात् वही पुरुष भोग्य पदार्थों के निमित्त से, अपनी कारणावस्था को त्याग कर जागतिक अवस्था को प्राप्त करता रहता है। प्राणियों के कर्मफल के भोग हेतु भोग्य पदार्थ भी वही बनता है।

(उदाहरण-2)

मंत्र

तस्मादश्वा अजायन्त ये केचिदुभयादतः ।

गावो ह जज्ञिरे तस्मात् तस्माज्जाता अजावयः ॥

पदच्छेद (अन्वय)

तस्मात् अश्वाः अजायन्त । ये के च उभयादतः । तस्मात् ह गावः जज्ञिरे । तस्मात् अजावयः जाताः ।

प्रसंग

पुरुष सूक्त (ऋग्वेदीय) के इस मंत्र में विराट् पुरुष से चेतन प्राणियों की और पशुओं की उत्पत्ति का निरूपण किया गया है। इस प्रकार, विराट् पुरुष की महनीयता का संकेत भी किया गया है।

व्याख्या

तस्मात् = उस यज्ञ से, विराट् पुरुष से, अश्वाः अजायन्त = घोड़े उत्पन्न हुए। ये के च उभयादतः = जो कोई ऊपर-नीचे दांतों वाले हैं, वे भी उत्पन्न हुए। तस्मात् ह गावः जज्ञिरे = उस यज्ञ से, विराट् पुरुष से गाएं भी उत्पन्न हुईं। तस्मात् अजावयः (अजायन्त) = उस यज्ञ से, विराट् पुरुष से भेड़ें व बकरियां भी उत्पन्न हुईं।

1.7.10 सूर्य सूक्त

1.7.10.0 सूक्त-परिचय

यह सूर्य सूक्त ऋग्वेद का (पहले मण्डल का 115वां) सूक्त है। सूर्य के कल्याणकारी व प्रभावशाली स्वरूप का निरूपण करते हुए उसकी स्तुति की गई है। इसके ऋषि हैं— कुत्स। इसके देवता सूर्य ही हैं। इसकी रचना त्रिष्टुप् छन्द में की गई है।

1.7.10.1 मूल पाठ एवं हिन्दी अर्थ

1. चित्रं देवानामुदगादनीकं चक्षुर्मित्रस्य वरुणस्याग्नेः ।
आप्रा द्यावापृथिवी अन्तरिक्षं सूर्य आत्मा जगत्स्तस्थुषश्च ॥
2. सूर्यो देवीमुषसं रोचमानां, मर्यो न योषामभ्येति पश्चात् ।
यत्रा नरो देवयन्तो युगानि, वितन्वते प्रति भद्राय भद्रम् ॥
3. भद्रा अश्वा हरितः सूर्यस्य चित्रा एतग्वा अनुमाद्यासः ।
नमस्यन्तो दिव आ पृष्ठमस्थुः परिं द्यावापृथिवी यन्ति सद्यः ॥

4. तत्सूर्यस्य देवत्वं तन्महित्वं मध्या कर्तोर्विततं सं जभार ।
यदेदयुक्त हरितः सधस्थादाद्रात्री वासस्तनुते सिमस्मै ।।
5. तन्मित्रस्य वरुणस्याभिचक्षे सूर्यो रूपं कृणुते द्यौरुषस्थे ।
अनन्तमन्यदुशदस्य पाजः कृष्णमन्यद्वरितः सं भरन्ति ।।
6. अद्या देवा उदिता सूर्यस्य, निरंहसः पिपृता निरवद्यात् ।
तन्नो मित्रो वरुणो ममहन्तामदितिः सिन्धुः पृथिवी उत द्यौः ।।

हिन्दी अर्थ

1. किरणों का या देवताओं का समूह रूप, आश्चर्यजनक और मित्र, वरुण एवं अग्नि का अर्थात् सम्पूर्ण संसार का चक्षु अर्थात् प्रकाशक वह सूर्य देवता उदित हुआ है। उदय होने के बाद उसने द्यु लोक, पृथिवी लोक और अन्तरिक्ष लोक को सब ओर से प्रकाश से भर दिया है। वह सूर्य जंगम अर्थात् गतिशील और तस्थुष अर्थात् स्थावर संसार की आत्मा है। सूर्य के उदय होने पर स्थावर और जङ्गम की संसार में वृद्धि होती है।
2. सूर्य प्रकाशमान होती हुई दीप्तिमती उषा देवी के पीछे-पीछे उसी प्रकार आता है, जिस प्रकार कोई मनुष्य सुन्दरी युवती के पीछे-पीछे आता है। उषा देवी के उदय होने पर सूर्य देव की उपासना करते हुये अथवा सूर्य को अपना बनाने के इच्छुक भक्त मनुष्य प्रत्येक उषा काल में उत्तम कल्याणकारी फल को प्राप्त करने के लिये कल्याणकारी कर्मों को सम्पन्न करते हैं। अथवा कल्याणकारी फलों को प्राप्त करने के लिए कल्याणकारी हलों के जुओं को जोतते हैं।
3. कल्याण करने वाले, विचित्र या रंगबिरंगे, अद्भुत अवयवों वाले, तीव्र गति वाले या आकाश में गति करने वाले, एक-एक करके स्तुति या प्रशंसा करने योग्य, हरे रंग के या 'हरित' इस नाम वाले सूर्य के घोड़े हमारे द्वारा नमस्कार किये जाते हुये या झुक कर चलते हुये आकाश के पृष्ठ पर अधिष्ठित हो चुके हैं। अथवा इस प्रकार की व्याप्ति करने वाली सूर्य की किरणें आकाश को अधिष्ठित कर चुकी हैं। वे घोड़े शीघ्र ही, एक दिन में ही द्युलोक और पृथिवी लोक के चारों ओर परिक्रमा कर लेते हैं।
4. सबको प्रेरणा देने वाले सूर्य देवता का देवत्व अर्थात् स्वामित्व है और उस प्रकार की महिमा है कि वे कार्य करने वाले मनुष्यों की क्रियाओं के बीच में ही, अर्थात् उनके कार्यों के समाप्त होने से पहले ही अपने फैले हुये किरणों के जाल को समेट लेते हैं। जिस समय निश्चय ही सूर्य अपने हरे रंग के या हरित नाम के घोड़ों को साथ बैठने वाले रथ से या अधिष्ठित स्थान से खोलते हैं तो इसके अनन्तर ही रात्रि सम्पूर्ण विश्व को आच्छादित करने वाले अंधकार को विस्तृत कर देती है।

5. उस समय मित्र और वरुण के अर्थात् उनसे उपलक्षित समग्र विश्व को देखने के लिये, वास्तविक स्वरूप-ज्ञान के लिये सूर्य आकाश के शिखर पर मध्य में अपने तेजोमय रूप प्रकाश को प्रकट करता है। इस सूर्य के हरे रंग के घोड़े या किरणें कभी तो विलक्षण व्यापक अपार चमकदार बल को अर्थात् तेज को निष्पादित करती है और कभी तेज से भिन्न काले अंधकार को निष्पन्न करती हैं। दिन और रात्रि के चक्र को सूर्य ही प्रवर्तित करता है।
6. प्रदीप्त होती हुई है सूर्य की रश्मियों! आज सूर्य के उदय होने पर तुम हमें पाप से छुड़ाओ और निन्द्य कर्मों से हमें बचाओ। और हमारी उस प्रार्थना का मित्र (हिंसा से रक्षा करने वाले सूर्य), वरुण (आवरण शक्ति से युक्त वरुण देव), अदिति (अखण्डनीय शक्तिशाली देवमाता), सिन्धु (स्पन्दन जलाभिमानी देवी), पृथिवी (भूलोक की अधिष्ठात्री धारणशील शक्ति) और द्यौ (द्यु लोक की अधिष्ठात्री दीप्तियुक्त शक्ति) अनुमोदन करें।

1.7.10.2 सूक्तसार

सूर्य देव जगत् के महान् कल्याणकारी व प्रभावशाली देवता हैं। सूर्योदय होने पर ऐसा प्रतीत होता है कि मानों कोई दीप्त किरणों का समूह हो या देवों का कोई समूह हो। वह मित्र, वरुण, अग्नि आदि का अर्थात् जगत् का वह चक्षु है, प्रकाशक है या नेत्र रूप है। उदित होकर वह तीनों लोकों को प्रकाश से भर देता है। वह स्थावर व जंगम जगत् की आत्मा है, अर्थात् उदयावस्था में सर्वत्र चेतना, क्रियाशीलता पैदा करता है।

सूर्योदय से पूर्व उषा का आगमन होता है। ऐसा प्रतीत होता है कि उषा सुन्दरी का सूर्य रूपी पुरुष पीछा कर रहा हो। सूर्य देव को प्रसन्न करने के लिए लोग उषा काल में धार्मिक अनुष्ठानादि या व्यावहारिक कार्य सम्पन्न करते हैं।

सूर्य के रथ में हरित नामक (हरे वर्ण वाले), तीव्र गति से सम्पन्न घोड़े जुते होते हैं, वे एक दिन में ही द्युलोक व पृथ्वीलोक में चारों ओर परिक्रमा कर लेते हैं। रात्रि में सूर्य अपनी किरणों का जाल समेट लेते हैं। इस प्रकार, दिन व रात का क्रम चलता रहता है।

अन्त में स्तुतिकार सूर्य की रश्मियों से प्रार्थना करता है कि वे (सूर्य देव) उसे पाप से छुड़ाएं।

1.7.10.3 चयनित मंत्र का पदच्छेद एवं सप्रसंग व्याख्या

(उदाहरण-1)

मंत्र

भद्रा अश्वा हरितः सूर्यस्य चित्रा एतग्वा अनुमाद्यासः।

नमस्यन्तो दिव आ पृष्ठमस्थुः, परि द्यावापृथिवी यन्ति सद्यः॥

पदच्छेद (अन्वय)

भद्राः चित्राः एतग्वाः अनुमाद्यासः हरितः सूर्यस्य अश्वाः नमस्यन्तः दिवः पृष्ठम् आ अस्थुः। सद्यः द्यावापृथिवी परियन्ति।

प्रसंग

ऋग्वेद के सूर्य सूक्त से यह मंत्र लिया गया है। इसमें सूर्य देव के रथ में जुते 'हरित' अश्वों का निरूपण किया गया है।

व्याख्या

भद्राः = कल्याण करने वाले, चित्राः = रंगबिरंगे, अद्भुत अंगों वाले, एतग्वाः = तीव्र गति वाले, आकाश में विचरण करने वाले, अनुमाद्यासः = स्तुति करने योग्य, हरितः = हरे रंग के या हरित नाम वाले, सूर्यस्य अश्वाः = सूर्य के घोड़े, नमस्यन्तः = नमस्कृत किये जाते हुए, झुककर चलते हुए, दिवः पृष्ठम् = आकाश-स्थल पर, आ अस्थुः = अधिष्ठित हो चुके हैं। सद्यः = शीघ्र ही (वे घोड़े), द्यावापृथिवी परियन्ति = द्युलोक व पृथिवीलोक में परिक्रमा कर लेते हैं।

(उदाहरण-2)

मंत्र

अद्या देवा उदिता सूर्यस्य, निरंहसः पिपृता निरवद्यात्।

तन्नो मित्रो वरुणो ममहन्तामदितिः सिन्धुः पृथिवी उत द्यौः॥

पदच्छेद (अन्वय)

देवाः! अद्य सूर्यस्य उदिता अंहसः निष्पिपृत अवद्यात् निः। नः तत् मित्रः वरुणः अदितिः सिन्धुः पृथिवी उत द्यौः ममहन्ताम्।

प्रसंग

यह मंत्र ऋग्वैदिक सूक्त 'सूर्यसूक्त' से लिया गया है। इसमें सूर्य की स्तुति की गई है। इस मंत्र में स्तुतिकार सूर्य-रश्मियों से प्रार्थना करता है कि वे पाप से मुक्त करावें और उसकी प्रार्थना स्वीकार हो।

व्याख्या

देवाः = हे सूर्य की दीप्तिमान्-रश्मियों!, अद्य = आज, इस समय, सूर्यस्य उदिताः = सूर्य के उदय होने पर, अंहसः = पाप से, निष्पिपृत = छुड़ाओ, अवद्यात् = निन्दनीय कर्म से, निः = निकालो।

नः तत् = हमारी इस प्रार्थना का, मित्रः वरुणः अदितिः सिन्धुः पृथिवी उत द्यौः = मित्र, वरुण, अदिति (अखण्डनीय शक्तिवाली देवता), सिन्धु, पृथिवी व द्युलोक— ये छः देवता, ममहन्ताम् = अनुमोदन करें।

अध्येताओं के लिए दिशा-निर्देश

ऋग्वेद के पूर्वोक्त नौ सूक्तों से सम्बद्ध पाठ यहां दिये गये हैं। उनमें प्रत्येक में मंत्रों के पदच्छेद व सप्रसंग व्याख्या के 2-2 ही उदाहरण दिये गये हैं। ये मंत्र दिशा-निर्देश के रूप में हैं ताकि उत्तर की शैली समझ सकें। प्रत्येक मंत्र के पदच्छेद व व्याख्या की जानकारी हेतु अध्येता निम्नलिखित संदर्भ-ग्रंथ का अनुशीलन करें—

1. ऋक् सूक्त संग्रह (डा. हरिदत्त शास्त्री व डा. कृष्णकुमार) प्रका. साहित्य भण्डार, सुभाष बाजार, मेरठ-2 (उ.प्र.)
2. वैदिक संग्रह (डा. कृष्णलाल), ईस्टर्न बुक लिंकर्स, दिल्ली
3. वेदसंचयनम् (डा. यदुनन्दन मिश्र), प्रका. चौखम्भा विद्या भवन, वाराणसी

1.7.10.4 अभ्यास प्रश्नावली

वस्तुनिष्ठ प्रश्न

प्रश्न-1. 'आत्मा जगतः' यह विशेषण देव के लिए है—

- | | |
|-----------|------------|
| (अ) सूर्य | (ब) अग्नि |
| (स) वरुण | (द) इन्द्र |

प्रश्न-2. 'कस्मै देवाय हविषा विधेम' यह उक्ति सूक्त में है—

- | | |
|----------------|-----------|
| (अ) अग्नि | (ब) पुरुष |
| (स) हिरण्यगर्भ | (द) सूर्य |

प्रश्न-3. 'कामस्तदग्रे समवर्तत' उक्ति सूक्त में है—

- | | |
|------------|----------------|
| (अ) नासदीय | (ब) हिरण्यगर्भ |
| (स) अग्नि | (द) सूर्य |

प्रश्न-4. 'वैदिक छन्दों में परिगणित है—

- | | |
|-----------------|--------------|
| (अ) आर्या | (ब) मालिनी |
| (स) इन्द्रवज्रा | (द) अनुष्टुप |

लघूत्तरात्मक प्रश्न

प्रश्न-1. अग्नि सूक्त का सार लिखें।

प्रश्न-2. उषस् सूक्त का सार लिखें।

- प्रश्न-3. वरुण सूक्त का सार लिखें।
 प्रश्न-4. हिरण्यगर्भ सूक्त का सार लिखें।
 प्रश्न-5. इन्द्र सूक्त का सार लिखें।
 प्रश्न-6. पुरुष सूक्त का सार लिखें।
 प्रश्न-7. सूर्य सूक्त का सार लिखें।
 प्रश्न-8. वाक् सूक्त का सार लिखें।
 प्रश्न-9. निम्नलिखित मंत्र का पदच्छेद सहित सप्रसंग हिन्दी अर्थ लिखें—

अग्निः पूर्वभिर्ऋषिभिरीड्यो नूतनैरुत।

स देवां एह वक्षति।

अथवा

अहं रुद्राय धनुरातनोमि, ब्रह्मद्विषे शरवे हन्तवा उ।

अहं जनाय समदं कृणोम्यहं द्यावापृथिवी आ विवेश॥

अथवा

इयं विसृष्टिर्यत आबभूव, यदि वा दधे यदि वा न।

यो अस्याध्यक्षः परमे व्योमन् सो अंग वेद यदि वा न वेद॥

निबन्धात्मक प्रश्न

- प्रश्न-1. इन्द्र सूक्त के आधार पर इन्द्र के महनीय कार्यों पर एक लघु निबन्ध लिखें।
 प्रश्न-2. पुरुषसूक्त के आधार पर सृष्टि-क्रम पर एक लघु निबन्ध लिखें।
 प्रश्न-3. सूर्य के लोककल्याणकारी कार्यों का विस्तार से निरूपण करें।

 इकाई-2 (अथर्ववेद)

संरचना

2.0 प्रस्तावना

2.1 उद्देश्य

2.2 अथर्ववेद परिचय

2.2.1 विविध नामकरण

2.2.2 आन्तरिक संरचना व वर्ण्य विषय

2.2.3 शाखाएं

2.2.4 महत्त्व

2.3 सारांश

2.4 अभ्यास प्रश्नावली

2.5 (अथर्ववेदीय सूक्त-1) राष्ट्राभिर्वर्द्धन सूक्त

2.5.0 प्रस्तावना

2.5.1 उद्देश्य

2.5.2 मूलपाठ, पदच्छेद व हिन्दी अर्थ

2.5.3 सूक्त सार

2.5.4 चयनित मन्त्रों की सप्रसंग/ससन्दर्भ व्याख्या

2.5.5 अभ्यास प्रश्नावली

2.6 (अथर्ववेदीय सूक्त-2) काल सूक्त

2.6.0 प्रस्तावना

2.6.1 उद्देश्य

2.6.2 मूलपाठ, पदच्छेद व हिन्दी अर्थ

2.6.3 सूक्तसार

2.6.4 चयनित मन्त्रों की सप्रसंग/ससन्दर्भ व्याख्या

2.6.5 अभ्यास प्रश्नावली

2.7 संदर्भ ग्रंथ सूची/सहायक पाठ्य सामग्री

2.0 प्रस्तावना

वेद एक ही था, किन्तु विषय-भेद से इसके चार विभाग संहिताओं के रूप में किये गये। ऐसा भी निरूपण मिलता है कि सृष्टि के प्रारम्भ में अग्नि, वायु, आदित्य व (अथर्व) अंगिरा— इन चार ऋषियों के अन्तःकरण में ये चार प्रादुर्भूत हुए और ऋक्संहिता, यजुर्वेद संहिता, सामवेद—संहिता व अथर्ववेद संहिता नाम से प्रसिद्ध हुए।

चार वेद—संहिताओं में अन्तिम अथर्ववेद संहिता है। इस वेद के दो सूक्त (1) राष्ट्राभिवर्द्धन, (2) काल सूक्त पाठ्यविषय के रूप में निर्धारित हैं। इन सूक्तों में निहितार्थ को जानने से पूर्व, इस वेद का विशेष परिचय जानना आवश्यक है। इसलिए इस पाठ में भूमिका के रूप में अथर्ववेद का विशेष परिचय यहां दिया जा रहा है।

2.1 उद्देश्य

1. अथर्ववेद के स्वरूप व वैशिष्ट्य से अध्येताओं को परिचित कराना।
2. राष्ट्राभिवर्द्धन सूक्त व काल सूक्त में निहितार्थ से अवगत कराना।

2.2 अथर्ववेद—परिचय

इसमें लौकिक सामग्री का प्राचुर्य होने से यह संहिता अन्य संहिताओं से विलक्षण है। अन्य संहिताओं में धर्म व यज्ञानुष्ठान को प्रमुखता दी गई है, जबकि इसमें यज्ञेतर विषयों का बहुलता से निरूपण प्राप्त होता है। भौतिक बाधाओं के निवारण एवं जादू-टोने से सम्बन्धित प्रचुर सामग्री इसमें प्राप्त होती है। विभिन्न शीर्षकों के अन्तर्गत, इस वेद का विशेष परिचय प्रस्तुत है।

2.2.1 विविध नामकरण

(ब्रह्मवेद)

याज्ञिक कार्य को सम्पन्न कराने हेतु चार प्रकार के ऋत्विक् (यज्ञ कराने वाले पुरोहित) होते हैं—ब्रह्म, अध्वर्यु, होता व उद्गाता। ऋग्वेद का ज्ञाता 'होता' कहा जाता था। यजुर्वेद का ज्ञाता अध्वर्यु और सामवेद का ज्ञाता उद्गाता कहा जाता था। इनमें प्रमुख पद पर ब्रह्मा अभिषिक्त (नियुक्त) किये जाते हैं। यह ब्रह्म अथर्ववेद के ज्ञाता होते हैं। ब्रह्मा याज्ञिक कार्यों का निरीक्षण करते हैं तथा विविध क्रियाओं की अनुमति देते हैं। ब्रह्मा ही यज्ञ की विघ्न-बाधाओं का निवारण करते हैं। ब्रह्मा नामक पुरोहित को अथर्वन् कहा जाता था। अथर्ववेद का संकलन (संहिता रूप में विभाजन) ब्रह्मा (ऋत्विक्) के कार्य-निर्देश हेतु किया गया था। इसलिए इस वेद का नाम 'ब्रह्मवेद' भी है।

इसमें मंत्र, औषधि एवं उच्चाटन विषयक मंत्रों के अतिरिक्त, यज्ञसम्बन्धी एवं ब्रह्मविद्या-विषयक मंत्र भी हैं। अतः ब्रह्मज्ञान तथा पारलौकिक मोक्ष का प्रतिपादन करने के कारण भी उसे 'ब्रह्मवेद' कहा गया।

अथर्ववेद में ऐसे मंत्रों का संग्रह है, जो भौतिक बाधाओं व विघ्नों को दूर करते हैं। अथर्व का अर्थ जादू-टोना भी था। इसमें जादू-टोने आदि का भी वर्णन है, इसलिए इसका नाम अथर्ववेद पड़ा, अथर्ववेद के शाप, वशीकरण, मारण, मोहन, उच्चाटन, आशीर्वाद, प्रार्थना आदि विषयों से सम्बद्ध समग्र मंत्रों को 'ब्राह्मणि' कहा जाता है, इस कारण भी इसे ब्रह्मवेद कहा जाता है।

(अथर्वगिरस वेद)

अंगिरस ऋषि स्वर्ग से अग्नि को लाने वाले थे। उन्हीं के वंशज अथर्वा ऋषि थे, इसलिए उन्हें अंगिरस कहा जाता था। अंगिरस-पुत्र अथर्वा ने वेदत्रयी (ऋक्, यजु, साम) से लोकपरक अर्थात् भौतिकता या सांसारिक भोग की प्रधानता वाले मंत्रों का संग्रह तैयार किया, जो उनके नाम पर अथर्वगिरस नाम से प्रसिद्ध हुआ और चौथे वेद 'अथर्ववेद' रूप में मान्य हुआ। अतः इस वेद को अथर्वगिरस भी कहा जाता है। प्रसिद्ध अमरीकी भाषाशास्त्री ब्लूमफील्ड के मत में अथर्वन् और अंगिरस—ये दो भिन्न-भिन्न प्रकार के जादू-मंत्रों के बोधक हैं। अथर्वन् नामक ऋषि से सम्बद्ध मन्त्र तो शान्ति-पुष्टि आदि सौम्य कर्मों के प्रतिपादक हैं, जबकि अंगिरस के मन्त्र अभिचार-कर्मा अर्थात् मारण, मोहन, उच्चाटन, वशीकरण आदि के निरूपक हैं। वस्तुतः इन दोनों ऋषियों के मन्त्र (उनके द्वारा साक्षात्कृत मन्त्र) अथर्ववेद में आए हैं।

इस सम्बन्ध में ऐसा भी उल्लेख शास्त्रों में मिलता है कि कल्प के आदि में स्वयम्भू ब्रह्मा ने सृष्टि-रचना के विचार से घोर तप किया। उनके शरीर से स्वेद-धारा बह निकली। उससे 'अथर्वा' उत्पन्न हुए। ब्रह्म के रोमकूपों से पुनः दूसरी धारा निकली, उससे अंगिरस की उत्पत्ति हुई। ब्रह्मा ने उन दोनों के शरीर में प्रविष्ट होकर 20 पुत्र पैदा किये। वे सभी मन्त्रद्रष्टा हुए। वे ऋषि 20 थे, अतः अथर्ववेद में 20 काण्ड हैं। अथर्वा व अंगिरस— इन दो प्रमुख ऋषियों की प्रमुखता से वह मन्त्र-संग्रह 'अथर्वगिरस' कहलाया।

ब्रह्मवेद व अथर्वगिरस वेद— इन नामों के अतिरिक्त भी अथर्ववेद के अन्य नाम हैं। उदाहरण—स्वरूप, 1. क्षत्रवेद (राजाओं व क्षत्रियों के कर्तव्यों का निर्देश होने से) 2. भैषज्यवेद (आयुर्वेद, चिकित्सा, औषधि आदि का वर्णन होने से) 3. छन्दोवेद (छन्दः प्रधान होने से) आदि।

2.2.2 आन्तरिक संरचना व वर्ण्यविषय

अथर्ववेद 20 काण्डों में विभक्त है। काण्ड प्रपाठकों में विभक्त हैं। प्रपाठकों में सूत्र संगृहीत हैं। सूक्तों में मन्त्र हैं। कुल मंत्रों की संख्या लगभग 6 हजार (से कुछ कम) है। इन मंत्रों में 1200 मन्त्र ऐसे हैं, जो ऋग्वेद में भी हैं, अर्थात् वहां से लिये गये हैं।

अथर्ववेद में पद्यात्मक व गद्यात्मक—दोनों तरह के सूक्त हैं। प्रायः 80 सूक्त गद्यात्मक हैं, शेष पद्यात्मक।

(वर्ण्य विषय)

अथर्ववेद में जादू-टोने एवं अभिचार-कृत्यों (मारण, उच्चाटन, वशीकरण आदि) से सम्बद्ध विषयों का बहुलता से निरूपण हुआ है। भौतिक बाधाओं को दूर करने के उपाय भी वर्णित हैं। इसके अतिरिक्त भी अन्य महत्त्वपूर्ण विषयों की सामग्री इसमें उपलब्ध है।

काण्डों के अनुसार अथर्ववेद में विषय-वस्तु इस प्रकार है—प्रथम काण्ड में विविध रोगों की निवृत्ति, बन्धन से मुक्ति, राक्षसों का विनाश, सुख-प्राप्ति आदि का निरूपण है। द्वितीय काण्ड में रोग, शत्रु एवं कृमि के नाश का वर्णन तथा दीर्घायुष्य की प्रार्थना है। तृतीय काण्ड में शत्रुसेना का सम्मोहन, राजा का निर्वाचन, शाला-निर्माण, कृषि तथा पशुपालन का विवरण है। चतुर्थ काण्ड में मुख्यतः ब्रह्मविद्या, विषनाशन, राज्याभिषेक, वृष्टि, पापमोचन तथा ब्रह्मौदन का वर्णन है। पंचम काण्ड में मुख्यतः ब्रह्मविद्या और कृत्या (राक्षसी) के परिहार से सम्बद्ध मंत्र है। षष्ठ काण्ड में दुःस्वप्न-नाश और अन्न-समृद्धि के मंत्र हैं। सातवें काण्ड में आत्मा का वर्णन है। आठवें काण्ड में मुख्यतः विराट् ब्रह्म का वर्णन है। नवम काण्ड में मधुविद्या, पंचौदन अज, अतिथि-सत्कार, गोमहिमा एवं यक्ष्म का नाश-ये विषय हैं। दशम काण्ड में कृत्या-निवारण, ब्रह्मविद्या, शत्रुनाश के लिए वरण मणि, सर्पविषनाशन एवं ज्येष्ठ ब्रह्म का वर्णन है।

ग्यारहवें काण्ड में ब्रह्मौदन, रुद्र तथा ब्रह्मचर्य का वर्णन है। द्वादश काण्ड में प्रसिद्ध पृथ्वी सूक्त है, जिसमें भूमि का महत्त्व वर्णित है। त्रयोदश काण्ड में पूर्णतः अध्यात्म-प्रकरण है। चतुर्दश काण्ड विवाह-संस्कार से सम्बद्ध है, पंचदश काण्ड में ब्राह्म-ब्रह्म का गद्य में वर्णन है। षोडश काण्ड में दुःखमोचन के लिए गद्यात्मक मंत्र हैं। सप्तदश काण्ड में अभ्युदय के लिए प्रार्थना है, इसमें एक सूक्त और कुल तीस मंत्र हैं। अष्टादश काण्ड पितृमेध से सम्बद्ध है। एकोनविंश काण्ड में विविध विषय हैं—यज्ञ, नक्षत्र, विविध मणियां, छन्दों के नाम, राष्ट्र का वर्णन, काल का महत्त्व। विंश काण्ड में सोमयाग का वर्णन तथा इन्द्र की स्तुति है। इसके अंत में 10 सूक्त 'कुन्ताप-सूक्त' के नाम से प्रसिद्ध हैं (20/127-36), जिनमें देवता, ऋषि, छन्द या विनियोग किसी का निर्देश नहीं है, इनका पद-पाठ भी नहीं है। ये खिल-सूक्त हैं।

काण्डों को उपर्युक्त विषय सूची के आधार पर अथर्ववेद के सूक्तों में प्रतिपादित विषयों को तीन वर्गों में रखा गया है—**1. अध्यात्म प्रकरण**— इसमें शुद्ध दर्शन के साथ ब्रह्मचर्य, गृहस्थ, वानप्रस्थ-संन्यास (ब्राह्म), आयुर्वेद, औषधि-भैषज्य, रोगादिनिवारण, कृमिनाशन, विषनाशन तथा अरिष्टनाशन का विवेचन है। **2. अधिभूतप्रकरण**— इसके अन्तर्गत राज्यशासन, विजयसाधन, राष्ट्र का वर्णन, संग्राम और सेना-संयोजन, शत्रुनाशन, मणिधारण, पापादिनाशन, अन्न-समृद्धि तथा सुख-सम्पत्प्राप्ति का वर्णन है। **3. अधिदैवतप्रकरण**— इसके अन्तर्गत विविध देवताओं (जैसे-अग्नि, आदित्य, इन्द्र, उषा, विष्णु, सूर्य आदि) की स्तुतियां, यज्ञादि, काल, पशु-पालन एवं वैश्यकव्यवसाय का निरूपण रखा गया है।

कुछ विद्वानों के अनुसार, आयुर्विज्ञान-सम्बन्धी-विवरण भी इस वेद में हैं। इसके 731 सूत्रों में से 144 सूक्तों में आयुर्विज्ञान का निरूपण हुआ है। 244 सूक्तों में राज-धर्म का उपदेश है। 75 सूक्तों में समाज-व्यवस्था का निरूपण है। आयुर्विज्ञान के अन्तर्गत, शरीर-रचना, शारीरिक-मानसिक रोगों आदि का निरूपण किया गया है।

उपर्युक्त विषयों के अतिरिक्त भी अथर्ववेद में कतिपय महत्त्वपूर्ण सामग्री है। इसके बीसवें काण्ड में यज्ञ-विषयक मंत्र हैं, जो अथर्ववेद को 'वेद' की श्रेणी दिलाने के लिए संकलित हैं। सोलहवें काण्ड में भी यज्ञ-विधि का वर्णन है, जिसके अन्तर्गत मुख्यतः यज्ञ को पवित्र करने वाले जल (आपः) की स्तुति है (शिवेन मा चक्षुषा पश्यतापः शिवया तन्वोप स्पृशत त्वचो में 16/1/12)) 18 वें काण्ड में अन्त्येष्टि-संस्कार तथा पितृपूजा से सम्बद्ध मंत्र हैं। 20वें काण्ड के मंत्र सोमयाग से सम्बद्ध हैं। इस काण्ड के कुन्ताप-सूक्तों में (127-36) यज्ञ, दानस्तुति तथा दक्षिणा से सम्बद्ध ब्राह्मणों के हास-परिहासमय वार्तालाप हैं।

अथर्ववेद में पृथिवी-सूक्त (12/1) की गणना भूमि के प्रति प्रेम के प्रदर्शन के कारण की जाती है। मातृभूमि की वंदना एक भक्त पुत्र की दृष्टि से इसमें की गई है—माता भूमिः पुत्रोऽहं पृथिव्याः (12/1/12)। काव्यत्व के साथ धार्मिकता का भी इस सूक्त में सन्निवेश है। भूमि का सर्वांगपूर्ण वर्णन करने वाले इस सूक्त में कुल 63 मंत्र हैं। एक मंत्र है—

यस्यां गायन्ति नृत्यन्ति भूम्यां मर्त्या व्यैलवाः।

युध्यन्ते यस्यामक्रन्दो यस्यां वदति दुन्दुभिः।

सा नो भूमिः प्र णुदतां सपत्नानसपत्नं मा पृथिवी कृणोतु।। (12/1/41)

“जिस भूमि में विविध भाषाएं बोलने वाले (व्यैलवाः) मानव गाते हैं, नाचते हैं और युद्ध भी करते हैं, जिसमें गर्जन-तर्जन (आक्रन्दः) भी होता है, जहां नगाड़ा भी बोलता है, वही भूमि हमारे शत्रुओं को (सपत्नान्) दूर भगा दे (प्र+नुदताम्) तथा पृथिवी मुझे शत्रुहीन कर दे।” इस प्रकार पृथ्वी के विविध रूपों का वर्णन करते हुए अभीष्ट की प्राप्ति और अनिष्ट के परिहार की प्रार्थना की गयी है।

अथर्ववेद का 'राष्ट्राभिवर्द्धनम्' सूक्त पाठ्य-विषय रूप में निर्धारित है। इस सूक्त में भी राष्ट्रभक्ति का संकेत उपलब्ध है।

2.2.3 शाखाएं

महाभाष्य में अथर्ववेद की 9 शाखाओं का निर्देश है (नवधाथर्वणो वेदः)। इनके नाम क्रमशः इस प्रकार हैं—पैप्पलाद, तौद, मौद, शौनकीय, जाजल, जलद, ब्रह्मवेद, देवदर्श तथा चारणवैद्य। अभी केवल दो शाखाओं (पैप्पलाद एवं शौनकीय) की संहिताएं मिलती हैं। शौनकीय या शौनक शाखा का अथर्ववेद प्रचलन में है।

पैप्पलाद-संहिता कश्मीर में शारदालिपि में प्राप्त हुई थी, जिसका ब्लूमफील्ड ने 1901 ई. में प्रकाशन कराया था। बाद में डा. रघुवीर ने भी इसका संस्करण किया। इसे 'कश्मीरी अथर्ववेद' कहा गया था।

अथर्ववेद-साहित्य के अन्तर्गत गोपथ ब्राह्मण, वैतान श्रौतसूत्र, कौशिक गृह्यसूत्र, पैथीनसी धर्मसूत्र हैं। अथर्ववेद से सम्बद्ध उपनिषदों में प्रश्नोपनिषद्, मण्डूक उपनिषद् व माण्डूक्य उपनिषद् परिगणित हैं। इनमें प्रश्नोपनिषद् पैप्पलाद शाखा से, और मण्डूक व माण्डूक्य उपनिषद् शौनक शाखा से सम्बद्ध हैं।

2.2.4 महत्त्व

धार्मिक दृष्टि से अथर्ववेद का संकलन 'ब्रह्मा' (एक ऋत्विक्) के कार्य के निर्देश के लिए हुआ था, जो यज्ञ का सर्वविद् निरीक्षक होता है। इसके बीसवें काण्ड में सोमयाग का वर्णन है, जो वैदिक यागों में सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण है। फिर भी अन्य वैदिक संहिताओं की अपेक्षा इसमें धार्मिक परिवेश की अल्पता है, लौकिक तथा दार्शनिक विषय ही इसमें मुख्य हैं। लौकिक दृष्टि से तात्कालिक सभ्यता और संस्कृति से सम्बद्ध सर्वाधिक प्रामाणिक और व्यापक सामग्री अथर्ववेद में मिलती है, यद्यपि इसे धर्म के परिधान से आवृत करने का अनुपद प्रयास हुआ। आधुनिक भौतिकवाद के समर्थक भी इसीलिए वेदों में इसे महत्त्व देते हैं कि जनता की भावनाएं इसके मंत्रों में मुखर हुई हैं। अपने युग के ज्ञान-विज्ञान, आयुर्विज्ञान, वनस्पतियों के भैषज्य-गुण इत्यादि का समावेश इस वेद में किया गया है।

राजशास्त्र का पुष्कल निरूपण अथर्ववेद में मिलता है। राष्ट्र, देशरक्षा, राजकर्तव्य, प्रजा के समानाधिकार, मित्रराष्ट्र, सैन्य-शासन, राजा का निर्वाचन, सभा-समिति-संसद, दण्ड-विधान, सेनापति, अस्त्र-शस्त्र इत्यादि विषयों का उल्लेख होने से अथर्ववेद को 'क्षत्रवेद' तक कहा गया है। जन-भावना के अन्तर्गत रीति-रिवाज, अन्धविश्वास, जादू-टोना, कृत्या-प्रयोग, अभिचार-कर्म, जड़ी-बूटी का प्रयोग, वशीकरण आदि विषयों पर पर्याप्त सामग्री इसमें दी गयी है। इस प्रसंग में ऐसे अनेक मंत्र दिये गये हैं, जिनमें अपूर्व शक्ति मानी गयी है। परवर्ती ग्रंथों में भी यह विश्वास निरूपित हुआ है।

दर्शन की दृष्टि से यह ऋग्वेद की अपेक्षा अधिक महत्त्वपूर्ण है। अध्यात्मप्रकरण इस वेद का अत्यन्त विस्तृत विषय है। इसमें विराट् ब्रह्म, उच्छिष्ट ब्रह्म, माया, ईश्वर, जीवात्मा, प्रकृति, पुनर्जन्म, स्वर्ग-नरक, मधुविद्या, रोहित ब्रह्म, काल, वात्य आदि का वर्णन दार्शनिक परिधि की विशालता का सूचक है।

पृथ्वीसूक्त व राष्ट्राभिवर्द्धन नामक सूक्तों में देश-भक्ति के बीज प्राप्त होते हैं। कुल मिलाकर ज्ञान-विज्ञान, समाज, राजनीति, दर्शन आदि पक्षों का व्यापक निरूपण करने के कारण अथर्ववेद वैदिक वाङ्मय का एकमात्र सर्वांगपूर्ण ग्रन्थ है। अन्य संहिताएं जहां धर्म को केन्द्रित करके विषयों का विस्तार करती हैं, वहां अथर्ववेद धर्मोत्तर परिवेश को सामग्री से कसा हुआ है।

2.3 सारांश

अथर्ववेद चार वेदों में अन्तिम है। अंगिरा ऋषि के अन्तःकरण में यह वेद प्रादुर्भूत हुआ। इसमें यज्ञेतर विषयों की, लौकिक भौतिक विषयों की सामग्री की अधिकता है। यज्ञ-सम्पादन में संभावित भौतिक बाधाओं के निराकरण-हेतु तथा जादू-टोनों व अभिचार-कृत्यों (मारण, उच्चाटन, वशीकरण आदि) के सम्पादन-हेतु उपयोगी सामग्री का इसमें संकलन है। यज्ञीय कृत्यों के अनुष्ठान में ऋषियों की महत्त्वपूर्ण भूमिका होती है, इसमें ब्रह्मा का विशेष स्थान है। उसी ब्रह्मा के कार्यों में निर्देशन व सहायक होने में यह वेद उपयोगी है। इसीलिए इसे ब्रह्मवेद भी कहा जाता है। अंगिरस (यानी अंगिरा के वंशज) अथर्वा द्वारा संकलित होने के कारण, इसका नाम अथर्वांगिरस भी है। इसके अन्य नाम भी हैं।

यह काण्ड-प्रपाठक-सूक्तों में विभक्त है। काण्डों में यज्ञ के अतिरिक्त भी अनेक महत्त्वपूर्ण सामग्री उपलब्ध है, जो भौतिक जीवन में उपयोगी है। इसकी 9 शाखाएं थीं, जिनमें अब दो शाखाएं-पैप्पलाद व शौनक-ये उपलब्ध हैं। अपने वर्ण्य विषय की विविधता व महत्ता की दृष्टि से यह वेद अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है।

संक्षेप में, 1. यज्ञीय अनुष्ठान, 2. भौतिक सुख-सुविधा, अर्थात् इष्ट की प्राप्ति व अनिष्ट-निवारण तथा 3. तत्कालीन सभ्यता व संस्कृति का परिज्ञान- इन सभी दृष्टियों से इस वेद की महत्ता व उपादेयता निर्विवाद है।

2.4 अभ्यास प्रश्नावली

वस्तुनिष्ठ प्रश्न

प्रश्न-1. अथर्ववेद की शाखा उपलब्ध है-

- | | |
|----------|---------------|
| (अ) मौद | (ब) तौद |
| (स) शौनक | (द) आश्व लायन |

प्रश्न-2. अथर्ववेद से सम्बद्ध उपनिषद् है-

- | | |
|-----------------------|-------------------------|
| (अ) कठ उपनिषद् | (ब) प्रश्न उपनिषद् |
| (स) तैत्तिरीय उपनिषद् | (द) श्वेताश्वतर उपनिषद् |

प्रश्न-3. यज्ञ-सम्पादन में ऋत्विजों की संख्या होती है-

- | | |
|----------|---------|
| (अ) सात | (ब) तीन |
| (स) पांच | (द) चार |

लघूत्तरात्मक प्रश्न

प्रश्न-1. अथर्ववेद की संरचना पर प्रकाश डालें।

प्रश्न-2. अथर्ववेद को ब्रह्मवेद क्यों कहा जाता है? स्पष्ट करें।

निबन्धात्मक प्रश्न

- प्रश्न-1. अथर्ववेद के प्रतिपाद्य विषय पर प्रकाश डालें।
- प्रश्न-2. अथर्ववेद की महत्ता-उपादेयता पर एक लघु निबन्ध लिखें।
- प्रश्न-3. अथर्ववेद का स्वरूप-परिचय दें।

2.5 (अथर्ववेदीय-सूक्त) राष्ट्राभिवर्द्धन सूक्त

संरचना

- 2.5.0 प्रस्तावना
- 2.5.1 उद्देश्य
- 2.5.2 मूल पाठ, पदच्छेद, हिन्दी अर्थ
- 2.5.3 सूक्तसार
- 2.5.4 चयनित मंत्रों की सप्रसंग/ससन्दर्भ व्याख्या
- 2.5.5 अभ्यास प्रश्नावली

2.5.0 प्रस्तावना

इस अथर्ववेद के सूक्त का नाम है-राष्ट्राभिवर्द्धन। यह प्रथम मण्डल का उन्नीसवां सूक्त है। इसका शीर्षक है-राष्ट्र की अभिवृद्धि। इस सूक्त के देवता हैं-ब्रह्मणस्पति। इसके ऋषि हैं-अथर्वा। यह अनुष्टुप् छन्द में रचित है। इसमें कुल ऋचाएं (मंत्र) 6 हैं। इस सूक्त में निहितार्थ को स्पष्ट करने हेतु इस पाठ के मूल, अर्थ, पदच्छेद आदि के साथ इस सूक्त को प्रस्तुत किया जा रहा है।

2.5.1 उद्देश्य

‘राष्ट्राभिवर्द्धन’ सूक्त के प्रत्येक मंत्र में निहितार्थ से अध्येता को परिचित कराना।

2.5.2 मूलपाठ, पदच्छेद व हिन्दी अर्थ

मंत्र-1

अभीवर्तेन मणिना, येनेन्द्रो अभिवावृधे।

तेनास्मान् ब्रह्मणस्पते, ऽभि राष्ट्राय वर्धय ॥

अन्वय (पदच्छेद)

अभीवर्तेन मणिना येन इन्द्रः अभिवावृधे। हे ब्रह्मणस्पते! तेन अस्मान् राष्ट्राय वर्धय।

हिन्दी अनुवाद— चारों ओर (अप्रतिहतगति से) घूमने वाली मणि से, जिससे इन्द्र बड़ा हुआ, हे ब्रह्मणस्पति, उस (मणि) से हम लोगों को राष्ट्र (की समृद्धि) के लिए समृद्ध करो।

मंत्र-2

अभिवृत्य सपत्ना नभि या नो अरातयः।

अभि पृतन्यन्तं तिष्ठा भि यो नो दुरस्यति॥

अन्वय (पदच्छेद)

सपत्नान् अभिवृत्य याः नः अरातयः (तान् अभि)।

पृतन्यन्तम्, अभितिष्ठ, यः नः दुरस्यति तमभितिष्ठा॥

हिन्दी अनुवाद— विपक्षियों को चारों तरफ से घेर कर, जो हमको (दान) नहीं देने वाले हैं, उनको भी घेर कर तथा जो हमसे युद्ध की इच्छा करने वाले हैं उनको भी घेर कर पराजित करो, जो हमसे दुर्व्यवहार करता है उसको भी पराजित करो।

मंत्र-3

अभि त्वा देवः सविता-भि सोमो अवीवृधत्।

अभि त्वा विश्वा भूता-न्यभीवर्तो यथाससि॥

अन्वय (पदच्छेद)

त्वा देवः सविता अभि अवीवृधत्, सोमः अभि (अवीवृधत्) विश्वाभूतानि त्वा अभि (अवीवृधत्) यथा अभीवर्तः अससि॥

हिन्दी अनुवाद— सवितृदेव ने तुमको चारों ओर से समृद्ध किया है, सोम ने तुमको चारों ओर से समृद्ध किया है, सम्पूर्ण प्राणियों ने तुमको चारों ओर से समृद्ध किया है, ताकि तुम चारों ओर घूमने वाले बने रहो।

मंत्र-4

अभीवर्तो अभिभवः सपत्नक्षयणो मणिः।

राष्ट्राय मह्यं बध्यतां, सपत्नेभ्यः पराभुवे॥

अन्वय (पदच्छेद)

अभीवर्तः अभिभवः सपत्नक्षयणः मणिः राष्ट्राय सपत्नेभ्यः पराभुवे मह्यम् बध्यताम्॥

हिन्दी अनुवाद— चारों ओर घूमने वाली, पराजित करने वाली तथा विपक्षियों का संहार करने वाली मणि, राष्ट्र की समृद्धि के लिए तथा विपक्षियों को पराजित करने के लिए मुझमें बँधे।

मंत्र-5

उदसौ सूर्यो अगादुदिदं मामकं वचः ।

यथाहं शत्रुहोऽसा-न्यसपत्नः सपत्नहा ॥

अन्वय (पदच्छेद)

असौ सूर्यः उत् अगात् । इदं मामकं वचः उत् यथा शत्रुऽहः अहम् असपत्नः सपत्नहा असानि ॥

हिन्दी अनुवाद— यह सूर्य ऊपर चला गया है, मेरा यह मंत्र भी ऊपर गया है, जिससे कि मैं शत्रु को मारने वाला, प्रतिद्वन्द्वी-रहित एवं प्रतिद्वन्द्वियों को मारने वाला होऊँ।

मंत्र-6

सपत्नक्षयणो वृषा-भिराष्ट्रो विषासहिः ।

यथाहमेषां वीराणां विराजानि जनस्य च ॥

अन्वय (पदच्छेद)

सपत्नक्षयणः वृषा अभिराष्ट्रः विषासहिः अहम् एषां वीराणां जनस्य च विराजानि ॥

हिन्दी अनुवाद— प्रतिद्वन्द्वी को नष्ट करने वाला, प्रजाओं की इच्छा को पूरा करने वाला, राष्ट्र को सामर्थ्य से प्राप्त करने वाला तथा जीतने वाला (होऊँ), ताकि मैं शत्रुओं के इन वीरों का तथा (अपने एवं पराये) लोगों का शासक बनूँ।

2.5.3 सूक्त सार

स्तुतिकार मणिविशेष को प्राप्त करने की कामना ब्रह्मणस्पति देव से कर रहा है। उस राष्ट्रमणि के धारण से इन्द्र महान् हुआ है, शक्तिशाली हुआ है। इन्द्र की सामर्थ्य-वृद्धि में उस मणि का योगदान है। सविता, सोम आदि देवों द्वारा वह मणि समृद्ध की गई है। स्तुतिकार की कामना है कि शत्रुओं को पराजित करने वाली शत्रु-संहारक मणि उसे प्राप्त हो, ताकि वह (स्तुतिकार) उस मणि-विशेष को प्राप्त कर, उसके सामर्थ्य से प्रतिद्वन्द्वियों को नष्ट कर सके, अपनी इच्छा की पूर्ति कर सके और सबका शासक बने।

वस्तुतः व्यक्ति या व्यष्टि के विकास से समष्टि या समाज का विकास होता है, सामाजिक विकास से राष्ट्र का विकास होता है। अतः स्तुतिकार की कामना है कि वह स्वयं के विकास से, अपने सामर्थ्य में वृद्धि करके राष्ट्र का संवर्द्धन करे।

प्रजा की समृद्धि से, उसके शक्तिशाली होने से ही राष्ट्र की समृद्धि व शक्ति में वृद्धि संभव है। राष्ट्रीय भावना से ओतप्रोत यह सूक्त शत्रुओं के पराजय व अभिवृद्धि का उद्घोषक है। दुर्व्यवहार करने वाले विपक्षियों को पराजित कर प्रत्येक व्यक्ति राष्ट्र का संवर्द्धक बन सकता है, अतः वह शत्रुनाशक सामर्थ्य उसे प्राप्त हो—इसकी कामना इस सूक्त की मूल भावना है।

2.5.4 चयनित मंत्रों की सप्रसंग/ससन्दर्भ व्याख्या

उदाहरण-1

मंत्र

अभीवर्तेन मणिना, येनेन्द्रो अभिवावृधे।

तेनास्मान् ब्रह्मणस्पते, ऽभि राष्ट्राय वर्धय॥

प्रसंग/संदर्भ

यह मंत्र अथर्ववेदीय 'राष्ट्राभिवर्द्धन' सूक्त से लिया गया है। स्तुतिकार ब्रह्मणस्पति देव से मणिविशेष की प्राप्ति की कामना कर रहा है, ताकि वह इन्द्र की तरह ही समृद्धि व शक्ति से सम्पन्न हो सके।

व्याख्या

अभीवर्तेन मणिना = चारों तरफ घूमने वाली मणि विशेष है, येन इन्द्रः अभिवावृधे = जिस मणि से, जिसके निमित्त से, इन्द्र समृद्ध हुआ, हे ब्रह्मणस्पते! तेन = हे ब्रह्मणस्पति देव! उस मणि से, अस्मान् = हम लोगों को, राष्ट्राय = राष्ट्र की अभिवृद्धि के लिए, अभिवर्द्धय = समृद्ध करो।

भावार्थ यह है कि जिस मणि-विशेष ने इन्द्र को महान् समृद्ध व शक्तिशाली बनाया, उस मणि द्वारा हमें भी समृद्ध करो, ताकि राष्ट्र की अभिवृद्धि हो— ऐसी प्रार्थना या कामना ब्रह्मणस्पति देव से की गई है।

उदाहरण-2

मंत्र

अभीवर्तो अभिभवः सपत्नक्षयणो मणिः।

राष्ट्राय मह्यं बध्यतां, सपत्नेभ्यः पराभुवे॥

प्रसंग/संदर्भ

अथर्ववेद के सूक्त 'राष्ट्राभिवर्द्धन' से यह मंत्र लिया गया है। स्तुतिकार की प्रार्थना है कि शत्रुसंहारक मणि ने जिस प्रकार इन्द्र को समृद्ध व शक्तिमान् बनाया, उसी प्रकार मुझे भी प्राप्त हो और मैं भी विपक्षियों को पराजित कर राष्ट्र को समृद्ध कर सकूँ। यह प्रार्थना ब्रह्मणस्पति देवता से की गई है।

व्याख्या

अभीवर्तः = चार ओर घूमने वाली, अभिभवः = (शत्रुओं को) पराजित करने वाली, शत्रुओं का नाश करने वाली, मणि= मणि-विशेष, राष्ट्राय = राष्ट्र की समृद्धि के लिए, तथा सपत्नेभ्यः पराभुवे= विपक्षियों को पराजित करने के लिए, मह्यं बहयताम्= मुझ से बंधे, मैं उसे धारण कर सकूँ।

भावार्थ यह है कि शत्रुनाशक मणि मुझे प्राप्त हो, ताकि राष्ट्र की समृद्धि कर सकूँ और विपक्षियों का नाश कर सकूँ।

2.5.5 अभ्यास प्रश्नावली**लघूत्तरात्मक प्रश्न**

प्रश्न-1. निम्नलिखित मन्त्र की ससंदर्भ व्याख्या करें

अभीवर्तो अभिभवः सपत्नक्षयणो मणिः।

राष्ट्राय मह्यं बध्यतां सपत्नेभ्यः पराभुवे॥

प्रश्न-2. सूक्त में वर्णित मणि की क्या विशेषताएं हैं? प्रकाश डालें।

प्रश्न-3. राष्ट्राभिवर्द्धन सूक्त का सार लिखें।

निबन्धात्मक प्रश्न

प्रश्न-1. अथर्ववेद की महत्ता बताते हुए, राष्ट्राभिवर्द्धन सूक्त की महत्ता पर एक लघुनिबन्ध लिखें।

प्रश्न-2. राष्ट्राभिवर्द्धन सूक्त का सार लिखकर, इस सूक्त के संदेश या मूलभावना पर अपने विचार प्रस्तुत करें।

2.6 (अथर्ववेदीय सूक्त-2) काल सूक्त**संरचना**

2.6.0 प्रस्तावना

2.6.1 उद्देश्य

2.6.2 मूलपाठ, पदच्छेद व हिन्दी अर्थ

2.6.3 सूक्तसार

2.6.4 चयनित मंत्रों की सप्रसंग/ससंदर्भ व्याख्या

2.6.5 अभ्यास प्रश्नावली

2.6.0 प्रस्तावना

अथर्ववेद के 19वें काण्ड के 53 वें सूक्त का नाम 'काल सूक्त' है। इसके मंत्रद्रष्टा ऋषि हैं—भृगु। इसके देवता हैं— काल। यह त्रिष्टुप्, बृहती व अनुष्टुप् छन्द में रचित है। इसमें समस्त जगत् के कारणभूत काल रूपी परमात्मा की स्तुति की गई है। कालचक्र समस्त विश्व में भ्रमणशील है। उसकी महत्ता का निरूपण इस सूक्त में किया गया है। इस सूक्त के मूल पाठ व हिन्दी अर्थ को यहां प्रस्तुत किया जा रहा है, ताकि इस सूक्त में निहित संदेश को हृदयंगम किया जा सके।

2.6.1 उद्देश्य

कालसूक्त के प्रत्येक मंत्र में निहित अर्थ से अध्येता को परिचित कराना।

कालरूप परमात्मा के स्वरूप से अध्येता को परिचित कराना।

2.6.2 मूल पाठ, पदच्छेद व हिन्दी अर्थ

(1)

कालो अश्वो वहति सप्तरश्मिः सहस्राक्षो अजरो भूरिरेताः।

तमा रोहन्ति कवयो विपश्चितस्तस्य चक्रा भुवनानि विश्वा॥

अन्वय (पदच्छेद)— कालः अश्वः सप्तरश्मिः, सहस्राक्षः, अजरः, भूरिरेताः वहति। तम् कवयः विपश्चितः आ रोहन्ति, तस्य चक्रा विश्वा भुवनानि।

हिन्दी अर्थ— ऋषि भृगु 'काल' का अश्वरूप से निरूपण करते हुए कहते हैं कि सात रश्मियों (किरणों) वाला, सहस्र लोचन वाला, अजर अर्थात् नित्य तरुण रहने वाला, भूरि वीर्य वाला अर्थात् संतान उत्पन्न करने में समर्थ अश्व अपने सवारों को इच्छित स्थानों पर पहुंचा देता है। उस अश्व पर चढ़ने—उतरने में चतुर पुरुष चढ़ते हैं। उस अश्व के चक्र अर्थात् गंतव्य स्थान सकल भुवन हैं।

इस मंत्र का दूसरे प्रकार से अर्थ इस प्रकार होगा— जो भूत, भविष्य और वर्तमान की सब वस्तुओं को व्याप्त कर लेते हैं वह अश्व, अनवच्छिन्न कालरूप परमेश्वर सब जगत् के कलयिता हैं। सात रश्मि अर्थात् ऋतु वाले हैं, वह दिन—रात रूप सहस्र नेत्रों वाले हैं, सदा एकरूप रहने वाले अजर हैं, प्रभूत जगत् को रचने की शक्ति से सम्पन्न भूरिरेता हैं। ऐसे काल सब प्राणियों को अपने—अपने कार्य में लगाते हैं। उन कालों को क्रान्तदर्शी विद्वान् पुरुष स्वाधीन कर लेते हैं। उस कालात्मक रथ के चक्र सब भुवनों में जाते हैं।

कठिन शब्दार्थ— विश्वा भुवनानि = सब सत्ता वाले लोक। वहति = चलता रहता है। तम् आरोहन्ति = उस पर चढ़ते हैं।

(2)

सप्त चक्रान् वहति काल एष सप्तास्य नाभीरमृतं न्वक्षः ।

स इमा विश्वा भुवनान्यजजत् कालः स ईयते प्रथमो नु देवः ॥

अन्वय (पदच्छेद)— एषः कालः सप्त चक्रान् वहति, अस्य सप्त नाभी, अक्षः नु अमृतम् । सः इमा विश्वा भुवनानि अजजत्, सः कालः नु प्रथमः देवः ईयते ।

हिन्दी अर्थ— ऋषि भृगु प्रस्तुत मंत्र में सम्बत्सररूप कालचक्र का वर्णन करते हुए कहते हैं कि यह कालरूपी परमात्मा सात ऋतुरूपी चक्रों को क्रमशः धारण करते हैं । इस संवत्सर की ऋतुसंधिकालरूप सात नाभियां हैं । इसका सूक्ष्म अविनश्वर तत्त्व अमृत है । यह संवत्सररूप, सबका आदिभूत देव, नित्यज्ञानरूपकाल, परमात्मा—इन अनेक नाम और रूपों से व्याकृत चराचरात्मक जगत् को प्रकट करता हुआ संहार कर डालता है और संहार करता हुआ भी सबमें व्याप्त होकर स्थिर रहता है ।

कठिन शब्दार्थ— अजजत् = प्रकट करता हुआ । भुवनानि = सत्ता वालों को । ईयते= जाना जाता है । नाभीः = पहिये का मध्यस्थान ।

(3)

पूर्णः कुम्भोधि काल आहितस्तं वै पश्यामो बहुधा नु सन्तः ।

स इमा विश्वा भुवनानि प्रत्यङ् कालं तमाहुः परमे व्योमन् ॥३॥

अन्वय (पदच्छेद) काले अधि पूर्णः कुम्भः आहितः, तम् वै सन्तः नु बहुधा पश्यामः, सः इमा विश्वा भुवनानि प्रत्यङ्, तम् कालम् परमे व्योमन् ब्रह्म आहुः ।

हिन्दी अर्थ— ऋषि भृगु कालरूप परमात्मा की महिमा का वर्णन करते हुए कहते हैं कि सब जगत् के कारणभूत (नित्य अनवच्छिन्न) परमात्मा स्वस्वरूप में (दिन, रात, मास, ऋतु, सम्बत्सर आदि रूप में अनवच्छिन्न जन्य काल से) पूर्ण कुम्भ के समान सर्वत्र व्याप्त है । उस जन्यकाल को हम सत्पुरुष दिन—रात्रि आदि के भेद से अनेक प्रकार का अनुभव करते हैं । वही काल परमात्मा इन दीखते हुए प्राणियों को अभिमुख होकर व्याप्त कर लेते हैं । विद्वान् पुरुष उस काल को उत्कृष्ट, सांसारिक सुख—दुःख आदि दोषों से शून्य आकाश के समान निर्लेप, अनेक प्रकार से रक्षक परमानन्ददायक स्वस्वरूप में वर्तमान बताते हैं ।

कठिन शब्दार्थ— काले अधि= काल के ऊपर, विश्वा भुवनानि= लोकों को, सर्व सत्ता वालों को, प्रत्यङ् = सामने चलता हुआ, व्योमन् = विविध रक्षा—स्थानों में

(4)

स एव सं भुवनान्याभरत् स एव सं भुवनानि पर्येत् ।

पिता सन्नभवत् पुत्र एषां तस्माद् वै नान्यत् परमस्ति तेजः ॥

अन्वय (पदच्छेद) सः एव भुवनानि सम् आ अभरत्, सः एव भुवनानि सम् पर्येत्। एषाम् पिता सन् पुत्रः अभवत्, तस्मात् अन्यत् तेजः वै न अस्ति।

हिन्दी अर्थ— ऋषि भृगु सर्वजगत् के कारणभूत कालरूप परमात्मा की महिमा का वर्णन करते हुए कहते हैं कि वही काल प्राणियों को प्रकट करते हैं और वही काल भुवनों (प्राणियों में) व्याप्त है। वही इन प्राणियों के जनक होकर इनके पुत्र हो जाते हैं अर्थात् काल ही पितृरूप से और पुत्र रूप से माना जाता है, जो पूर्वजन्म में पितारूप से व्यवहृत होता है, वही इस जन्म में पुत्ररूप में व्यवहृत होता है, क्योंकि सब अवच्छेदक काल के अधीन हैं। इस सर्वोत्पादक सर्वगत पुत्रादिरूप से भविष्यत् काल से श्रेष्ठ और कोई तेज नहीं है।

कठिन शब्दों के अर्थ— पर्येत् = घेर लिया है, सम् आ = सम्यक्तया सब ओर से। अभरत् = पुष्ट किया। व्याप्त किया। भुवनानि = सत्ताओं (प्राणियों) को।

(5)

कालोऽमुं दिवमजनयत् काल इमाः पृथिवीरुत।

काले ह भूतं भव्यं चेषितं ह वि तिष्ठते।।

अन्वय (पदच्छेद)— कालः अमूम् दिवम्, कालः इमाः पृथिवीः अजनयत्। काले ह भूतं च भव्यम् इषितम् ह वि तिष्ठते।

हिन्दी अर्थ— ऋषि भृगु कालरूप परमात्मा की महिमा का वर्णन करते हुए कहते हैं कि कालरूपी परमात्मा ने इस द्युलोक (आकाश) को प्रकट किया है और सब प्राणियों की आधारभूता पृथिवी को भी काल ने ही प्रकट किया है। इस काल में ही भूतकाल, भविष्यत्काल और अभिलषित वर्तमान कालावच्छिन्न विशेष रूप से आश्रित रहता है।

कठिन शब्दों के अर्थ— ह= ही, भूतम् = बीते हुए, भव्यम् = भावी, वि तिष्ठते = विशेष रूप से ठहरता है। अजनयत् = पैदा किया, उत्पन्न किया।

(6)

कालो भूतिमसृजत काले तपति सूर्यः।

काले ह विश्वा भूतानि काले चक्षुर्विपश्यति।।

अन्वय (पदच्छेद)— कालः भूतिम् असृजत। काले सूर्यः तपति। काले ह विश्वा भूतानि। काले चक्षुः वि पश्यति।

हिन्दी अर्थ— ऋषि भृगु कालरूप परमात्मा की महिमा और सर्वव्यापकता का वर्णन करते हुए कहते हैं कि कालरूपी परमात्मा ने इस उत्पत्तिशील जगत् की रचना की है और काल के प्रेरक होने से ही आदित्य

इस जगत् को प्रकाशित करते हैं। काल के ही आश्रय में सब प्राणी रहते हैं। काल में ही चक्षु इन्द्रिय अपने व्यापार को करती है।

कठिन शब्दों के अर्थ— भूमिम् = उत्पत्तिशील जगत्। विश्वा भूतानि= सभी प्राणी। ह= ही।

(7)

काले मनः काले प्राणः काले नाम समाहितम्।

कालेन सर्वा नन्दन्त्यागतेन प्रजा इमाः।।

अन्वय (पदच्छेद) काले मनः, काले प्राणः, काले नाम समाहितम्। आगतेन कालेन इमाः सर्वाः प्रजाः नन्दन्ति।

हिन्दी अर्थ— ऋषि भृगु कहते हैं कि कालरूपी परमात्मा में जगत् को रचने की इच्छा का निमित्त मन रहता है। उसमें ही सब जगत् का अन्तर्यामी सूत्रात्मा प्राण रहता है अर्थात् उसी कालरूप परमात्मा में सब जगत् के मन और पञ्चवृत्तिक प्राण रहते हैं और सब वस्तुओं के नाम भी उसी में रहते हैं और वसन्त आदि रूप से आये हुए काल से ही यह सब प्रजायें अपने-अपने कार्य की सिद्धि होने के कारण संतुष्ट होती है।

कठिन शब्दों के अर्थ— नाम समाहितम्= सब वस्तुओं के नाम समाहित हैं। नन्दन्ति= आनन्द पाती हैं, संतुष्ट होती हैं।

(8)

काले तपः काले ज्येष्ठं काले ब्रह्म समाहितम्।

कालो ह सर्वस्येश्वरो यः पितासीत् प्रजायतेः।।

अन्वय (पदच्छेद) काले तपः, काले ज्येष्ठम्, काले ब्रह्म समाहितम्। कालः ह सर्वस्य ईश्वरः, यः प्रजापतेः पिता आसीत्।

हिन्दी अर्थ— ऋषि भृगु कालरूप परमात्मा की महिमा का वर्णन करते हुए कहते हैं कि कालरूपी परमात्मा में जगत् को रचने का पर्यालोचनरूपी तप प्रतिष्ठित है तथा उसी में सबका आदिभूत हिरण्यगर्भरूपी तत्त्व ज्येष्ठ समाहित है। काल में ही ब्रह्म समाहित है। काल ही सम्पूर्ण जगत् का स्वामी है, जो काल प्रजा की रचना करने वाले चतुर्मुखी ब्रह्मा (अर्थात् प्रजापति) का भी पिता है।

कठिन शब्दों के अर्थ—जगद्= रचना का पर्यालोचन रूप तप। ज्येष्ठम् = श्रेष्ठ हिरण्यगर्भ रूपी तत्त्व, प्रजापतेः= चतुर्मुखी ब्रह्मा।

(9)

तेनेषितं तेन जातं तदु तस्मिन् प्रतिष्ठितम्।

कालो ह ब्रह्म भूत्वा बिभर्ति परमेष्ठिनम्॥

अन्वय (पदच्छेद)— तेन इषितम्, तेन जातम्, तत् तस्मिन्, प्रतिष्ठितम्। कालः ह ब्रह्म भूत्वा परमेष्ठिनं बिभर्ति।

हिन्दी अर्थ— ऋषि भृगु कालरूप परमात्मा की महिमा का वर्णन करते हुए कहते हैं कि यब सब स्रष्टव्य जगत् उसी काल से उत्पन्न हुआ है और उसी काल में प्रतिष्ठित है। काल ही (सत्-चित्-आनन्द रूप अबाध्य परमार्थ तत्त्व) ब्रह्म होकर परम स्थान सत्यलोक में स्थित चतुर्मुख ब्रह्मा को धारण करता है।

कठिन शब्दों के अर्थ— प्रतिष्ठितम्= ठहरा हुआ है, टिका हुआ है। ह= ही। बिभर्ति= पालन, भरण-पोषण करता है, धारण करता है। परमेष्ठिनम् = चतुर्मुख ब्रह्म को।

(10)

कालः प्रजा असृजत कालो अग्रे प्रजापतिम्।

स्वयंभूः कश्यपः कालात् तपः कालादजायतः॥

अन्वय (पदच्छेद) अग्रे कालः प्रजाः, कालः प्रजापतिम् असृजत। कालात् स्वयम्भूः, कश्यपः, कालात् तपः अजायत।

हिन्दी अर्थ— ऋषि भृगु कालरूप परमात्मा के वैशिष्ट्य को प्रकट करते हुए कहते हैं कि सृष्टि के आरंभ में काल ने प्रजापति को उत्पन्न किया है और प्रजाओं को भी काल ने ही रचा है। यह काल स्वयंभू है, अर्थात् काल के अतिरिक्त और कोई दूसरा काल नहीं है। इसके द्रष्टा कश्यप नामक सूर्य भी इसी काल से प्रकट हुए हैं। काल से ही ब्रह्मचर्यादि नियम प्रकट हुए।

कठिन शब्दों के अर्थ— अग्रे= सबसे पहले। असृजत= उत्पन्न किया है। स्वयम्भू= स्वयं उत्पन्न होने वाला है। कश्यप= कश्यप नामक आठवां सूर्य। तपः= ब्रह्मचर्यादि नियम। अजायत= उत्पन्न हुए।

(11)

कालादापः समभवन् कालाद् ब्रह्म तपो दिशः।

कालेनोदेति सूर्यः काले नि विशते पुनः॥

अन्वय (पदच्छेद) कालात् आपः, कालात् ब्रह्म, तपः, दिशः समभवन। कालेन सूर्यः उदेति, काले पुनः नि विशते।

हिन्दी अर्थ— ऋषि भृगु कालरूप परमात्मा की महिमा का वर्णन करते हुए कहते हैं कि सर्वजगत् के कारणभूत कालरूपी परमात्मा से ब्रह्माण्ड के आधारभूत जल प्रकट हुए। उस काल से ही वेदज्ञान व यज्ञ कर्म, कृच्छ्र, चान्द्रायण आदि तप और पूर्व आदि दिशाएं प्रकट हुईं। प्रेरक काल के द्वारा ही सूर्य उदय को प्राप्त होता है और काल में ही सूर्य फिर अस्त हो जाता है।

कठिन शब्दों के अर्थ— ब्रह्म=वेदज्ञान, यज्ञ=कर्म। तप= ब्रह्मचर्य, चान्द्रायण आदि तप, समभवन्= प्रकट हुईं। नि विशते= अस्त हो जाता है।

(12)

कालेन वातः पवते कालेन पृथिवी मही।

द्यौर्मही काल आहिता।।

अन्वय (पदच्छेद) कालेन वातः पवते, कालेन पृथिवी मही, काले द्यौः मही आहिता।

हिन्दी अर्थ— ऋषि भृगु कालरूप परमात्मा की महिमा का वर्णन करते हुए कहते हैं कि काल से वायु बहता है, काल ने ही विशाल पृथिवी को दृढ़ता से स्थापित कर रखा है और विशाल द्युलोक भी कालरूप आधार में स्थापित है।

कठिन शब्दों के अर्थ— पवते= प्रवाहित होता है। आहिता= स्थापित हैं।

(13)

कालो ह भूतं भव्यं च पुत्रो अजनयत् पुरा।

कालादृचः समभवन् यजुः कालादजायत।।

अन्वय (पदच्छेद) कालः पुत्रः ह भूतं च भव्यम् पुरा अजनयत्। कालात् ऋचः समभवन्, कालात् यजुः अजायत।

हिन्दी अर्थ— ऋषि भृगु कहते हैं कि कालरूप प्रेरक पिता से ही पुत्र प्रजापति ने भूत व भविष्यत् (और वर्तमान) को प्रकट किया हैं। कालरूपी परमात्मा से पादबद्ध मंत्र (ऋचाएं) प्रकट हुए हैं और उससे ही प्रश्लिष्ट पाठरूप यजुर्वेद प्रकट हुआ है।

कठिन शब्दों के अर्थ— भूतं च भव्यम्= अतीत व भावी जगत् को। ह=ही। अजनयत् = उत्पन्न किया। ऋचः = वेदमंत्र। यजुः = यजुर्वेद। अजायत = उत्पन्न हुआ।

(14)

कालो यज्ञं समैरयद्देवेभ्यो भागमक्षितम्।

काले गन्धर्वाप्सरसः काले लोकाः प्रतिष्ठिता।।

अन्वय (पदच्छेद)— कालः यज्ञं देवेभ्यः अक्षितम् भागं सम् ऐरयत्। काले गन्धर्वाप्सरसः, काले लोकाः प्रतिष्ठिताः।

हिन्दी अर्थ— ऋषि भृगु कहते हैं कि कालरूप परमात्मा ने ही इन्द्र आदि देवताओं के भागरूप में कल्पित प्रकृतिविकृत्यात्मक सोमयज्ञ को उत्पन्न किया है। वाणी की विशेषता को धारण करने वाले गायक गंधर्व तथा जल अथवा अन्तरिक्ष में विचरण करने वाली अप्सराएं भी कालरूपी आधार में ही रहती हैं। समग्र लोक काल में ही प्रतिष्ठित है।

कठिन शब्दों के अर्थ— अक्षितं भागम्= अक्षय भाग, देवताओं के लिए भाग रूप में कल्पित सोमयज्ञ। सम् ऐरयत् = पूर्णतया भेजा है।

2.6.3 सूक्तसार

काल सर्वनियन्ता, सर्वव्यापक, सर्व-उत्पादक, सर्वप्रेरक एवं सर्वातिशायी महिमा वाला देवाधिदेव है। हजार आंखों वाले, नित्य तरुण, परम शक्तिशाली एवं सर्वत्रगामी अश्व के रूप में भी उसकी कल्पना की गई है। क्रान्तदर्शी विद्वान् ही उस अश्व पर आरुढ़ हो पाते हैं, उसे स्वाधीन कर पाते हैं और कालजयी होने की क्षमता रखते हैं।

काल रूपी रथ के चक्कों (पट्टियों) का गन्तव्य-स्थान समस्त लोक है, कोई भी स्थान उसकी पहुंच से बाहर नहीं है। समस्त जगत् को रचने और उसका संहार करने की शक्ति काल में है। वही समग्र जगत् में अन्तर्व्याप्त होकर उसका नियन्ता भी होता है। उस काल के ही दिन-रात, ऋतु, संवत्सर आदि विविध रूप हैं। काल परमात्मा ही समस्त प्राणि-जगत् का पिता है और वही भविष्य में पुत्र भी हो जाता है। उसके समान कोई अन्य तेजस्वी नहीं है।

पृथ्वी व द्युलोक (आकाश) को प्रकट करने वाला वह काल परमात्मा है। उसी के प्रेरणा से सूर्य जगत् को प्रकाशित करता है और उदित व अस्त होता है। शरीर में चक्षु आदि इन्द्रियां उसी की प्रेरणा से कार्य करती हैं। जैसे जीव में प्राण होते हैं, वैसे ही वह समस्त जगत् में अन्तर्व्याप्त है और प्रेरक तत्त्व है।

सृष्टिकर्ता ब्रह्मा प्रजापति का पिता वह काल ही है। समस्त जगत् उसी से उत्पन्न और उसी में प्रतिष्ठित रहता है। उसी कालरूप परमात्मा से जल तत्त्व उत्पन्न हुआ। उसी की प्रेरणा से वायु बहती है और विशाल पृथ्वी स्थिर रहती है। वेद की ऋचाओं (मंत्रों) का जनक भी वही है। गंधर्व व अप्सराएं आदि भी उसी काल के आधार पर स्थित हैं।

इस प्रकार, काल परमात्मा की सर्वातिशायिनी महिमा का गायन करते हुए, स्तुतिकार ने उसकी स्तुति सम्पन्न की है।

2.6.4 चयनित मंत्रों की सप्रसंग/ससंदर्भ व्याख्या

उदाहरण-1

मंत्र

कालो अश्वो वहति सप्तरश्मिः सहस्राक्षो अजरो भूरिरेताः ।

तमा रोहन्ति कवयो विपश्चितस्तस्य चक्रा भुवनानि विश्वा ॥

प्रसंग/संदर्भ

प्रस्तुत मंत्र अथर्ववेद के कालसूक्त से उद्धृत है। इसमें जगत् के कारणभूत काल रूप परमात्मा की स्तुति की गई है। यहां काल को तीव्रगति वाले अश्व के रूप में कल्पित किया गया है।

व्याख्या

कालः अश्वः = काल रूपी अश्व, जो सप्तरश्मिः = सात प्रकार की रश्मियों (किरणों) वाला, सहस्राक्षः = हजार आंखों वाला, अजरः = बूढ़ा न होने वाला, भूरिरेताः = बड़े बल वाला, वहति = चलता रहता है। तम् = उस काल पर, कवयः = ज्ञानी, विपश्चितः = बुद्धिमान् लोग, आरोहन्ति = चढ़ते हैं, उस पर आरुढ़ हो पाते हैं, तस्य चक्रा = उस काल (रूपी रथ) के चक्के (पहिए) विश्वा = सारे, भुवनानि = लोकों में गमन करते रहते हैं।

उदाहरण-2

मंत्र

कालोऽमूं दिवमजनयत् काल इमाः पृथिवीरुत ।

काले ह भूतं भव्यं चेषितं ह वि तिष्ठते ॥

प्रसंग/संदर्भ

अथर्ववेद के काल सूक्त के इस मंत्र में मंत्रद्रष्टा ऋषि भृगु काल-परमात्मा की स्तुति करते हुए उसकी महिमा का गायन कर रहे हैं।

व्याख्या- कालः = काल रूपी परमात्मा ने, अमूं दिवम् = इस द्युलोक (आकाश) को, कालः = काल-परमात्मा ने ही, इमाः पृथिवी = इन पृथिवियों को, अजनयत् = उत्पन्न किया है, काले ह = काल में ही, भूतं च भव्यम् = अतीत और भावी, इषितम् = अभिलषित वर्तमान काल, वि तिष्ठते = विशेषतया ठहरता है, आश्रित रहता है।

भाव यह है कि काल रूपी परमात्मा से ही पृथ्वी व आकाश की उत्पत्ति हुई है और समस्त अतीत-वर्तमान-भावी काल-भेद या जगत् भी उसी पर आश्रित है।

उदाहरण-3

मंत्र

कालो यज्ञं समैरयद्देवेभ्यो भागमक्षितम्।

काले गन्धर्वाप्सरसः काले लोकाः प्रतिष्ठिताः॥

प्रसंग/संदर्भ

अथर्ववेद के काल सूक्त से यह मंत्र उद्धृत है। इस मंत्र में स्तुतिकार भृगुजी कालरूपी परमात्मा की महिमा का गुणगान कर रहे हैं।

व्याख्या

कालः = काल रूपी परमात्मा ने, यज्ञम् = सोमयज्ञ को, देवेभ्यः = देवों के लिए, अक्षितं भागम् = अक्षय भाग (देय) के रूप में, सम् ऐरयत् = पूर्णतया भेजा है, प्रेषित किया है। काले= काल में ही, गन्धर्वाप्सरसः = गंधर्व व अप्सराएं और काले= काल में ही, लोकाः प्रतिष्ठिताः = समग्र लोक भी प्रतिष्ठित हैं।

भाव यह है कि सोम यज्ञ में देवताओं को उनका भाग प्राप्त होता है, वह भी काल रूप परमात्मा की कृपा से प्राप्त होता है। गंधर्व, अप्सराएं एवं समग्र लोक इसी काल में प्रतिष्ठित हैं।

2.6.5 अभ्यास प्रश्नावली

लघूत्तरात्मक प्रश्न

प्रश्न-1. काल सूक्त का सार लिखें।

प्रश्न-2. निम्नलिखित मंत्र का पदच्छेद करें-

काले तपः काले ज्येष्ठं काले ब्रह्म समाहितम्।

कालो ह सर्वस्येश्वरो यः पितासीत् प्रजापतेः॥

अथवा

कालो भूतिमसृजत काले तपति सूर्यः।

काले ह विश्वा भूतानि काले चक्षुर्विपश्यति॥

निबन्धात्मक प्रश्न

प्रश्न-1. निम्नलिखित मंत्र का पदच्छेद एवं ससंदर्भ व्याख्या करें-

कालो अश्वो वहति सप्तरश्मिः सहस्राक्षो अजरो भूरिरेताः।

तमा रोहन्ति कवयो विपश्चितस्तस्य चक्रा भुवनानि विश्वा ।।

अथवा

कालो यज्ञं समैरयद्देवेभ्यो भागमक्षितम् ।

काले गन्धर्वाच्चरसः काले लोकाः प्रतिष्ठिताः ।।

प्रश्न-2. काल सूक्त के आधार पर, काल परमात्मा के स्वरूप व महत्ता पर एक लघु निबन्ध लिखें।

2.7 संदर्भ ग्रन्थ सूची/सहायक पाठ्य सामग्री

1. वैदिक सूक्त संग्रह (रतिराम शास्त्री), प्रका. साहित्य भंडार, सुभाष बाजार, मेरठ
2. वैदिक सूक्त संग्रह (डा. अयोध्या प्रसाद सिंह व डा. रामाशीष पाण्डेय), प्रका. मोतीलाल बनारसीदास, बंगलो रोड़, जवाहर नगर, दिल्ली- 110007.
3. वैदिक साहित्य (कपिलदेव द्विवेदी), प्रका. चौखम्भा सुरभारती प्रकाशन, वाराणसी
4. संस्कृतसाहित्यविमर्शः (पं. द्विजेन्द्र नाथ शास्त्री), प्रका. गुरुकुल वृन्दावन स्नातक शोध संस्थान, स्नातक सदन, ए 5/3, राणा प्रताप बाग, दिल्ली-110007
5. वैदिक साहित्य और संस्कृति (डा. किरणकुमारी), प्रका. न्यू भारतीय बुक कार्पोरेशन, दिल्ली-110006

 इकाई—3 (कठोपनिषद्)

संरचना

3.0 प्रस्तावना

3.1 उद्देश्य

3.2 उपनिषदों का परिचय

3.2.1 उपनिषद्—शब्दार्थ

3.2.2 प्रमुख उपनिषद्

3.2.3 उपनिषदों का रचना—काल

3.2.4 उपनिषदों का वर्ण्य विषय

3.2.5 उपनिषदों का महत्त्व

3.2.6 सारांश

3.3 कठोपनिषद्

3.3.0 प्रस्तावना

3.3.1 उद्देश्य

3.3.2 मूलपाठ व अर्थ

3.3.3 प्रथम अध्याय—सार

3.3.4 द्वितीय अध्याय—सार

3.3.5 चयनित मंत्रों की संस्कृत व्याख्या

3.3.6 अभ्यास प्रश्नावली

3.4 संदर्भ ग्रंथ

 3.0 प्रस्तावना

संसार की प्राचीनतम भाषा संस्कृत है। संस्कृत भाषा का साहित्य भी अत्यंत प्राचीन व विशाल रहा है। प्राचीन (छान्दस) संस्कृत भाषा में रचित 'वेद' को भारतीय ही नहीं, अपितु विश्व का प्राचीनतम ग्रंथ माना जाता है।

भारतीय संस्कृति व ज्ञान-विज्ञान एवं दार्शनिक विचारधारा को जानने-समझने का प्राथमिक स्रोत वेद ही है, काल-क्रम से वेदों से सम्बन्धित साहित्य का विस्तार हुआ। इसी क्रम में ब्राह्मण ग्रंथ, आरण्यक ग्रंथ एवं उपनिषद्-साहित्य की रचना अस्तित्व में आई। वैदिक मंत्रों की विस्तारपूर्वक व्याख्या ब्राह्मण ग्रंथों में की गई। इनमें यज्ञ की कर्मकाण्डपरक व्याख्या की गई। आरण्यक ग्रंथों में यज्ञ की आध्यात्मिक व रहस्यवादी व्याख्याएं की गई। वैदिक साहित्य की क्रमिक श्रृंखला का अन्तिम सोपान उपनिषद् हैं। आरण्यक ग्रंथों में प्रतिपादित दार्शनिकता का पूर्ण विकसित रूप उपनिषदों में प्राप्त होता है। भारतीय आध्यात्मिक-दार्शनिक विचारधारा को जानने-समझने के साधन उपनिषद् हैं। उपनिषदों में कठोपनिषद् का महत्त्वपूर्ण स्थान है।

3.1 उद्देश्य

1. अध्येता को समग्र उपनिषद्-साहित्य के सामान्य स्वरूप से परिचित कराना।
2. औपनिषदिक दार्शनिक विचारधारा से अवगत कराना।
3. कठोपनिषद् की विषयवस्तु का बोध कराना।

3.2 उपनिषदों का सामान्य परिचय

उपनिषदों में भारतीय दार्शनिक विचारधारा की पराकाष्ठा रही है। प्रत्येक उपनिषद् किसी न किसी वेद से सम्बद्ध है। उदाहरणार्थ-ऐतरेय उपनिषद् ऋग्वेद से, केनोपनिषद् व छान्दोग्य उपनिषद् सामवेद से, ईशावास्य उपनिषद् व बृहदारण्यक उपनिषद् शुक्ल यजुर्वेद से, एवं प्रश्नोपनिषद्, मण्डूक उपनिषद् व माण्डूक्य उपनिषद् अथर्ववेद से सम्बद्ध माने जाते हैं। तैत्तिरीय उपनिषद् व कठोपनिषद् का सम्बन्ध कृष्ण यजुर्वेद से है।

उपनिषदों की संख्या 108 और अधिक भी मानी जाती है। इनमें प्रमुख उपनिषद् ग्यारह से चौदह तक माने जाते हैं। इनमें कठोपनिषद् का विशिष्ट स्थान है।

उपनिषत्साहित्य से सम्बन्धित अन्य महत्त्वपूर्ण पक्षों पर प्रकाश डालने की दृष्टि से, कुछ बिन्दुवार निरूपण प्रस्तुत किया जा रहे हैं—

3.2.1 उपनिषद्-शब्दार्थ

‘उप’ तथा ‘नि’ इन दो उपसर्गों के बाद सद्-धातु से क्विप् प्रत्यय लगकर ‘उपनिषद्’ शब्द निष्पन्न होता है। साधारणतः इसका अर्थ होता है— गुरु के समीप (उप) बैठकर (निषद्य) प्राप्त किया गया ज्ञान। फिर भी सद्-धातु के तीन अर्थों से आध्यात्मिक उत्कर्ष वाले निर्वचन किये गये हैं। सद्-धातु के तीन अर्थ हैं— विशरण (नाश), गति (ज्ञान या प्राप्ति) तथा अवसादन (शिथिल करना)। इसीलिए शंकराचार्य ने कहा है— उपनिषादयति सर्वानर्थकरं संसारं विनाशयति, संसारकारणभूतामविद्यां च शिथिलयति, ब्रह्म च गमयति (ईशावास्योपनिषद्-भाष्य का आरंभ)। अर्थात् सभी अनर्थों को उत्पन्न करने

वाले संसार (जीव का बार-बार जन्म-मरण होना) का यह विनाश करती है, संसार के हेतु स्वरूप अविद्या को शिथिल करती है और ब्रह्म की प्राप्ति (अवगति-ज्ञान) कराती है।

3.2.2 प्रमुख उपनिषद्

मुक्तिकोपनिषद् के अनुसार इनकी संख्या 108 हैं, जिन्हें वेदों से जोड़ने का प्रयास हुआ है। ऋग्वेद की 10, शुक्लयजुर्वेद की 19, कृष्णयजुर्वेद की 32, सामवेद की 16 तथा अथर्ववेद की 31 उपनिषदें हैं। उपनिषदों की संख्या इससे भी अधिक 220 व 223 तक पहुंच गई है। किन्तु मुक्तिकोपनिषद् के अनुसार 108 उपनिषदों में दश प्रधान हैं— 1. ईशोपनिषद्, 2. केनोपनिषद्, 3. कठोपनिषद्, 4. प्रश्नोपनिषद्, 5. मुण्डकोपनिषद्, 6. माण्डूक्योपनिषद्, 7. तैत्तिरीयोपनिषद्, 8. ऐतरेयोपनिषद्, 9. छान्दोग्योपनिषद् तथा 10. बृहदारण्यकोपनिषद्। इनमें श्वेताश्वतर उपनिषद् को जोड़कर ग्यारह उपनिषदों को भी प्रमुख उपनिषद् माना गया है। कौशीतकी उपनिषद्, मैत्रायणी उपनिषद् व महानारायणीय उपनिषद्—इन तीन को मिलाकर चौदह उपनिषद् भी प्रमुख माने गये हैं।

3.2.3 उपनिषदों का रचना-काल

उपनिषदों की रचना एक समय पर नहीं हुई। यह शताब्दियों की रचना-प्रक्रिया का परिणाम है। प्रो. मैक्समूलर ने इनका रचना काल ब्राह्मण ग्रंथों की रचना से 200 वर्ष बाद का माना है। ब्राह्मण ग्रंथों का रचनाकाल उन्होंने 800 से 600 ई. पूर्व का माना है। तदनुसार उपनिषदों का रचनाकाल 600 से 400 ई. पूर्व का निश्चित होता है। परन्तु अधिकांश विद्वान् इस मत को स्वीकार नहीं करते। इतना तो निश्चित ही है कि सभी प्रमुख उपनिषदों की रचना महात्मा बुद्ध से पहले हो चुकी थी। लोकमान्य बालगंगाधर 'मैत्रायणी उपनिषद्' का रचनाकाल 1200 ई. पूर्व का मानते हैं। इसमें छान्दोग्य, बृहदारण्यक, कठ, तैत्तिरीय व अन्य उपनिषदों का उल्लेख व उद्धरण प्राप्त होते हैं। अतः ये उपनिषद् 1200 ई. पूर्व से भी पहले के होंगे।

उपनिषद् किसी एक विशेष तिथि के रचे हुए नहीं है। इनकी रचना व विकास धीरे-धीरे कई शताब्दियों में हुआ; फिर भी यह कहा जा सकता है कि बृहदारण्यक, छान्दोग्य, तैत्तिरीय और ऐतरेयोपनिषद् सबसे प्राचीन हैं। उनसे बाद के उपनिषद् हैं— ईश, केन, कठ, श्वेताश्वतर उपनिषद्।

उपनिषदों का रचनाकाल निर्धारित करते समय कोई विभाजक रेखा नहीं खींची जा सकती। निश्चित रूप से यह नहीं कहा जा सकता कि अमुक उपनिषद् इस काल की रचना है और अमुक इस काल की। इनका क्रमिक विकास हुआ। परन्तु इतना तो निश्चित है कि बौद्ध साहित्य से पूर्व उपनिषद् साहित्य की रचना हो चुकी होगी। यहां यह ध्यातव्य है कि वेदों की भांति उपनिषद् ग्रंथ भी किसी व्यक्ति विशेष द्वारा रचित नहीं हैं। ये भी संकलित ही हैं।

3.2.4 उपनिषदों का वर्ण्य विषय

आध्यात्मिक विद्या सबको नहीं दी जाती है। उस रहस्य के सभी अधिकारी नहीं होते। उसका अध्ययन गुरु के समीप बैठकर ही पाया जा सकता है। अतः वह रहस्य विद्या कही जाती है, उसे परम गुह्य या गोपनीय माना जाता है। उस रहस्य का निरूपण उपनिषदों में है, इसलिए उपनिषदों को 'रहस्य विद्या' भी कहा जाता है। वेदों के अन्त में रचे जाने के कारण इन्हें 'वेदान्त' भी कहा जाता है।

वैदिक कर्मकाण्ड के बाद, इनमें 'ज्ञानकाण्ड' का निरूपण है। इनमें प्रमुखतया ब्रह्म, सृष्टि, जीव, आत्मा, प्राण, पुनर्जन्म, कर्म, नैतिकता आदि का विवेचन है। इनमें उपदेशों की कई विधियाँ हैं—कहीं प्रतीक रूप में, कहीं आख्यान के द्वारा, तो कहीं युक्तियों से दार्शनिक गूढ़ रहस्यों को स्पष्ट किया गया है। वस्तुतः प्रवृत्ति-मार्ग व निवृत्ति मार्ग— ये दोनों ही वैदिक परम्परा में मान्य हैं। ये दोनों ही भारतीय-जीवन-दर्शन के अविभाज्य अंश हैं। वैदिक कर्मकाण्ड प्रवृत्तिमार्ग का अंग है तो उपनिषद् का ज्ञानमार्ग निवृत्ति-मार्ग से सम्बन्धित है। आश्रम-व्यवस्था में भी अन्त के दो आश्रमों— वानप्रस्थ व संन्यास आश्रमों में निवृत्तिमार्ग की ओर ही अग्रसर हुआ जाता है।

3.2.5 उपनिषदों का महत्त्व

उपनिषद् भारतीय अध्यात्म शास्त्र के देदीप्यमान रत्न हैं। उपनिषदों का सर्वाधिक महत्त्व दार्शनिक दृष्टि से है। वेदों में निहित ज्ञान की अंतिम सीमा उपनिषदों में ही है। इसलिए संहिता-युग से ही इनका निर्माण आरंभ हो गया था। परम तत्त्व के रूप में ब्रह्म या आत्मा को विभिन्न प्रकार से यहां समझाया गया है। ब्रह्म के व्यक्त रूप में संसार है, जो उसकी व्यवस्थित रचना है। आधुनिक विद्वानों ने प्रमाणित किया है कि परवर्ती समस्त दार्शनिक चिन्तन का उत्स उपनिषदों के वाक्यों में है। ब्रह्मसूत्र और गीता जैसे ग्रंथ तो स्पष्टतः इन्हीं पर आश्रित हैं। भागवतपुराण—जैसा वैष्णव पुराण भी अपने सिद्धान्तों के लिए उपनिषदों पर आश्रित है।

इनमें विभिन्न ऋषियों की नैतिक दृष्टि प्रकट हुई है। सामान्यतः उपनिषदें भौतिक वस्तुओं की क्षणभंगुरता और ज्ञान की अमरता में विश्वास दिलाती हैं। जीवन के क्रिया-कलापों को श्रेय तथा प्रेय में, निष्काम और सकाम में विभक्त करके स्पष्टतः हमें भोग में त्याग का उपदेश देती हैं (तेन त्यक्तेन भुञ्जीथाः)। श्रेष्ठ पुरुषों का सत्संग कल्याणकर है—इस पर ये बल देती हैं (प्राप्य वरान्निबोधत)।

भाषा-शैली की दृष्टि से ये वैदिक तथा लौकिक संस्कृत के बीच की कड़ी प्रस्तुत करती हैं। इनके सरल वाक्य और नाद-सौन्दर्यमय पक्ष लालित्य के निधान हैं। कठिन से कठिन दार्शनिक तत्त्व-चिन्तन को आख्यान से बांधकर, समुचित दृष्टान्तों का प्रयोग करके स्पष्ट करने में उपनिषदों की

समता विश्व का कोई भी समानान्तर साहित्य नहीं कर सकता। विन्टरनिट्स ने उपनिषदों के लिए 'दार्शनिक कविता' विशेषण दिया है, जिससे ये हृदय और बुद्धि दोनों के लिए उपादेय हैं।

उपनिषदों में मुख्यतः कर्मकाण्ड या धार्मिक कृत्यों के प्रति उदासीनता दिखायी गयी है, इसलिए अनेक ब्राह्मणेंतर ऋषि इनके तत्त्व-विचारक हैं। उन्होंने जगत् के मूल प्रश्नों पर विचार किया है जो धर्म, जाति, लिंग आदि से निरपेक्ष मानव-मात्र के लिए जिज्ञास्य हैं। इनसे अभिभूत मुगल राजकुमार दाराशिकोह ने 1656-57 ई. में प्रायः पचास उपनिषदों का फारसी में अनुवाद कराया था। इसे फ्रेंच यात्री बर्नियर फ्रांस ले गया था, जहां उसका लातिन-भाषा में अनुवाद हुआ। वह 'औपनिषत्' के नाम से 1801 ई. में प्रकाशित हुआ। यद्यपि यह अनुवाद अपूर्ण और अव्यवस्थित था, किन्तु उसे ही पढ़कर जर्मन दार्शनिक शॉपेनहावर इतना अभिभूत हो गया था कि उसने कहा- 'सम्पूर्ण विश्व में उपनिषदों के समान जीवन को ऊँचा उठाने वाला कोई दूसरा अध्ययन का विषय नहीं है। उनसे मेरे जीवन को शान्ति मिली है, उन्हीं से मुझे मृत्यु में भी शान्ति मिलेगी'। डॉक्टर ऐनीबेसेंट ने भी उपनिषदों की प्रशंसा में कहा है कि 'भारत का यह ज्ञान मानव चेतना का सर्वोच्च फल है'। पाश्चात्य विद्वान् विन्टरनिट्ज ने भी इनकी प्रशंसा में कहा है कि लुडविग स्ट्राइन ने जिस एकत्ववाद को विश्व की समस्याओं के लिए अत्यन्त महत्त्वपूर्ण माना है, वह दार्शनिक विचार भारतीय उपनिषदों में तीन हजार वर्ष पहले ही प्रतिपादित हो चुका था। जर्मन विद्वान् ड्युसन महोदय ने अपने ग्रंथ 'Philosophy of Upanishads' में कहा है कि 'उपनिषद् ग्रंथों में जिस दर्शन का प्रतिपादन है, वह भारत तथा सारे विश्व में अतुल्य है'।

3.2.6 सारांश

वैदिक साहित्य के विस्तार की क्रमिक शृंखला में, ब्राह्मण व आरण्यक ग्रंथों के बाद उपनिषदों का स्थान आता है। प्रत्येक उपनिषद् किसी न किसी वेद से सम्बद्ध है। कठोपनिषद् का सम्बन्ध कृष्ण यजुर्वेद से माना जाता है।

उपनिषद् का व्युत्पत्तिपरक अर्थ होता है- (उप) गुरु के निकट बैठकर (निषद्य) प्राप्त किया जाने वाला ज्ञान। इसमें प्रतिपादित अध्यात्मविद्या से जन्म-मरण रूप संसार का अंत होता है, अविद्या की गांठ शिथिल होती है, ब्रह्म तत्त्व का ज्ञान प्राप्त होता है या उसकी प्राप्ति होती है।

उपनिषदों की संख्या 108 या अधिक भी मानी जाती है, किन्तु प्रमुख उपनिषदों की संख्या 10 से 14 तक मानी गई है। इन प्रमुख उपनिषदों में कठोपनिषद् का महत्त्वपूर्ण स्थान है।

वेदों की तरह, उपनिषद् भी किसी व्यक्ति विशेष द्वारा रचित नहीं हैं, अपितु संकलित हैं। विद्वानों ने इनका रचना-काल महात्मा बुद्ध से पहले का अनुमानित किया है। लोकमान्य तिलक के मत में 1200 ई.पू. से पहले उपनिषद् की रचना प्रारंभ हो चुकी थी।

इनमें ज्ञान मार्ग व निवृत्ति-मार्ग के प्रेरक तत्त्व प्रचुरतया हैं। ब्रह्मतत्त्व, आत्मतत्त्व, जीव, माया, सृष्टि, कर्म-व्यवस्था, जीवन में नैतिकता आदि आदि विषयों पर निरूपण इनमें प्राप्त होता है। परवर्ती दार्शनिक विचारधाराओं के सूत्र भी इनमें हैं। भगवद् गीता इन उपनिषदों का सार मानी जाती है। उपनिषदों में निहित दार्शनिक विचारधारा की महनीयता पर पाश्चात्य विद्वान् भी आकृष्ट हुए हैं और उन्होंने इनके अध्ययनादि में रुचि लेते हुए इनकी मुक्तकण्ठ से प्रशंसा की है। वस्तुतः भारतीय अध्यात्म-दर्शन व साधना-पद्धति को समझना हो तो उपनिषद्-साहित्य को पढ़ना-समझना होगा।

3.3 कठोपनिषद् (मूलपाठ व हिन्दी अर्थ)

3.3.0 प्रस्तावना

पाठ्य ग्रंथ के रूप में सम्पूर्ण कठोपनिषद् निर्धारित है। उपनिषदों में दश उपनिषद् प्रमुख माने गए हैं—1. ईश 2. केन 3. कठ 4. प्रश्न 5. मुण्डक 6. माण्डूक्य 7. तैत्तिरीय 8. ऐतरेय 9. छान्दोग्य 10. बृहदारण्यक। इनमें 'कठ' भी परिगणित है। अतः इसकी महत्ता निर्विवाद है।

इस उपनिषद् में कुल दो अध्याय हैं। प्रत्येक अध्याय तीन-तीन वल्लियों में विभाजित है। प्रथम अध्याय की तीनों वल्लियों में कुल मंत्रों की संख्या (29+25+17) इकहत्तर है। दूसरे अध्याय की तीनों वल्लियों के कुल मंत्र (15+15+18) अड़तालीस हैं। इस प्रकार दोनों अध्यायों में कुल मंत्र 119 हैं।

यह उपनिषद् कृष्ण यजुर्वेद की कठ शाखा से सम्बन्धित है। इसके प्रथम अध्याय में नचिकेता की कथा द्वारा श्रेय व प्रेय का अन्तर समझाया गया है और प्रेय (प्रिय प्रतीत होने वाले) की अपेक्षा श्रेय (वास्तविक आत्मीय कल्याण करने वाले) की श्रेष्ठता इंगित की गई है। द्वितीय अध्याय में यम द्वारा किये गये आत्म-व्यापकता सम्बन्धी निरूपण के अंत में 'योग' द्वारा उत्क्रमण अर्थात् परमानन्दमय परमेश्वर की प्राप्ति का निरूपण है।

इस उपनिषद् में वर्णित अध्यात्म विद्या को विस्तार से समझाने हेतु इस उपनिषद् के सम्पूर्ण मूलपाठ को हिन्दी अर्थ के साथ प्रस्तुत करना अपेक्षित है, इसलिए इस उपनिषद् का समग्र मूल पाठ यहां प्रस्तुत किया जा रहा है।

3.3.1 उद्देश्य

अध्येता को कठोपनिषद् के समग्र सार से तथा प्रत्येक मंत्र के हिन्दी अर्थ से परिचित कराना तथा औपनिषदिक अध्यात्म विद्या को हृदयगम्य कराना।

3.3.2 मूल पाठ व हिन्दी अर्थ

(प्रथम अध्याय/प्रथम वल्ली)

ॐ उशन् ह वै वाजश्रवसः सर्ववेदसं ददौ। तस्य ह नचिकेता नाम पुत्र आस॥1॥

हिन्दी अर्थ- इस सच्चिदानन्दघन परमात्मा के नाम का स्मरण करके उपनिषद् का आरम्भ करते हैं; ह वै= प्रसिद्ध है कि; उशन् = यज्ञ का फल चाहनेवाले; वाजश्रवसः = वाजश्रवाके पुत्र (उद्दालक) ने; सर्ववेदसम्=(विश्वजित् यज्ञ में) अपना सारा धन; ददौ=(ब्राह्मणों को) दे दिया; तस्य==उसका; नचिकेता= नचिकेता; नाम ह= नाम से प्रसिद्ध; पुत्रः आस= एक पुत्र था।।1।।

तँ ह कुमारँ सन्तं दक्षिणासु नीयमानासु श्रद्धाऽऽविवेश सोऽमन्यत।।2।।

हिन्दी अर्थ- दक्षिणासु नीयमानासु- (जिस समय ब्राह्मणों को) दक्षिणा के रूप में देने के लिये (गौएँ) लायी जा रही थीं, उस समय; कुमारम् = छोटा बालक; सन्तम् ==होने पर भी; तम् ह= उस (नचिकेता) में; श्रद्धा=श्रद्धा (आस्तिक बुद्धि) का; आविवेश = आवेश हो गया (और); सः= (उन जराजीर्ण गायों को देखकर) वह; अमन्यत= विचार करने लगा।।2।।

पीतोदका जग्धतृणा दुग्धदोहा निरिन्द्रियाः।

अनन्दा नाम ते लोकास्तान् स गच्छति ता ददत्।।3।।

हिन्दी अर्थ- पीतोदका:= जो (अन्तिम बार) जल पी चुकी हैं; जग्धतृणाः = जिनका घास खाना समाप्त हो गया है; दुग्धदोहाः = जिनका दूध (अन्तिम बार) दुह लिया गया है; निरिन्द्रियाः = जिनकी इन्द्रियां नष्ट हो चुकी हैं; ताः = ऐसी (निरर्थक, मरणासन्न) गौओं को; ददत्= देनेवाला, सः= वह दाता (तो) ते लोकाः = वे (शूकर-कूकरादि नीच योनियां और नरकादि) लोक; अनन्दाः = जो सब प्रकार के सुखों से शून्य; नाम= प्रसिद्ध हैं; तान्= उनको; गच्छति= प्राप्त होता है (अतः पिताजी को सावधान करना चाहिये)।।3।।

स होवाच पितरं तत कस्मै मां दास्यसीति। द्वितीयं तृतीयं तँ होवाच मृत्यवे त्वा ददामीति।।4।।

हिन्दी अर्थ- सः ह= यह सोचकर वह; पितरम् = अपने पिता से; उवाच= बोला कि; तत (तात)= हे प्यारे पिताजी! आप; माम्= मुझे; कस्मै= किसको; दास्यसि इति= देंगे?; (उत्तर न मिलने पर उसने वही बात) द्वितीयम्= दुबारा; तृतीयम् = तिबारा (कही); तम् ह= (तब पिता ने) उससे; उवाच= (क्रोधपूर्वक इस प्रकार) कहा; त्वा= तुझे (मैं) मृत्यवे= मृत्यु को; ददामि इति = देता हूं।।4।।

बहूनामेमि प्रथमो बहूनामेमि मध्यमः।

किं स्वियमस्य कर्तव्यं यन्मयाद्य करिष्यति।।5।।

हिन्दी अर्थ- (नचिकेता मन ही मन सोचने लगा-) बहूनाम्= मैं बहुत से शिष्यों में तो; प्रथमः = प्रथम श्रेणी के आचरण पर, एमि= चलता आया हूं (और); बहूनाम्= बहुतों में; मध्यमः = मध्यम श्रेणी के आचार पर; एमि= चलता हूं (कभी भी नीची श्रेणी के आचरण को मैंने नहीं अपनाया फिर पिताजी ने ऐसा क्यों कहा!)) यमस्य = यम का; किम् स्वित् कर्तव्यम्= ऐसा कौन-सा कार्य हो सकता है; यत् अद्य= जिसे आज; मया= मेरे द्वारा (मुझे देकर)) करिष्यति= (पिताजी) पूरा करेंगे।।5।।

अनुपश्य यथा पूर्वं प्रतिपश्य तथापरे।

सस्यमिव मर्त्यः पच्यते सस्यमिवाजायते पुनः॥६॥

हिन्दी अर्थ— (नचिकेता अपने पिताजी को यह बोला—) पूर्वं= आपके पूर्वज पितामह आदि; यथा= जिस प्रकार का आचरण करते आये हैं; अनुपश्य = उस पर विचार कीजिये (और); अपरे = (वर्तमान में भी) दूसरे श्रेष्ठ लोग; (यथा= जैसा आचरण कर रहे हैं;) तथा प्रतिपश्य = उस पर भी दृष्टिपात कर लीजिये (फिर आप अपने कर्तव्य का निश्चय कीजिये); मर्त्यः =(यह) मरणधर्मा मनुष्य; सस्यम् इव= अनाज की तरह; पच्यते= पकता है अर्थात् जराजीर्ण होकर मर जाता है (तथा); सस्यम् इव= अनाज की भांति ही; पुनः= फिर; आजायते= उत्पन्न हो जाता है॥६॥

वैश्वानरः प्रविशत्यतिथिर्ब्राह्मणो गृहान्।

तस्यैतौ शान्तिं कुर्वन्ति हर वैवस्वतोदकम्॥७॥

हिन्दी अर्थ— (पुत्र के वचन सुनकर उद्दालक को दुःख हुआ; परन्तु नचिकेता की सत्यपरायणता देखकर उन्होंने उसे यमराज के पास भेज दिया। नचिकेता को यमसदन पहुंचने पर पता लगा कि यमराज कहीं बाहर गये हुए हैं; अतएव नचिकेता तीन दिनों तक अन्न-जल ग्रहण किये बिना ही यमराज की प्रतीक्षा करता रहा। यमराज के लौटने पर उनकी पत्नी ने कहा—)

वैवस्वत= हे सूर्यपुत्र; वैश्वानरः = स्वयं अग्निदेवता (हीं); ब्राह्मणः अतिथिः= ब्राह्मण अतिथि के रूप में; गृहान् = (गृहस्थ के) घरों में; प्रविशति= प्रवेश करते हैं; तस्य =उनकी; (साधु पुरुष) एताम्= ऐसी (अर्थात् अर्घ्य-पाद्य-आसन आदि के द्वारा); शान्तिम्= शान्ति; कुर्वन्ति= किया करते हैं; (अतः आप) उदकम् हर= (उनके पाद-प्रक्षालनादि के लिये) जल ले जाइये॥७॥

आशाप्रतीक्षे संगतं सूनृतां च

इष्टापूर्ते पुत्रपशून् सर्वान्।

एतद् वृङ्क्ते पुरुषस्याल्पमेधसो

यस्यानश्नन् वसति ब्राह्मणो गृहे॥८॥

यस्य = जिसके; गृहे= घर में; ब्राह्मणः = ब्राह्मण अतिथि; अनश्नन्= बिना भोजन किये; वसति = निवास करता है; (तस्य =उस;) अल्पमेधसः= मन्दबुद्धि; पुरुषस्य = मनुष्य की; आशाप्रतीक्षे= नाना प्रकार की आशा और प्रतीक्षा; संगतम् = उनकी पूर्ति से होने वाले सब प्रकार के सुख; सूनृतां च = सुन्दर भाषण के फल एवं; इष्टापूर्ते च = यज्ञ, दान आदि शुभ कर्मों के और कुआं, बगीचा, तालाब आदि निर्माण कराने के फल तथा, सर्वान् पुत्रपशून् = समस्त पुत्र और पशु; एतद् वृङ्क्ते= इन सबको (वह) नष्ट कर देता है॥८॥

तिस्रो रात्रीर्यदवात्सीर्गृहे मे

अनश्नन् ब्रह्मन्नतिथिर्नमस्यः ।

नमस्तेऽस्तु ब्रह्मन् स्वस्ति मेऽस्तु

तस्मात् प्रति त्रीन् वरान् वृणीष्व ॥९॥

हिन्दी अर्थ— (पत्नी के वचन सुनकर धर्ममूर्ति यमराज तुरंत नचिकेता के पास गये और पाद्य-अर्घ्य आदि के द्वारा विधिवत् उसकी पूजा करके कहने लगे)

ब्रह्मन्= हे ब्राह्मणदेवता; नमस्यः अतिथिः= आप नमस्कार करने-योग्य अतिथि हैं; ते= आपको; नमः अस्तु= नमस्कार हो; ब्रह्मन्= हे ब्राह्मण; मे स्वस्ति= मेरा कल्याण; अस्तु= हो; यत्= (आपने) जो; तिस्रः = तीन; रात्रीः = रात्रियों तक; मे=मेरे; गृहे=घर पर; अनश्नन्= बिना भोजन किये; अवात्सीः= निवास किया है; तस्मात्= इसलिये आप (मुझसे), प्रति= प्रत्येक रात्रि के बदले (एक-एक करके); त्रीन् वरान् = तीन वरदान; वृणीष्व= मांग लीजिये ॥९॥

शान्तसंकल्पः सुमना यथा स्याद्वीतमन्युर्गौतमो माभि मृत्यो ।

त्वत्प्रसृष्टं माभिवदेत्प्रतीत एतत्त्रयाणां प्रथमं वरं वृणे ॥१०॥

हिन्दी अर्थ— (तपोमूर्ति अतिथि ब्राह्मण-बालक के अनशन से भयभीत होकर धर्मज्ञ यमराज ने जब इस प्रकार कहा, तब पिता को सुख पहुंचाने की इच्छा से नचिकेता बोला—)

मृत्यो= हे मृत्युदेव; यथा= जिस प्रकार; गौतमः= (मेरे पिता) गौतमवंशीय उद्दालक; मा अभि= मेरे प्रति; शान्तसंकल्पः = शान्त संकल्प वाले; सुमनाः = प्रसन्नचित्त (और); वीतमन्युः = क्रोध एवं खेद से रहित; स्यात् = हो जायँ (तथा); त्वत्प्रसृष्टम् = आपके द्वारा वापस भेजा जाने पर जब मैं उनके पास जाऊँ तो; मा प्रतीतः= वे मुझ पर विश्वास करके (यह वही मेरा पुत्र नचिकेता है, ऐसा भाव रखकर); अभिवदेत्= मेरे साथ प्रेमपूर्वक बातचीत करें; एतत्= यह; (मैं) त्रयाणाम्= अपने तीनों वरों में से; प्रथमम् वरम् = पहला वर; वृणे= माँगता हूँ ॥१०॥

यथा पुरस्ताद् भविता प्रतीत

औद्दालकिरारुणिर्मत्प्रसृष्टः ।

सुखं रात्रीः शयिता वीतमन्यु—

स्त्वां ददृशिवान्मृत्युमुखात्प्रमुक्तम् ॥११॥

हिन्दी अर्थ— (यमराज ने कहा—) त्वाम्=तुमको; मृत्युमुखात्= मृत्यु के मुखसे; प्रमुक्तम्= छूटा हुआ; ददृशिवान्= देखकर; मत्प्रसृष्टः = मुझसे प्रेरित; आरुणिः = (तुम्हारे पिता) अरुण-पुत्र; औद्दालकिः =उद्दालक; यथा परस्तात् = पहले की भांति ही; प्रतीतः = यह मेरा पुत्र नचिकेता ही है, ऐसा विश्वास

करके; वीतमन्युः = दुःख और क्रोध से रहित; भविता= हो जायेंगे; रात्रीः= (और वे अपनी आयुकी शेष) रात्रियों में; सुखम्= सुखपूर्वक; शयिता= शयन करेंगे।।11।।

स्वर्गे लोके न भयं किञ्चनास्ति

न तत्र त्वं न जरया बिभेति।

उभे तीर्त्वाशनायापिपासे

शोकातिगो मोदते स्वर्गलोके।।12।।

हिन्दी अर्थ— (इस वरदान को पाकर नचिकेता बोला—) स्वर्गे लोके= स्वर्गलोक में; किञ्चन भयम्= किञ्चिन्मात्र भी भय; न अस्ति= नहीं है; तत्र त्वम् न= वहां मृत्युरूप स्वयं आप भी नहीं हैं; जरया न बिभेति= वहां कोई बुढ़ापे से भी भय नहीं करता; स्वर्गलोके= स्वर्गलोक के निवासी; अशनायापिपासे = भूख और प्यास; उभे तीर्त्वा= इन दोनों से प्यार होकर; शोकातिगः = दुःखों से दूर रहकर; मोदते= आनन्द भोगते हैं।।12।।

स त्वमग्निं स्वर्ग्यमध्येषि मृत्यो

प्रब्रूहि त्वं श्रद्धधानाय मह्यम्।

स्वर्गलोका अमृतत्वं भजन्त

एतद् द्वितीयेन वृणे वरेण।।13।।

हिन्दी अर्थ— (इस वरदान को पाकर नचिकेता बोला—हे यमराज!)

मृत्यो= हे मृत्युदेव; सः त्वम्= वे आप; स्वर्ग्यम् अग्निम् = उपर्युक्त स्वर्ग की प्राप्ति के साधनरूप अग्निको; अध्येषि= जानते हैं (अतः); त्वम्= आप; मह्यम्= मुझ; श्रद्धधानाय =श्रद्धालु को (वह अग्निविद्या)) प्रब्रूहि = भलीभांति समझाकर कहिये; स्वर्गलोकाः = स्वर्गलोक के निवासी; अमृतत्वम्= अमरत्व को; भजन्ते= प्राप्त होते हैं (इसलिये); एतत् = यह (मैं); द्वितीयेन वरेण= दूसरे वर के रूप में; वृणे= मांगता हूं।।13।।

प्र ते ब्रवीमि तदु मे निबोध

स्वर्ग्यमग्निं नचिकेतः प्रजानन्।

अनन्तलोकाप्तिमथो प्रतिष्ठां

विद्धि त्वमेतं निहितं गुहायाम्।।14।।

हिन्दी अर्थ— (तब यमराज ने कहा—)

नचिकेतः= हे नचिकेता; स्वर्ग्यम् अग्निम्= स्वर्गदायिनी अग्निविद्या को; प्रजानन् = अच्छी तरह जानने वाला मैं; ते प्रब्रवीमि= तुम्हारे लिये उसे भली भांति बतलाता हूं; तत् उ मे निबोध=(तुम) उसे मुझसे भलीभांति समझ लो; त्वम् एतम्= तुम इस विद्या को; अनन्तलोकाप्तिम्= अविनाशी लोक की प्राप्ति

कराने वाली, प्रतिष्ठाम्= उसकी आधारस्वरूपा; अथो= और; गुहायाम् निहितम्= बुद्धिरूप गुफा में छिपी हुई; विद्धि =समझो॥14॥

लोकादिमग्निं तमुवाच तस्मै

या इष्टका यावतीर्वा यथा वा।

स चापि तत्प्रत्यवदद्यथोक्त-

मथास्य मृत्युः पुनरेवाह तुष्टः॥15॥

हिन्दी अर्थ- (इतना कहकर यमराज ने)

तम् लोकादिम्= उस स्वर्गलोक की कारण रूपा; अग्निम्= अग्निविद्या का; तस्मै उवाच= उस नचिकेता को उपदेश दिया; या: वा यावती:= उसमें कुण्ड-निर्माण आदि के लिये जो-जो और जितनी; इष्टका:= ईंटें आदि आवश्यक होती हैं; वा यथा= तथा जिस प्रकार उनका चयन किया जाता है (वे सब बातें भी बतायीं); च स: अपि= तथा उस नचिकेताने भी; तत् यथोक्तम्= वह जैसा सुना था, ठीक उसी प्रकार समझकर; प्रत्यवदत् = यमराज को पुनः सुना दिया, अथ= उसके बाद; मृत्युः अस्य तुष्टः = यमराज उस पर संतुष्ट होकर; पुनः एव आह= फिर बोले-॥15॥

तमब्रवीत् प्रीयमाणो महात्मा

वरं तवेहाद्य ददामि भूयः।

तवैव नाम्ना भवितायमग्निः

सृङ्कां चेमामनेकरूपां गृहाण॥16॥

हिन्दी अर्थ- (यमराज) प्रीयमाणः= (उसकी अलौकिक बुद्धि देखकर) प्रसन्न हुए; महात्मा= महात्मा यमराज; तम्=उस नचिकेता से; अब्रवीत्= बोले; अद्य= अब मैं; तव= तुमको; इह= यहां; भूयः वरम्= पुनः यह (अतिरिक्त) वर; ददामि= देता हूं कि; अयम् अग्निः=यह अग्निविद्या; तव एव नाम्ना= तुम्हारे ही नाम से; भविता= प्रसिद्ध होगी; च इमाम् = तथा इस; अनेकरूपाम् सृङ्काम्= अनेक रूपोंवाली रत्नों की माला को भी; गृहाण = तुम स्वीकार करो॥16॥

त्रिणाचिकेतस्त्रिभिरेत्य संधिं

त्रिकर्मकृत् तरति जन्ममृत्यू।

ब्रह्मजज्ञं देवमीड्यं विदित्वा

निचाय्येमाँ शान्तिमत्यन्तमेति॥17॥

हिन्दी अर्थ— (अग्निविद्या का फल बताते हुए यमराज कहते हैं—) त्रिणाचिकेतः= इस (अग्निका शास्त्रोक्त रीति से) तीन बार अनुष्ठान करने वाला; त्रिभिः संधिम् एत्य = तीनों (ऋक्, साम, यजुर्वेद) के साथ सम्बन्ध जोड़कर; त्रिकर्मकृत्= यज्ञ, दान और तपस्वरूप तीनों कर्मों को निष्काम-भाव से करता रहनेवाला मनुष्य; जन्ममृत्यू तरति= जन्म-मृत्यु से तर जाता है; ब्रह्मजज्ञम्= (वह) ब्रह्मा से उत्पन्न सृष्टि के जाननेवाले; ईड्यम् देवम्= स्तवनीय इस अग्निदेव को; विदित्वा= जानकर तथा; निचाय्य = इसका निष्कामभाव से चयन करके; इमाम् अत्यन्तम् शान्तिम् एति= इस अनन्त शान्ति को पा जाता है (जो मुझको प्राप्त है)।।17।।

त्रिणाचिकेतस्त्रयमेतद्विदित्वा

य एवं विद्वान्श्चिनुते नाचिकेतम्।

स मृत्युपाशान् पुरतः प्रणोद्य

शोकातिगो मोदते स्वर्गलोके।।18।।

हिन्दी अर्थ— एतत् त्रयम् = ईदों के स्वरूप, संख्या और अग्नि-चयन-विधि-इन तीनों बातों को; विदित्वा= जानकर; त्रिणाचिकेतः= तीन बार नाचिकेत-अग्निविद्या का अनुष्ठान करने वाला तथा; यः एवम्— जो कोई भी इस प्रकार; विद्वान्= जाननेवाला पुरुष; नाचिकेतम्= इस नाचिकेत अग्निका; चिनुते= चयन करता है; सः मृत्युपाशान्= वह मृत्यु के पाशको; पुरतः प्रणोद्य= अपने सामने ही (मनुष्य-शरीर में ही) काटकर; शोकातिगः= शोक से पार होकर; स्वर्गलोके मोदते= स्वर्गलोक में आनन्द का अनुभव करता है।।18।।

एष तेऽग्निर्नचिकेतः स्वर्ग्यो

यमवृणीथा द्वितीयेन वरेण।

एतमग्निं तवैव प्रवक्ष्यन्ति जनास—

स्तृतीयं वरं नचिकेतो वृणीष्व।।19।।

नचिकेतः = हे नचिकेता; एषः ते= यह तुम्हें बतलायी हुई; स्वर्ग्यः अग्निः= स्वर्ग प्रदान करने वाली अग्निविद्या है; यम् द्वितीयेन वरेण अवृणीथाः= जिसको तुमने दूसरे वरसे मांगा था; एतम् अग्निम्= इस अग्नि को (अब से); जनासः = लोग; तव एव = तुम्हारे ही नाम से; प्रवक्ष्यन्ति= कहा करेंगे; नचिकेतः = हे नचिकेता; तृतीयम् वरम् वृणीष्व= (अब तुम) तीसरा वर मांगो।।19।।

येयं प्रेते विचिकित्सा मनुष्ये—

ऽस्तीत्येके नायमस्तीति चैके।

एतद्विद्यामनुशिष्टस्त्वयाहं

वराणामेष वरस्तृतीयः।।20।।

(हिन्दी अर्थ— नचिकेता यमराज से तीसरा वर मांगता है—) प्रेते मनुष्ये= मरे हुए मनुष्य के विषय में; या इयम् = जो यह; विचिकित्सा= संशय है; एके (आहुः) अयम् अस्ति इति= कोई तो यों कहते हैं कि मरने के बाद यह आत्मा रहता है; च एके (आहुः) न अस्ति इति= और कोई ऐसा कहते हैं कि नहीं रहता; त्वया अनुशिष्टः= आपके द्वारा उपदेश पाया हुआ, अहम् एतत् विद्याम् = मैं इसका निर्णय भलीभांति समझ लूं; एषः वराणाम्= यही तीनों वरों में से; तृतीयः वरः = तीसरा वर है।।20।।

देवैरत्रापि विचिकित्सितं पुरा

न हि सुविज्ञेयमणुरेष धर्मः।

अन्यं वरं नचिकेतो वृणीष्व

मा मोपरोत्सीरति मा सृजैनम्।।21।।

हिन्दी अर्थ—(नचिकेता द्वारा वरदान मांगने पर यमराज ने उसकी परीक्षा लेने हेतु कहा—) नचिकेतः= हे नचिकेता; अत्र पुरा= इस विषय में पहले; देवैः अपि= देवताओं ने भी; विचिकित्सितम्= संदेह (जिज्ञासा) किया था (परंतु उनकी भी समझ में नहीं आया); हि एषः धर्मः अणुः = क्योंकि यह विषय बड़ा सूक्ष्म है; न सुविज्ञेयम्= सहज ही समझ में आने वाला नहीं है (इसलिये); अन्यम् वरम् वृणीष्व= तुम दूसरा वर मांग लो; मा मा उपरोत्सीः = मुझ पर दबाव मत डालो; एनम् मा= इस आत्म ज्ञान सम्बन्धी वर को मुझे; अतिसृज = लौटा दो।।21।।

देवैरत्रापि विचिकित्सितं किल

त्वं च मृत्यो यन्न सुविज्ञेयमात्थ।

वक्ता चास्य त्वादृगन्यो न लभ्यो

नान्यो वरस्तुल्य एतस्य कश्चित्।।22।।

हिन्दी अर्थ— (नचिकेता ने तनिक भी न घबराते हुए दृढ़ता से कहा—) मृत्यो—हे यमराज; त्वम् यत् आत्थ= आपने जो यह कहा कि; अत्र किल देवैः अपि— सचमुच इस विषय पर देवताओं ने भी; विचिकित्सितम्= विचार किया था (परन्तु वे निर्णय नहीं कर पाये); च न सुविज्ञेयम् = और वह सुविज्ञेय भी नहीं है (इतना ही नहीं); च= इसके सिवा; अस्य वक्ता= इस विषय का कहने वाला भी; त्वादृक्= आपके—जैसा; अन्यः न लभ्यः =दूसरा नहीं मिल सकता; (अतः) = इसलिये मेरी समझ में तो; एतस्य तुल्यः = इसके समान; अन्यः कश्चित्= दूसरा कोई भी; वरः न= वर नहीं है।।22।।

शतायुषः पुत्रपौत्रान् वृणीष्व

बहून् पशून् हस्तिहिरण्यमश्वान्।

भूमेर्महदायतनं वृणीष्व

स्वयं च जीव शरदो यावदिच्छसि ।।23।।

हिन्दी अर्थ— (यमराज ने नचिकेता को अन्य प्रलोभन देने हेतु कहा—) शतायुषः= सैकड़ों वर्षों की आयुवाले; पुत्रपौत्रान्= बेटे और पोतों को (तथा); बहून् पशून्= बहुत-से गौ आदि पशुओं को (एवं); हस्तिहिरण्यम्= हाथी, सुवर्ण और; अश्वान् वृणीष्व= घोड़ों को मांग लो; भूमेः महत आयतनम्= भूमि के बड़े विस्तारवाले मण्डल (साम्राज्य) को; वृणीष्व= मांग लो; स्वयम् च = तुम स्वयं भी; यावत् शरदः= जितने वर्षों तक; इच्छसि= चाहो; जीव= जीते रहो ।।23।।

एतत्तुल्यं यदि मन्यसे वरं

वृणीष्व वित्तं चिरजीविकां च ।

महाभूमौ नचिकेतस्त्वमेधि

कामानां त्वा कामभाजं करोमि ।।24।।

हिन्दी अर्थ— नचिकेतः = हे नचिकेता; वित्तम् चिरजीविकाम्= धन, सम्पत्ति और अनन्तकाल तक जीने के साधनों को; यदि त्वम्= यदि तुम; एतत्तुल्यम्= इस आत्मज्ञानविषयक वरदान के समान; वरम् मन्यसे वृणीष्व= वर मानते हो तो मांग लो; च महाभूमौ= और तुम इस पृथ्वीलोक में; एधि= बड़े भारी सम्राट् बन जाओ; त्वा कामानाम्= (मैं) तुम्हें सम्पूर्ण भोगों में से; कामभाजम्= अति उत्तम भोगों को भोगनेवाला; करोमि= बना देता हूँ ।।24।।

ये ये कामा दुर्लभा मर्त्यलोके

सर्वान् कामाँश्छन्दतः प्रार्थयस्व ।

इमा रामाः सरथाः सतूर्या

न हीदृशा लम्बनीया मनुष्यैः ।

आभिर्मत्प्रताभिः परिचारयस्व

नचिकेतो मरणं मानुप्राक्षीः ।।25।।

हिन्दी अर्थ— (यमराज स्वर्गीय प्रलोभन देते हुए बोले—) ये ये कामाः= जो-जो भोग; मर्त्यलोके= मनुष्य लोक में; दुर्लभाः= दुर्लभ हैं; सर्वान् कामान्= उन सम्पूर्ण भोगों को; छन्दतः प्रार्थयस्व= इच्छानुसार मांग लो; सरथाः सतूर्याः इमाः रामाः= रथ और नाना प्रकार के बाजों के सहित इन स्वर्ग की अप्सराओं को (अपने साथ ले जाओ); मनुष्यैः ईदृशाः = मनुष्यों को ऐसी स्त्रियाँ न हि लम्बनीयाः= निःसंदेह अलभ्य हैं; मत्प्रताभिः= मेरे द्वारा दी हुई; आभिः= इन स्त्रियों से; परिचारयस्व= तुम अपनी सेवा कराओ; नचिकेतः = हे नचिकेता; मरणम् = मरने के बाद आत्मा का क्या होता है; मा अनुप्राक्षीः= इस बात को मत पूछो ।।25।।

श्वोभावा मर्त्यस्य यदन्तकैतत्

सर्वेन्द्रियाणां जरयन्ति तेजः ।

अपि सर्वं जीवितमल्पमेव

तवैव वाहास्तव नृत्यगीते ।।26।।

हिन्दी अर्थ— (नचिकेता प्रलोभन में नहीं आया, वह यमराज को बोला—) अन्तक= हे यमराज! (जिनका आपने वर्णन किया, वे); श्वोभावाः= क्षणभंगुर भोग (और उनसे प्राप्त होने वाले सुख); मर्त्यस्य = मनुष्य के; सर्वेन्द्रियाणाम्= अन्तःकरण सहित सम्पूर्ण इन्द्रियों का; यत् तेजः = जो तेज है; एतत्= उसको; जरयन्ति= क्षीण कर डालते हैं; अपि सर्वम्= इसके सिवा समस्त; जीवितम्= आयु (चाहे वह कितनी भी बड़ी क्यों न हो); अल्पम् एव = अल्प ही है (इसलिये); तव वाहाः = ये आपके रथ आदि वाहन और; नृत्यगीते= ये अप्सराओं के नाच-गान; तव एव= आपके ही पास रहें (मुझे नहीं चाहिये) ।।26।।

न वित्तेन तर्पणीयो मनुष्यो

लप्स्यामहे वित्तमद्राक्ष्म चेत् त्वा ।

जीविष्यामो यावदीशिष्यसि त्वं

वरस्तु मे वरणीयः स एव ।।27।।

हिन्दी अर्थ— मनुष्यः = मनुष्य; वित्तेन= धन से; तर्पणीयः न= कभी भी तृप्त नहीं किया जा सकता है; चेत्= जब कि (हमने) त्वा अद्राक्ष्म= आपके दर्शन पा लिये हैं (तब); वित्तम्= धन को; लप्स्यामहे= (तो हम) पा ही लेंगे; (और) त्वम् यावत्= आप जब तक; ईशिष्यसि= शासन करते रहेंगे (तब तक तो); जीविष्यामः= हम जीते ही रहेंगे (इन सबको भी क्या मांगना है अतः); मे वरणीयः वरः तु= मेरे मांगने लायक वर तो; सः एव = वह (आत्मज्ञान) ही है ।।27।।

अजीर्यताममृतानामुपेत्य

जीर्यन् मर्त्यः क्वधःस्थः प्रजानन् ।

अभिध्यायन् वर्णरतिप्रमोदा—

नतिदीर्घं जीविते को रमेत ।।28।।

हिन्दी अर्थ— जीर्यन् मर्त्यः =यह मनुष्य जीर्ण होने वाला और मरणधर्मा है; प्रजानन्= इस तत्त्व को भलीभांति समझने वाला; क्वधःस्थः= मनुष्यलोक का निवासी; कः = कौन (ऐसा) मनुष्य है (जो कि); अजीर्यताम्= बुढ़ापे से रहित; अमृतानाम्= न मरने वाले (आप-सदृश) महात्माओं का; उपेत्य = संग

पाकर भी; वर्णरतिप्रमोदान्= (स्त्रियों के) सौन्दर्य, क्रीड़ा और आमोद-प्रमोद का; अभिधायन्= बार-बार चिन्तन करता हुआ; अतिदीर्घ= बहुत कालतक; जीविते= जीवित रहने में; रमेत= प्रेम करेगा? ।।28।।

यस्मिन्निदं विचिकित्सन्ति मृत्यो

यत्साम्पराये महति ब्रूहि नस्तत् ।

योऽयं वरो गूढमनुप्रविष्टो

नान्यं तस्मान्नचिकेता वृणीते ।।29।।

हिन्दी अर्थ- मृत्यो= हे यमराज; यस्मिन्= जिस; महति साम्पराये= महान् आश्चर्यमय परलोक सम्बन्धी आत्मज्ञान के विषय में; इदम् विचिकित्सन्ति= (लोग) यह शंका करते हैं कि यह आत्मा मरने के बाद रहता है या नहीं; (तत्र) यत्= उसमें जो निर्णय है; तत् नः ब्रूहि= वह आप हमें बतलाइये; यः अयम्= जो यह; गूढम् अनुप्रविष्टः वरः = अत्यन्त गंभीरता को प्राप्त हुआ वर है; तस्मात्= इससे; अन्यम् = दूसरा वर= नचिकेताः = नचिकेता; न वृणीते= नहीं मांगता ।।29।।

(प्रथम अध्याय/दूसरी वल्ली)

अन्यच्छ्रेयोऽन्यदुतैव प्रेय-

स्ते उभे नानार्थे पुरुषंसिनीतः ।

तयोः श्रेय आददानस्य साधु

भवति हीयतेऽर्थाद्य उ प्रेयो वृणीते ।।1।।

हिन्दी अर्थ- (ब्रह्मविद्या का उपदेश देने से पूर्व, उसकी महत्ता प्रकट करने हेतु यमराज बोले-) श्रेयः = कल्याण का साधन; अन्यत्= अलग है; उत= और; प्रेयः = प्रिय लगनेवाले भोगों का साधन; अन्यत् एव= अलग ही है; ते= वे; नानार्थे= भिन्न-भिन्न फल देनेवाले; उभे= दोनों साधन; पुरुषम् = मनुष्य को; सिनीतः = बांधते हैं- अपनी-अपनी ओर आकर्षित करते हैं; तयोः = उन दोनों में से; श्रेयः = कल्याण के साधन को; आददानस्य = ग्रहण करने वाले का; साधु भवति= कल्याण होता है; उ यः = परंतु जो; प्रेयः वृणीते= सांसारिक भोगों के साधन को स्वीकार करता है; (सः= वह) अर्थात् = यथार्थ लाभ से; हीयते= भ्रष्ट हो जाता है ।।1।।

श्रेयश्च प्रेयश्च मनुष्यमेत-

स्तौ सम्परीत्य विविनक्ति धीरः ।

श्रेयो हि धीरोऽभि प्रेयसो वृणीते

प्रेयो मन्दो योगक्षेमाद् वृणीते ।।2।।

हिन्दी अर्थ— श्रेयः च प्रेयः च= श्रेय और प्रेय—ये दोनों ही; मनुष्यम् एतः= मनुष्य के सामने आते हैं; धीरः= बुद्धिमान् मनुष्य; तौ= उन दोनों के स्वरूप पर; सम्परीत्य = भलीभांति विचार करके; विविनक्ति= उनको पृथक्-पृथक् समझ लेता है; (और) धीरः= वह श्रेष्ठबुद्धिमनुष्य; श्रेयः हि = परम कल्याण के साधन को ही; प्रेयसः =भोग-साधन की अपेक्षा; अभिवृणीते= श्रेष्ठ समझकर ग्रहण करता है (परंतु); मन्दः= मन्दबुद्धिवाला मनुष्य; योगक्षेमात्= लौकिक योगक्षेम की इच्छा से; प्रेयः वृणीते= भोगों के साधन रूप प्रेय को अपनाता है।।2।।

स त्वं प्रियान् प्रियरूपाँश्च कामा—

नभिध्यायन्नचिकेतोऽत्यस्राक्षीः ।

नैताँ सृङ्कां वित्तमयीमवाप्तो

यस्यां मज्जन्ति बहवो मनुष्याः ।।3।।

हिन्दी अर्थ— (यमराज नचिकेता के वैराग्य की प्रशंसा करते हुए कहते हैं—) नचिकेतः = हे नचिकेता! (उन्हीं मनुष्यों में); सः त्वम्= तुम (ऐसे निःस्पृह हो कि); प्रियान् च= प्रिय लगनेवाले और; प्रियरूपान्= अत्यन्त सुन्दर रूपवाले; कामान्= इस लोक और परलोक के समस्त भोगों को; अभिध्यायन्= भलीभांति सोच-समझकर; अत्यस्राक्षीः= (तुमने) छोड़ दिया; एताम् वित्तमयीम् सृङ्काम्= इस सम्पत्तिरूप शृंखला (बेड़ी) को; न अवाप्तः= (तुम) नहीं प्राप्त हुए (इसके बंधन में नहीं फंसे); यस्याम्= जिसमें; बहवः मनुष्याः= बहुत-से मनुष्य; मज्जन्ति= फंस जाते हैं।।3।।

दूरमेते विपरीते विषूची

अविद्या या च विद्येति ज्ञाता ।

विद्याभीप्सिनं नचिकेतसं मन्ये

न त्वा कामा बहवोऽलोलुपन्त ।।4।।

हिन्दी अर्थ— या अविद्या= जो कि अविद्या; च विद्या इति ज्ञाता= और विद्या नाम से विख्यात हैं; एते= ये दोनों; दूरम् विपरीते= परस्पर अत्यन्त विपरीत; (और) विषूची= भिन्न-भिन्न फल देने वाली हैं; नचिकेतसम्= तुम नचिकेता को; विद्याभीप्सिनम् मन्ये= मैं विद्या का ही अभिलाषी मानता हूं (क्योंकि); त्वा बहवः कामाः = तुमको बहुत-से भोग; न अलोलुपन्त= (किसी प्रकार भी) नहीं लुभा सके।।4।।

अविद्यायामन्तरे वर्तमानाः

स्वयं धीराः पण्डितम्मन्यमानाः ।

दन्द्रम्यमाणाः परियन्ति मूढा

अन्धेनैव नीयमाना यथान्धाः ।।5।।

हिन्दी अर्थ— अविद्यायाम् अन्तरे वर्तमानाः= अविद्या के भीतर रहते हुए (भी); स्वयं धीराः= अपने-आपको बुद्धिमान् (और) पण्डितम् मन्यमानाः= विद्वान् मानने वाले; मूढाः=(भोग की इच्छा करने वाले) वे मूर्ख लोग; दन्द्रम्यमाणाः= नाना योनियों में चारों ओर भटकते हुए; (तथा) परियन्ति= ठीक वैसे ही ठोकरें खाते रहते हैं; यथा= जैसे; अन्धेन एव नीयमानाः = अन्धे मनुष्य द्वारा चलाये जानेवाले; अन्धा= अन्धे (अपने लक्ष्य तक न पहुंचकर इधर-उधर भटकते और कष्ट भोगते हैं)।।5।।

न साम्परायः प्रतिभाति बालं

प्रमाद्यन्तं वित्तमोहेन मूढम्।

अयं लोको नास्ति पर इति मानी

पुनः पुनर्वशमापद्यते मे।।6।।

हिन्दी अर्थ— वित्तमोहेन मूढम्= इस प्रकार सम्पत्ति के मोह से मोहित; प्रमाद्यन्तम् बालम्= निरन्तर प्रमाद करने वाले अज्ञानी को; साम्परायः = परलोक; न प्रतिभाति= नहीं सूझता; अयम् लोकः = (वह समझता है) कि यह प्रत्यक्ष दीखनेवाला लोक ही सत्य है; परः न अस्ति= इसके सिवा दूसरा (स्वर्ग-नरक आदि लोक) कुछ भी नहीं है; इति मानी= इस प्रकार मानने वाला अभिमानी मनुष्य; पुनःपुनः = बार-बार; मे वशम्= मेरे (यमराज के) वश में; आपद्यते= आता है।।6।।

श्रावणायापि बहुभिर्यो न लभ्यः

शृण्वन्तोऽपि बहवो यं न विद्युः।

आश्चर्यो वक्ता कुशलोऽस्य लब्धा-

ऽऽश्चर्यो ज्ञाता कुशलानुशिष्टः।।7।।

हिन्दी अर्थ— यः बहुभिः= जो (आत्मतत्त्व) बहुतों को तो; श्रवणाय अपि= सुनने के लिये भी; न लभ्यः = नहीं मिलता; यम्= जिसको; बहवः= बहुत से लोग; शृण्वन्तः अपि= सुनकर भी; न विद्युः= नहीं समझ सकते; अस्य =ऐसे इस गूढ़ आत्मतत्त्व का; वक्ता आश्चर्यः= वर्णन करने वाला भी बड़ा कुशल (सफल-जीवन) कोई एक ही होता है; कुशलानुशिष्टः= और जिसे तत्त्व की उपलब्धि हो गयी है, ऐसे ज्ञानी महापुरुष के द्वारा शिक्षा प्राप्त किया हुआ; ज्ञाता=आत्मतत्त्व का ज्ञाता भी; आश्चर्यः= आश्चर्यमय है (परम दुर्लभ है)।।7।।

न नरेणावरेण प्रोक्त एष

सुविज्ञेयो बहुधा चिन्त्यमानः।

अनन्यप्रोक्ते गतिरत्र नास्ति

अणीयान् ह्यतर्क्यमणुप्रमाणात्।।8।।

हिन्दी अर्थ— (यमराज आत्मज्ञान की दुर्लभता का कारण बता रहे हैं—) अवरेण नरेण प्रोक्तः= अल्पज्ञ मनुष्य के द्वारा बतलाये जाने पर; बहुधा चिन्त्यमानः= (और उनके अनुसार) बहुत प्रकार से चिन्तन किये जाने पर भी; एषः= यह आत्मतत्त्व; सुविज्ञेयः न= सहज ही समझ में आ जाय, ऐसा नहीं है; अनन्यप्रोक्ते= किसी दूसरे ज्ञानी पुरुष के द्वारा उपदेश न किये जाने पर; अत्र गतिः न अस्ति= इस विषय में मनुष्य का प्रवेश नहीं होता; हि अणुप्रमाणात्= क्योंकि यह अत्यन्त सूक्ष्म वस्तु से भी; अणीयान्= अधिक सूक्ष्म है; अतर्क्यम्= (इसलिये) तर्क से अतीत है। ॥8॥

नैषा तर्केण मतिरापनेया

प्रोक्तान्येनैव सुज्ञानाय प्रेष्ठ ।

यां त्वमापः सत्यधृतिर्बतासि

त्वादृङ् नो भूयान्नचिकेतः प्रष्टा ॥9॥

हिन्दी अर्थ— प्रेष्ठ= हे प्रियतम!; याम् त्वम् आपः= जिसको तुमने पाया है; एषा मतिः = यह बुद्धि; तर्केण न आपनेया= तर्क से नहीं मिल सकती (यह तो); अन्येन प्रोक्ता एव= दूसरे के द्वारा कही हुई ही; सुज्ञानाय = आत्मज्ञान में निमित्त; (भवति= होती है:) बत= सचमुच ही (तुम); सत्यधृतिः= उत्तम धैर्यवाले; असि= हो; नचिकेतः= हे नचिकेता! (हम चाहते हैं कि); त्वादृक् = तुम्हारे—जैसे ही; प्रष्टा= पूछने वाले; नः भूयात्= हमें मिला करें। ॥9॥

जानाम्यहं शेवधिरित्यनित्यं

न ह्यध्रुवैः प्राप्यते हि ध्रुवं तत् ।

ततो मया नाचिकेतश्चितोऽग्नि—

रनित्यैर्द्रव्यैः प्राप्तवानस्मि नित्यम् ॥10॥

हिन्दी अर्थ— (यमराज निष्काम भाव की प्रशंसा कर रहे हैं—) अहम् जानामि= मैं जानता हूँ कि; शेवधिः= कर्मफलरूप निधि; अनित्यम् इति= अनित्य है; हि अध्रुवैः = क्योंकि अनित्य (विनाशशील) वस्तुओं से; तत् ध्रुवम्= वह नित्य पदार्थ (परमात्मा); न हि प्राप्यते= नहीं मिल सकता; ततः = इसलिये; मया= मेरे द्वारा (कर्तव्यबुद्धि से); अनित्यैः द्रव्यैः= अनित्य पदार्थों के द्वारा; नाचिकेतः= नाचिकेत नामक; अग्निः चितः=अग्नि का चयन किया गया (अनित्य भोगों की प्राप्ति के लिये नहीं, अतः उस निष्काम भाव की अपूर्व शक्ति से मैं); नित्यम्= नित्य वस्तु परमात्मा को; प्राप्तवान् अस्मि= प्राप्त हो गया हूँ। ॥10॥

कामस्याप्तिं जगतः प्रतिष्ठां

क्रतोरनन्त्यमभयस्य पारम् ।

स्तोममहदुरुगायं प्रतिष्ठां

दृष्टा धृत्या धीरो नचिकेतोऽत्यस्राक्षीः ॥11॥

हिन्दी अर्थ— नचिकेतः= हे नचिकेता!; कामस्य आप्तिम्= जिसमें सब प्रकार के भोग मिल सकते हैं; जगतः प्रतिष्ठाम्= जो जगत् का आधार; क्रतोः अनन्त्यम्= यज्ञ का चिरस्थायी फल; अभयस्य पारम्= निर्भयता की अवधि (और); स्तोममहत्= स्तुति करने योग्य एवं महत्त्वपूर्ण है (तथा); उरुगायम्= वेदों में जिसके गुण नाना प्रकार से गाये गये हैं; प्रतिष्ठाम्= (और) जो दीर्घकालतक की स्थिति से सम्पन्न है, ऐसे स्वर्ग लोक को; दृष्ट्वा धृत्या= देखकर भी तुमने धैर्यपूर्वक; अत्यस्राक्षीः= उसका त्याग कर दिया; (अतः=इसलिये;) (मैं) समझता हूँ कि) धीरः (असि)= (तुम) बहुत ही बुद्धिमान् हो॥11॥

तं दुर्दर्शं गूढमनुप्रविष्टं

गुहाहितं गह्वरेष्ठं पुराणम् ।

अध्यात्मयोगाधिगमेन देवं

मत्वा धीरो हर्षशोकौ जहाति॥12॥

हिन्दी अर्थ— (यमराज परब्रह्म की महिमा का वर्णन कर रहे हैं—) गूढम्=जो योगमाया के पर्दे में छिपा हुआ; अनुप्रविष्टम्=सर्वव्यापी; गुहाहितम्= सबके हृदयरूप गुफा में स्थित (अतएव) गह्वरेष्ठम्= संसार रूप गहन वन में रहनेवाला; पुराणम्= सनातन है, ऐसे; तम् दुर्दर्शम् देवम्= उस कठिनता से देखे जाने वाले परमात्म देव को; धीरः= शुद्ध बुद्धियुक्त साधक; अध्यात्मयोगाधिगमेन= अध्यात्म योग की प्राप्ति के द्वारा; मत्वा= समझकर; हर्षशोकौ जहाति= हर्ष और शोक को त्याग देता है॥12॥

एतच्छ्रुत्वा सम्परिगृह्य मर्त्यः

प्रवृह्य धर्ममणुमेतमाप्य ।

स मोदते मोदनीयं हि लब्ध्वा

विवृतं सदम् नचिकेतसं मन्ये॥13॥

हिन्दी अर्थ— मर्त्यः = मनुष्य(जब); एतत्= इस; धर्मम्= धर्ममय (उपदेश) को; श्रुत्वा= सुनकर; सम्परिगृह्य= भली भांति ग्रहण करके; प्रवृह्य=(और) उस पर विवेकपूर्वक विचार करके; एतम्= इस; अणुम्= सूक्ष्म आत्मतत्त्व को; आप्य =जानकर (अनुभव कर लेता है, तब); सः=वह; मोदनीयम्= आनन्दस्वरूप परब्रह्म पुरुषोत्तम को; लब्ध्वा=पाकर; मोदते हि= आनन्द में ही मग्न हो जाता है; नचिकेतसम्= तुम नचिकेता के लिये; विवृतम् सदम् मन्ये= (मैं) परमधाम का द्वार खुला हुआ मानता हूँ॥13॥

अन्यत्र धर्मादन्यत्राधर्मादन्यत्रास्मात्कृताकृतात् ।

अन्यत्र भूताच्च भव्याच्च यत्तत्पश्यसि तद्वद॥14॥

हिन्दी अर्थ— (नचिकेता ने यमराज से जिज्ञासा की—) यत् तत्= जिस उस परमेश्वर को; धर्मात् अन्यत्र = धर्म से अतीत; अधर्मात् अन्यत्र = अधर्म से भी अतीत; च= तथा; अस्मात् कृताकृतात्= इस कार्य और कारणरूप सम्पूर्ण जगत् से भी; अन्यत्र =भिन्न; च= और; भूतात् भव्यात्= भूत, वर्तमान एवं भविष्यत्—तीनों कालों से तथा इनसे सम्बन्धित पदार्थों से भी; अन्यत्र =पृथक्; पश्यसि= (आप) जानते हैं; तत्= उसे; वद= बतलाइये॥14॥

सर्वे वेदा यत् पदमामनन्ति

तपांसि सर्वाणि च यद् वदन्ति ।

यदिच्छन्तो ब्रह्मचर्यं चरन्ति

तत्ते पदं संग्रहेण ब्रवीम्यमित्येतत् ॥15॥

हिन्दी अर्थ— (अब यमराज नचिकेता को ब्रह्मतत्त्व का उपदेश दे रहे हैं—) सर्वे वेदाः= सम्पूर्ण वेद; यत् पदम्= जिस परम पद का; आमनन्ति= बारम्बार प्रतिपादन करते हैं; च= और; सर्वाणि तपांसि= सम्पूर्ण तप; यत्= जिस पदका; वदन्ति= लक्ष्य कराते हैं अर्थात् वे जिसके साधन हैं; यत् इच्छन्तः= जिसको चाहने वाले साधकगण; ब्रह्मचर्यम्= ब्रह्मचर्य का; चरन्ति= पालन करते हैं; तत् पदम्= वह पद; ते= तुम्हें; (मैं) संग्रहेण=संक्षेप से; ब्रवीमि=बतलाता हूँ; (वह है) ओम्= ओम्; इति= ऐसा; एतत्= यह (एक अक्षर) है॥15॥

एतद्व्येवाक्षरं ब्रह्म एतद्व्येवाक्षरं परम् ।

एतद्व्येवाक्षरं ज्ञात्वा यो यदिच्छति तस्य तत् ॥16॥

हिन्दी अर्थ— एतत्= यह; अक्षरम् एव हि= अक्षर ही तो; ब्रह्म=ब्रह्म है (और); एतत्= यह; अक्षरम् एव हि= अक्षर ही; परम्= परब्रह्म है; हि= इसलिये; एतत् एव= इसी; अक्षरम्= अक्षर को; ज्ञात्वा= जानकर; यः =जो; यत्=जिसको; इच्छति=चाहता है; तस्य =उसको; तत्= वही (मिल जाता है)॥16॥

एतदालम्बनं श्रेष्ठमेतदालम्बनं परम् ।

एतदालम्बनं ज्ञात्वा ब्रह्मलोके महीयते ॥17॥

हिन्दी अर्थ— एतत्= यही; श्रेष्ठम्=अत्युत्तम; आलम्बनम्= आलम्बन है; एतत्= यही (सबका), परम् आलम्बनम्= अन्तिम आश्रय है; एतत्= इस; आलम्बनम्= आलम्बन को; ज्ञात्वा= भलीभांति जानकर (साधक); ब्रह्मलोके= ब्रह्मलोक में; महीयते= महिमान्वित होता है॥17॥

न जायते म्रियते वा विपश्चि—

न्नायं कुतश्चिन्न बभूव कश्चित् ।

अजो नित्यः शाश्वतोऽयं पुराणो

न हन्यते हन्यमाने शरीरे ॥18॥

हिन्दी अर्थ- (यमराज नचिकेता को आत्मतत्त्व का निरूपण कर रहे हैं-) विपश्चित्= नित्य ज्ञानस्वरूप आत्मा; न जायते= न तो जन्मता है; वा न म्रियते= और न मरता ही है; अयम् न= यह न तो स्वयं; कुतश्चित्= किसी से हुआ है; (न=न) (इससे); कश्चित्= कोई भी; बभूव= हुआ है अर्थात् यह न तो किसी का कार्य है और न कारण ही है; अयम्= यह; अजः = अजन्मा; नित्यः =नित्य; शाश्वतः= सदा एकरस रहने वाला (और); पुराणः= पुरातन है अर्थात् क्षय और वृद्धि से रहित है; शरीरे हन्यमाने= शरीर के नाश किये जाने पर भी (इसका); न हन्यते= नाश नहीं किया जा सकता।।18।।

हन्ता चेन्मन्यते हन्तुं हतश्चेन्मन्यते हतम्।

उभौ तौ न विजानीतो नायं हन्ति न हन्यते।।19।।

हिन्दी अर्थ- चेत्= यदि कोई; हन्ता= मारने वाला व्यक्ति; हन्तुम् = अपने को मारने में समर्थ; मन्यते= मानता है (और); चेत्= यदि; हतः=(कोई) मारा जाने वाला व्यक्ति; हतम्= अपने को मारा गया; मन्यते= समझता है (तो); तौ उभौ= वे दोनों ही; न विजानीतः= (आत्मस्वरूप को) नहीं जानते (क्योंकि); अयम्= यह आत्मा; न हन्ति= न तो (किसी को) मारता है (और); न हन्यते= न मारा ही जाता है।।19।।

अणोरणीयान्महतो महीया-

नात्मास्य जन्तोर्निहितो गुहायाम्।

तमक्रतुः पश्यति वीतशोको

धातुप्रसादान्महिमानमात्मनः।।20।।

हिन्दी अर्थ- (यमराज नचिकेता को परमात्मा का स्वरूप बता रहे हैं-) अस्य =इस; जन्तोः= जीवात्मा के; गुहायाम्= हृदयरूप गुफा में; निहितः= रहनेवाला; आत्मा= परमात्मा; अणोः अणीयान्= सूक्ष्म से अतिसूक्ष्म (और); महतः महीयान्= महान् से भी महान् है; आत्मनः तम् महिमानम्= परमात्मा की उस महिमा को; अक्रतुः =कामना रहित (और); वीतशोकः = चिन्तारहित (कोई विरला साधक); धातुप्रसादात्= सर्वाधार परब्रह्म परमेश्वर की कृपा से ही; पश्यति= देख पाता है।।20।।

आसीनो दूरं व्रजति शयानो याति सर्वतः।

कस्तं मदामदं देवं मदन्यो ज्ञातुमर्हति।।21।।

हिन्दी अर्थ- आसीनः= (वह परमेश्वर) बैठा हुआ ही; दूरम् व्रजति= दूर पहुंच जाता है; शयानः= सोता हुआ (भी); सर्वतः याति= सब ओर चलता रहता है; तम् मदामदम् देवम्= उस ऐश्वर्य के मद से उन्मत्त न होने वाले देव को; मदन्यः कः = मुझसे भिन्न दूसरा कौन; ज्ञातुम्= जानने में; अर्हति= समर्थ है।।21।।

अशरीरं शरीरेष्वनवस्थेष्ववस्थितम्।

महान्तं विभुमात्मानं मत्वा धीरो न शोचति।।22।।

हिन्दी अर्थ— अनवस्थेषु= (जो) स्थिर न रहने वाले (विनाशशील); शरीरेषु= शरीरों में; अशरीरम्= शरीररहित (एवं); अवस्थितम्= अविचल भाव से स्थित है; महान्तम्= (उस) महान्; विभुम्= सर्वव्यापी; आत्मानम्=परमात्मा को; मत्वा=जानकर; धीरः=बुद्धिमान् महापुरुष; न शोचति= (कभी किसी भी कारण से) शोक नहीं करता।।22।।

नायमात्मा प्रवचनेन लभ्यो

न मेधया न बहुना श्रुतेन।

यमेवैष वृणुते तेन लभ्य-

स्तस्यैष आत्मा विवृणुते तन्नू स्वाम्।।23।।

हिन्दी अर्थ— अयम् आत्मा= यह परब्रह्म परमात्मा; न= न तो; प्रवचनेन= प्रवचन से; न मेधया= न बुद्धि से (और); न बहुना श्रुतेन= न बहुत सुनने से ही; लभ्यः=प्राप्त हो सकता है; यम्= जिसको; एषः= यह; वृणुते= स्वीकार कर लेता है; तेन एव लभ्यः = उसके द्वारा ही प्राप्त किया जा सकता है (क्योंकि); एषः आत्मा= यह परमात्मा; तस्य = उसके लिये; स्वाम् तनूम्= अपने यथार्थ स्वरूप को; विवृणुते= प्रकट कर देता है।।23।।

नाविरतो दुश्चरितान्नाशान्तो नासमाहितः।

नाशान्तमानसो वापि प्रज्ञानेनैनाप्नुयात्।।24।।

हिन्दी अर्थ— प्रज्ञानेन= सूक्ष्म बुद्धि के द्वारा; अपि=भी; एनम्= इस परमात्मा को; न दुश्चरितात् अविरतः आप्रुयात्= न तो वह मनुष्य प्राप्त कर सकता है, जो बुरे आचरणों से निवृत्त नहीं हुआ है; न अशान्तः= न वह प्राप्त कर सकता है, जो अशान्त है; न असमाहितः= न वह कि जिसके मन, इन्द्रियां संयत नहीं हैं; वा= और; न अशान्तमानसः (आप्नुयात्)= न वही प्राप्त करता है, जिसका मन शान्त नहीं है, प्रज्ञानेन एतम् आप्नुवात्=आत्मज्ञान से ही इसे प्राप्त किया जा सकता है।।24।।

यस्य ब्रह्म च क्षत्रं च उभे भवत ओदनः।

मृत्युर्यस्योपसेचनं क इत्था वेद यत्र सः।।25।।

हिन्दी अर्थ— यस्य =(संहारकाल में) जिस परमेश्वर के; ब्रह्म च क्षत्रम् च उभे= ब्राह्मण और क्षत्रिय-ये दोनों ही अर्थात् सम्पूर्ण प्राणिमात्र; ओदनः= भोजन; भवतः= बन जाते हैं तथा; मृत्युः यस्य = सबका संहार करनेवाली मृत्यु (भी) जिसका; उपसेचनम्= उपसेचन (भोज्य वस्तु के साथ लगाकर खाने का व्यंजन, तरकारी आदि); (भवति)=बन जाता है; सः यत्र = वह परमेश्वर जहां (और); इत्था= जैसा है, यह ठीक-ठीक; कः वेद= कौन जानता है।।25।।

(प्रथम अध्याय / तृतीय वल्ली)

ऋतं पिबन्तौ सुकृतस्य लोके

गुहां प्रविष्टौ परमे परार्धे ।

छायातपौ ब्रह्मविदो वदन्ति

पञ्चाग्नयो ये च त्रिणाचिकेताः ॥१॥

हिन्दी अर्थ— (यमराज नचिकेता को जीवात्मा व परमात्मा के विषय में उपदेश दे रहे हैं—) सुकृतस्य लोके= शुभ कर्मों के फलस्वरूप मनुष्य-शरीर में; परमे परार्धे= परब्रह्म के उत्तम निवास-स्थान (हृदय-आकाश) में; गुहाम् प्रविष्टौ= बुद्धिरूप गुफा में छिपे हुए; ऋतम् पिबन्तौ= सत्य का पान करने वाले (दो हैं); छायातपौ= (वे) छाया और धूप की भांति परस्पर भिन्न हैं; (यह बात) ब्रह्मविदः= ब्रह्मवेत्ता ज्ञानी महापुरुष; वदन्ति= कहते हैं; च ये= तथा जो; त्रिणाचिकेताः= तीन बार नाचिकेत अग्निका चयन कर लेने वाले; (और) पञ्चाग्नयः=पञ्चाग्निसम्पन्न गृहस्थ हैं; (ते वदन्ति) = वे भी यही बात कहते हैं ॥१॥

यः सेतुरीजानानामक्षरं ब्रह्म यत् परम् ।

अभयं तितीर्षतां पारं नाचिकेतं शकेमहि ॥२॥

हिन्दी अर्थ— (यमराज नचिकेता को बता रहे हैं कि परमात्मा को जानने व पाने की शक्ति प्राप्त करने हेतु उन्हीं से प्रार्थना करणीय है—) ईजानानाम्= यज्ञ करने वालों के लिये; यः सेतुः= जो दुःख-समुद्र से पार पहुंचा देने योग्य सेतु है; (तम्) नाचिकेतम्= उस नाचिकेत अग्नि को (और); पारम् तितीर्षताम्= संसार-समुद्र से पार होने की इच्छा वालों के लिये; यत् अभयम्= जो भयरहित पद है; (तत्) अक्षरम्= उस अविनाशी; परम् ब्रह्म=परब्रह्म पुरुषोत्तम को; शकेमहि= जानने और प्राप्त करने में भी हम समर्थ हों ॥२॥

आत्मानं रथिनं विद्धि शरीरं रथमेव तु ।

बुद्धिं तु सारथिं विद्धि मनः प्रग्रहमेव च ॥३॥

हिन्दी अर्थ— (परब्रह्म के परम धाम में पहुंचने के लिए यमराज नचिकेता को रथ व रथी के रूपक की कल्पना द्वारा समझा रहे हैं—) आत्मानम्= (हे नचिकेता! तुम) जीवात्मा को तो; रथिनम्= रथ का स्वामी (उसमें बैठकर चलने वाला); विद्धि =समझो; तु= और; शरीरम् एव=शरीर को ही; रथम्= रथ (समझो); तु बुद्धिम् = तथा बुद्धि को; सारथिम्= सारथि (रथ को चलाने वाला); विद्धि = समझो; च मनः एव= और मन को ही; प्रग्रहम्= लगाम (समझो) ॥३॥

इन्द्रियाणि हयानाहुर्विषयाँस्तेषु गोचरान् ।

आत्मेन्द्रियमनोयुक्तं भोक्तेत्याहुर्मनीषिणः ।।4।।

हिन्दी अर्थ— मनीषिणः = ज्ञानीजन (इस रूपक में); इन्द्रियाणि=इन्द्रियों को; हयान्= घोड़े; आहुः= बतलाते हैं (और); विषयान् =विषयों को; तेषु गोचरान्= उन घोड़ों के विचरने का मार्ग (बतलाते हैं); आत्मेन्द्रियमनोयुक्तम्= (तथा) शरीर, इन्द्रिय और मन—इन सबके साथ रहने वाला जीवात्मा ही; भोक्ता= भोक्ता है; इति आहुः = यों कहते हैं ।।4।।

यस्त्वविज्ञानवान् भवत्ययुक्तेन मनसा सदा ।

तस्येन्द्रियाण्यवश्यानि दुष्टाश्वा इव सारथेः ।।5।।

हिन्दी अर्थ— यः सदा= जो सदा; अविज्ञानवान्= विवेकहीन बुद्धिवाला; तु= और; अयुक्तेन= अवशीभूत (चंचल); मनसा= मन से (युक्त); भवति= रहता है; तस्य =उसकी; इन्द्रियाणि= इन्द्रियां; सारथेः= असावधान सारथि के; दुष्टाश्वाः इव= दुष्ट घोड़ों की भांति; अवश्यानि= वश में न रहनेवाली; (भवन्ति)= हो जाती हैं ।।5।।

यस्तु विज्ञानवान् भवति युक्तेन मनसा सदा ।

तस्येन्द्रियाणि वश्यानि सदश्वा इव सारथेः ।।6।।

हिन्दी अर्थ— तु यः सदा= परंतु जो सदा; विज्ञानवान्=विवेकयुक्त बुद्धिवाला (और); युक्तेन= वश में किये हुए; मनसा= मन से संपन्न; भवति= रहता है; तस्य =उसकी; इन्द्रियाणि=इन्द्रियां; सारथेः =सावधान सारथि के; सदश्वाः इव= अच्छे घोड़ों की भांति; वश्यानि=वश में; (भवन्ति)= रहती हैं ।।6।।

यस्त्वविज्ञानवान् भवत्यमनस्कः सदाशुचिः ।

न स तत्पदमाप्नोति संसारं चाधिगच्छति ।।7।।

हिन्दी अर्थ— यः तु सदा= जो कोई सदा; अविज्ञानवान्= विवेकहीन बुद्धिवाला; अमनस्कः= असंयतचित्त (और); अशुचिः= अपवित्र; भवति= रहता है; सः तत्पदम्= वह उस परमपद को; न आप्नोति= नहीं पा सकता; च= अपि तु; संसारम् अधिगच्छति= बार-बार जन्म-मृत्युरूप संसार-चक्र में ही भटकता रहता है ।।7।।

यस्तु विज्ञानवान् भवति समनस्कः सदा शुचिः ।

स तु तत्पदमाप्नोति यस्माद् भूयो न जायते ।।8।।

हिन्दी अर्थ— तु यः सदा= परंतु जो सदा; विज्ञानवान्= विवेकशील बुद्धि से युक्त; समनस्कः =संयतचित्त (और); शुचिः = पवित्र; भवति= रहता है; सः तु= वह तो; तत्पदम्= उस परमपद को; आप्नोति= प्राप्त कर लेता है; यस्मात् भूयः = जहां से (लौटकर) पुनः न जायते— जन्म नहीं लेता ।।8।।

विज्ञानसारथिर्यस्तु मनःप्रग्रहवान् नरः ।

सोऽध्वनः पारमाप्नोति तद्विष्णोः परमं पदम् ।।9।।

हिन्दी अर्थ— यः नरः = जो (कोई) मनुष्य; विज्ञानसारथिः तु= विवेकशील बुद्धिरूप सारथि से सम्पन्न (और); मनःप्रग्रहवान्= मन रूप लगाम को वश में रखनेवाला है; सः=वह; अध्वनः= संसार मार्ग के; पारम्= पार पहुंचकर; विष्णोः= सर्वव्यापी परब्रह्म पुरुषोत्तम भगवान् के; तत् परमम् पदम्= उस सुप्रसिद्ध परम पद को; आप्नोति= प्राप्त हो जाता है ।।9।।

इन्द्रियेभ्यः परा ह्यर्था अर्थेभ्यश्च परं मनः ।

मनसस्तु परा बुद्धिर्बुद्धेरात्मा महान् परः ।।10।।

हिन्दी अर्थ— हि इन्द्रियेभ्यः =क्योंकि इन्द्रियों से; अर्थाः =शब्दादि विषय; पराः= बलवान् हैं; च= और; अर्थेभ्यः =शब्दादि विषयों से; मनः=मन; परम्= पर (प्रबल) है; तु मनसः= और मन से भी; बुद्धिः =बुद्धि; परा= पर (बलवती) है; बुद्धेः= (तथा) बुद्धि से; महान् आत्मा= महान् आत्मा (उन सबका स्वामी होने के कारण); परः= अत्यन्त श्रेष्ठ और बलवान् है ।।10।।

महतः परमव्यक्तमव्यक्तात् पुरुषः परः ।

पुरुषान्न परं किञ्चित्सा काष्ठा सा परा गतिः ।।11।।

हिन्दी अर्थ— महतः = उस जीवात्मा से; परम्= बलवती है; अव्यक्तम्= भगवान् की अव्यक्त मायाशक्ति; अव्यक्तात्= अव्यक्त माया से भी; परः= श्रेष्ठ है; पुरुषः = परम पुरुष (स्वयं परमेश्वर); पुरुषात्= परम पुरुष भगवान् से; परम्= श्रेष्ठ और बलवान्; किञ्चित्= कुछ भी; न= नहीं है; सा काष्ठा= वही सबकी परम अवधि (और); सा परा गतिः= वही परम गति है ।।11।।

एष सर्वेषु भूतेषु गूढोत्मा न प्रकाशते ।

दृश्यते त्वग्रयया बुद्ध्या सूक्ष्मया सूक्ष्मदर्शिभिः ।।12।।

हिन्दी अर्थ— एष; आत्मा= यह सबका आत्मरूप परम पुरुष; सर्वेषु भूतेषु= समस्त प्राणियों में रहता हुआ भी; गूढः = माया के परदे में छिपा रहने के कारण; न प्रकाशते= सबके प्रत्यक्ष नहीं होता; तु सूक्ष्मदर्शिभिः = केवल सूक्ष्मतत्त्वों को समझने वाले पुरुषों द्वारा ही; सूक्ष्मया अग्रयया बुद्ध्या= अति सूक्ष्म तीक्ष्ण बुद्धि से; दृश्यते= देखा जाता है ।।12।।

यच्छेद्वाङ्मसी प्राज्ञस्तद्यच्छेज्ज्ञान आत्मनि ।

ज्ञानमात्मनि महति नियच्छेत्तद्यच्छेच्छान्त आत्मनि ।।13।।

हिन्दी अर्थ— प्राज्ञः= बुद्धिमान् साधक को चाहिये कि; वाक्= (पहले) वाक् आदि (समस्त इंद्रियों) को; मनसी= मन में; यच्छेत् = निरुद्ध करे; तत् = उस मन को; ज्ञाने आत्मनि= ज्ञानस्वरूप बुद्धि में; यच्छेत्=

विलीन करे; ज्ञानम्= ज्ञान स्वरूप बुद्धि को; महति आत्मनि= महान् आत्मा में; नियच्छेत्= विलीन करे; (और); तत्= उसको; शान्ते आत्मनि= शान्त स्वरूप परम पुरुष परमात्मा में; यच्छेत्= विलीन करे ॥13॥

उत्तिष्ठत जाग्रत प्राप्य वरान्निबोधत ।

क्षुरस्य धारा निशिता दुरत्यया दुर्गं पथस्तत्कवयो वदन्ति ॥14॥

हिन्दी अर्थ- उत्तिष्ठत= (हे मनुष्यों!) उठो; जाग्रत= जागो (सावधान हो जाओ और); वरान् प्राप्य = श्रेष्ठ महापुरुषों को पाकर-उनके पास जाकर (उनके द्वारा); निबोधत= उस परब्रह्म परमेश्वर को जान लो (क्योंकि); कवयः = त्रिकालज्ञ ज्ञानीजन; तत् पथः= उस तत्त्वज्ञान के मार्ग को; क्षुरस्य =छूरे की; निशिता दुरत्यया= तीक्ष्ण की हुई दुस्तर; धारा (इव)= धार के सदृश; दुर्गम्= दुर्गम (अत्यन्त कठिन); वदन्ति =बतलाते हैं ॥14॥

अशब्दमस्पर्शमरूपमव्ययं

तथारसं नित्यमगन्धवच्च यत् ।

अनाद्यनन्तं महतः परं ध्रुवं

निचाय्य तन्मृत्युमुखात् प्रमुच्यते ॥15॥

हिन्दी अर्थ- यत्= जो; अशब्दम्= शब्दरहित; अस्पर्शम्= स्पर्शरहित; अरूपम्= रूप-रहित; अरसम्= रसरहित; च= और; अगन्धवत्= बिना गंधवाला है; तथा= तथा (जो); अव्ययम्= अविनाशी; नित्यम्= नित्य; अनादि= अनादि; अनन्तम्= अनन्त (असीम); महतः परम्= महान् आत्मा से श्रेष्ठ (एवं); ध्रुवम्= सर्वथा सत्य तत्त्व है; तत्= उस परमात्मा को; निचाय्य = जानकर (मनुष्य); मृत्युमुखात्= मृत्यु के मुख से; प्रमुच्यते= सदा के लिये छूट जाता है ॥15॥

नाचिकेतमुपाख्यानं मृत्युप्रोक्तं सनातनम् ।

उक्त्वा श्रुत्वा च मेधावी ब्रह्मलोके महीयते ॥16॥

हिन्दी अर्थ- (अब इस अध्याय का उपसंहार करते हुए, इस नाचिकेता-यमराज के संवाद रूप आख्यान के श्रवण आदि का माहात्म्य बताया जा रहा है-) मेधावी= बुद्धिमान् मनुष्य; मृत्युप्रोक्तम्= यमराज के द्वारा कहे हुए; नाचिकेतम्= नाचिकेता के; सनातनम्= (इस) सनातन; उपाख्यानम्= उपाख्यान का; उक्त्वा= वर्णन करके; च= और; श्रुत्वा=श्रवण करके; ब्रह्मलोके= ब्रह्मलोक में; महीयते= महिमामन्वित होता है (प्रतिष्ठित होता है) ॥16॥

य इमं परमं गुह्यं श्रावयेद् ब्रह्मसंसदि ।

प्रयतः श्राद्धकाले वा तदानन्त्याय कल्पते ।

तदानन्त्याय कल्पत इति ॥17॥

हिन्दी अर्थ- यः =जो मनुष्य; प्रयतः =सर्वथा शुद्ध होकर; इमम्= इस; परमम् गुह्यम्= परम गुह्य-रहस्यमय प्रसंग को; ब्रह्मसंसदि= ब्राह्मणों की सभा में; श्रावयेत्=सुनाता है; वा=अथवा; श्राद्धकाले= श्राद्धकाल में; (श्रावयेत्)=(भोजन करने वालों को) सुनाता है; तत्= (उसका) वह श्रवण कराना रूप कर्म; आनन्त्याय कल्पते= अनन्त होने में (अविनाशी फल देने में) समर्थ होता है; तत् आनन्त्याय कल्पते इति= वह अनन्त होने में समर्थ होता है।।17।।

-----प्रथम अध्याय समाप्त-----

(द्वितीय अध्याय / प्रथम वल्ली)

पराञ्च खानि व्यतृणत् स्वयंभू-

स्तस्मात्पराङ्पश्यति नान्तरात्मन्।

कश्चिद्धीरः प्रत्यगात्मानमैक्ष-

दावृत्तचक्षुरमृतत्वमिच्छन्।।1।।

हिन्दी अर्थ- (परमात्म-साक्षात्कार के सम्बन्ध में निरूपण किया जा रहा है-) स्वयंभू=स्वयं प्रकट होने वाले परमेश्वर ने; खानि= समस्त इन्द्रियों के द्वार; पराञ्च= बाहर की ओर जाने वाली ही; व्यतृणत्= बनाये हैं; तस्मात्= इसलिये (मनुष्य इन्द्रियों के द्वारा प्रायः); पराङ्= बाहर की वस्तुओं को ही; पश्यति= देखता है; अन्तरात्मन्= अन्तरात्मा को; न= नहीं; कश्चित् धीरः= किसी (भाग्यशाली) बुद्धिमान् मनुष्य ने ही; अमृतत्वम्= अमर पद को; इच्छन्= पाने की इच्छा करके; आवृत्तचक्षुः= चक्षु आदि इन्द्रियों को बाह्य विषयों की ओर से लौटाकर; प्रत्यगात्मानम्= अन्तरात्मा को; ऐक्षत्= देखा है।।1।।

पराचः कामाननुयन्ति बाला-

स्ते मृत्योर्यन्ति विततस्य पाशम्।

अथ धीरा अमृतत्वं विदित्वा

ध्रुवमध्रुवेष्विह न प्रार्थयन्ते।।2।।

हिन्दी अर्थ- (ये) बालाः= जो मूर्ख; पराचः कामान्= बाह्य भोगों का; अनुयन्ति= अनुसरण करते हैं (उन्हीं में रचे-पचे रहते हैं); ते=वे; विततस्य =सर्वत्र फैले हुए; मृत्योः= मृत्यु के; पाशम्= बन्धन में; यन्ति= पड़ते हैं; अथ= किंतु; धीराः= बुद्धिमान् मनुष्य; ध्रुवम्= नित्य; अमृतत्वम्= अमर पद को; विदित्वा= विवेक द्वारा जानकर; इह= इस जगत् में; अध्रुवेषु= अनित्य भोगों में से किसी को (भी); न प्रार्थयन्ते= नहीं चाहते।।2।।

येन रूपं रसं गन्धं शब्दान्स्पर्शाँश्च मैथुनान्।

एतेनैव विजानाति किमत्र परिशिष्यते ।। एतद्वै तत् ।। 3 ।।

हिन्दी अर्थ- येन= जिसके अनुग्रह से (मनुष्य); शब्दान्= शब्दों को; स्पर्शान्= स्पर्शों को; रूपम्= रूप-समुदाय को; रसम्= रस-समुदाय को; गन्धम्= गन्ध-समुदाय को; च= और; मैथुनान्= स्त्री-प्रसंग आदि के सुखों को; विजानाति= अनुभव करता है; एतेन एव= इसी के अनुग्रह से (यह भी जानता है कि); अत्र किम्= यहां क्या; परिशिष्यते= शेष रह जाता है; एतत् वै= यह ही है; तत्= वह परमात्मा (जिसके विषय में तुमने पूछा था) ।। 3 ।।

स्वप्नान्तं जागरितान्तं चोभौ येनानुपश्यति ।

महान्तं विभुमात्मानं मत्वा धीरो न शोचति ।। 4 ।।

हिन्दी अर्थ- स्वप्नान्तम् च= स्वप्न के दृश्यों को और; जागरितान्तम्=जाग्रत्-अवस्था के दृश्यों को; उभौ= इन दोनों अवस्थाओं के दृश्यों को (मनुष्य); येन= जिससे; अनुपश्यति= बार-बार देखता है; (तम्)= उस; महान्तम्= सर्वश्रेष्ठ; विभुम्= सर्वव्यापी; आत्मानम्= सबके आत्मा को; मत्वा= जानकर; धीरः= बुद्धिमान् मनुष्य; न शोचति= शोक नहीं करता ।। 4 ।।

य इमं मध्वदं वेद आत्मानं जीवमन्तिकात् ।

ईशानं भूतभव्यस्य न ततो विजुगुप्सते ।। एतद्वै तत् ।। 5 ।।

हिन्दी अर्थ- यः =जो मनुष्य; मध्वदम्= कर्मफलदाता; जीवम्= सबको जीवन प्रदान करने वाले; (तथा) भूतभव्यस्य = भूत, (वर्तमान) और भविष्य का; ईशानम्= शासन करने वाले; इमम्= इस; आत्मानम्= परमात्मा को; अन्तिकात् वेद= (अपने) समीप जानता है; ततः (सः)= उसके बाद वह; न विजुगुप्सते= (कभी) किसी की निन्दा नहीं करता; एतत् वै= यह ही (है); तत्= वह (परमात्मा, जिसके विषय में तुमने पूछा था) ।। 5 ।।

यः पूर्वं तपसो जातमद्भ्यः पूर्वमजायत ।

गुहां प्रविश्य तिष्ठन्तं यो भूतेभिर्व्यपश्यत् ।। एतद्वै तत् ।। 6 ।।

हिन्दी अर्थ- यः= जो; अद्भ्यः =जल से; पूर्वम्= पहले; अजायत= हिरण्यगर्भ रूप में प्रकट हुआ था; (तम्)=उस; पूर्वम्= सबसे पहले; तपसः जातम्=तप से उत्पन्न; गुहाम् प्रविश्य =हृदय-गुफा में प्रवेश करके; भूतेभिः (सह)= जीवात्माओं के साथ; तिष्ठन्तम्= स्थित रहने वाले परमेश्वर को; यः = जो पुरुष; व्यपश्यत्= देखता है (वही ठीक देखता है); एतत् वै= यह ही है; तत्= वह (परमात्मा, जिसके विषय में तुमने पूछा था) ।। 6 ।।

या प्राणेन सम्भवत्यदितिर्देवतामयी ।

गुहां प्रविश्य तिष्ठन्तीं या भूतेभिर्व्यजायत ।। एतद्वै तत् ।। 7 ।।

हिन्दी अर्थ— या=जो; देवतामयी=देवतामयी; अदिति:= अदिति; प्राणेन= प्राणों के सहित; सम्भवति=उत्पन्न होती है; या= जो; भूतेभिः= प्राणियों के सहित; व्यजायत= उत्पन्न हुई है; (तथा जो) गुहाम्= हृदयरूपी गुफा में; प्रविश्य =प्रवेश करके; तिष्ठन्तीम्= वहीं रहने वाली है उसे; (जो पुरुष देखता है वही यथार्थ देखता है,) एतत् वै= यही है; तत्= वह (परमात्मा, जिसके विषय में तुमने पूछा था)।।7।।

विशेषार्थ— जो सर्वदेवतामयी भगवती अदितिदेवी पहले-पहल उस पर-ब्रह्म के संकल्प से सब जगत् की जीवनी शक्ति के सहित उत्पन्न होती है तथा जो सम्पूर्ण प्राणियों को बीज रूप से अपने साथ लेकर प्रकट हुई थी। हृदयरूपी गुहा में प्रविष्ट होकर वहीं रहने वाली वह भगवती-भगवान् की अचिन्त्य-महाशक्ति भगवान् से सर्वथा अभिन्न है, भगवान् और उनकी शक्ति में कोई भेद नहीं है, भगवान् ही शक्तिरूप से सबके हृदय में प्रवेश किये हुए हैं। हे नचिकेता! वे ही ये ब्रह्म हैं, जिनके विषय में तुमने पूछा था।

अथवा-जननी रूप में समस्त देवताओं का सृजन करने वाली होने के कारण जो सर्वदेवतामयी हैं, शब्दादि समस्त भोगसमूह का अदन- भक्षण करने वाली होने से भी जिनका नाम अदिति है, जो हिरण्यगर्भ रूप प्राणों के सहित प्रकट होती हैं और समस्त भूत प्राणियों के साथ ही जिनका प्रादुर्भाव होता है तथा जो सम्पूर्ण भूत प्राणियों की हृदय-गुफा में प्रविष्ट होकर वहां स्थित रहती हैं, वह परमेश्वर की महाशक्ति वस्तुतः उनका प्रतीक ही हैं। स्वयं परमेश्वर ही इस रूप में अपने को प्रकट करते हैं। ये ही वह ब्रह्म हैं, जिनके सम्बन्ध में नचिकेता! तुमने पूछा था।)

अरण्योर्निहितो जातवेदा गर्भ इव सुभृतो गर्भिणीभिः।

दिवे दिव ईड्यो जागृवदिर्भविष्मदिर्भनुष्येभिरग्निः।।

एतद्वै तत्।।8।।

हिन्दी अर्थ— (यः)= जो; जातवेदाः= सर्वज्ञ; अग्निः= अग्निदेवता; गर्भिणीभिः=गर्भिणी स्त्रियों द्वारा; सुभृतः= भली प्रकार धारण किये हुए; गर्भः= गर्भ की; इव= भांति; अरण्योः= दो अरणियों में; निहितः= सुरक्षित है-छिपा है (तथा जो); जागृवदिभः =सावधान (और); हविष्मदिभः =हवन करने योग्य सामग्रियों से युक्त; मनुष्येभिः= मनुष्यों द्वारा, दिवे दिवे= प्रतिदिन, ईड्यः= स्तुति करने योग्य (है); एतत् वै= यही है; तत्= वह (परमात्मा, जिसके विषय में तुमने पूछा था)।।8।।

यतश्चोदेति सूर्योऽस्तं यत्र च गच्छति।

तं देवाः सर्वे अर्पितास्तदु नात्येति कश्चन।।एतद्वै तत्।।9।।

हिन्दी अर्थ— यतः = जहां से; सूर्यः= सूर्यदेव; उदेति= उदय होते हैं; च= और; यत्र =जहां; अस्तम् च= अस्तभावको भी, गच्छति= प्राप्त होते हैं; सर्वे= सभी; देवाः= देवता; तम्=उसी में; अर्पिताः=समर्पित हैं; तत् उ= उस परमेश्वर को; कश्चन= कोई (कभी भी); न अत्येति= नहीं लांघ सकता; एतत् वै= यही है; तत्= वह (परमात्मा, जिसके विषय में तुमने पूछा था)।।9।।

यदेवेह तदमुत्र यदमुत्र तदन्विह ।

मृत्योः स मृत्युमाप्नोति य इह नानेव पश्यति ॥10॥

हिन्दी अर्थ— यत् इह= जो परब्रह्म यहां (है); तत् एव अमुत्र= वही वहां (परलोक में भी है); यत् अमुत्र= जो वहां (है); तत् अनु इह= वही यहां (इस लोक में) भी है; सः मृत्योः= वह मनुष्य मृत्यु से; मृत्युम्= मृत्यु को (अर्थात् बारंबार जन्म-मरण को); आप्नोति= प्राप्त होता है; यः =जो; इह= इस जगत् में; नाना इव= (उस परमात्मा को) अनेक की भांति; पश्यति= देखता है ॥10॥

मनसैवेदमाप्तव्यं नेह नानास्ति किंचन ।

मृत्योः स मृत्युं गच्छति य इह नानेव पश्यति ॥11॥

हिन्दी अर्थ— मनसा एव= (शुद्ध) मन से ही; इदम् आप्तव्यम्= यह परमात्मतत्त्व प्राप्त किये जाने योग्य है; इह= इस जगत् में (एक परमात्मा के अतिरिक्त); नाना= नाना (भिन्न-भिन्न भाव); किंचन= कुछ भी; न अस्ति= नहीं है; (इसलिये) यः इह= जो इस जगत् में; नाना इव= नाना की भांति; पश्यति= देखता है; सः= वह मनुष्य; मृत्योः= मृत्यु से; मृत्युम् गच्छति= मृत्यु को प्राप्त होता है अर्थात् बार-बार जन्मता-मरता रहता है ॥11॥

अङ्गुष्ठमात्रः पुरुषो मध्य आत्मनि तिष्ठति ।

ईशानो भूतभव्यस्य न ततो विजुगुप्सते ॥एतद्वै तत् ॥12॥

हिन्दी अर्थ— अङ्गुष्ठमात्रः= अङ्गुष्ठमात्र (परिमाणवाला); पुरुषः =परम पुरुष (परमात्मा); आत्मनि मध्ये= शरीर के मध्यभाग-हृदयाकाश में; तिष्ठति= स्थित है; भूतभव्यस्य = जो कि भूत, (वर्तमान) और भविष्य का; ईशानः= शासन करने वाला (है); ततः= उसे जान लेने के बाद (वह); न विजुगुप्सते= किसी भी निन्दा नहीं करता; एतत् वै= यही है; तत्=वह (परमात्मा, जिसके विषय में तुमने पूछा था) ॥12॥

अङ्गुष्ठमात्रः पुरुषो ज्योतिरिवाधूमकः ।

ईशानो भूतभव्यस्य स एवाद्य स उ श्वः ॥एतद्वै तत् ॥13॥

हिन्दी अर्थ— अङ्गुष्ठमात्रः=अङ्गुष्ठमात्र परिमाणवाला; पुरुषः= परमपुरुष परमात्मा; अधूमकः=धूमरहित; ज्योतिः इव= ज्योति की भांति है; भूतभव्यस्य =भूत, (वर्तमान और) भविष्य पर; ईशानः= शासन करने वाला; सः एव अद्य= वह परमात्मा ही आज है; उ= और; सः (एव) श्वः= वही कल भी है (अर्थात् वह नित्य सनातन है); एतत् वै= वही है; तत्= वह (परमात्मा, जिसके विषय में तुमने पूछा था) ॥13॥

यथोदकं दुर्गे वृष्टं पर्वतेषु विधावति ।

एवं धर्मान् पृथक् पश्यंस्तानेवानुविधावति ॥14॥

हिन्दी अर्थ— यथा= जिस प्रकार; दुर्गे= ऊँचे शिखर पर; वृष्टम्= बरसा हुआ; उदकम्=जल; पर्वतेषु= पहाड़ के नाना स्थलों में; विधावति= चारों ओर चला जाता है; एवम्= उसी प्रकार; धर्मान् = भिन्न-भिन्न धर्मों (स्वभावों) से युक्त देव, असुर, मनुष्य आदि को; पृथक्= परमात्मा से पृथक्, पश्यन्= देखकर (उनका सेवन करने वाला मनुष्य); तान् एव= उन्हीं के; अनुविधावति= पीछे दौड़ता रहता है (उन्हीं के शुभाशुभ लोकों में और नाना उच्च-नीच योनियों में भटकता रहता है)।।14।।

यथोदकं शुद्धे शुद्धमासिक्तं तादृगेव भवति ।

एवं मुनेर्विजानत आत्मा भवति गौतम ।।15।।

हिन्दी अर्थ— यथा=(परंतु) जिस प्रकार; शुद्धे (उदके)= निर्मल जल में; आसिक्तम्= (मेघों द्वारा) सब ओर से बरसाया हुआ; शुद्धम्= निर्मल; उदकम्=जल; तादृक् एव= वैसा ही; भवति= हो जाता है; एवम्= उसी प्रकार; गौतम= हे गौतमवंशी नचिकेता; विजानतः= (एकमात्र परब्रह्म पुरुषोत्तम ही सब कुछ है, इस प्रकार) जानने वाले; मुनेः= मुनिका (संसार से उपरत हुए महापुरुष का); आत्मा=आत्मा; भवति= (ब्रह्म को प्राप्त) हो जाता है।।15।।

(द्वितीय अध्याय/द्वितीय वल्ली)

पुरमेकादशद्वारमजस्यावक्रचेतसः

अनुष्ठाय न शोचति विमुक्तश्च विमुच्यते ।।

एतद्वै तत् ।।1।।

हिन्दी अर्थ— अवक्रचेतसः=सरल, विशुद्ध ज्ञानस्वरूप; अजस्य =अजन्मा परमेश्वर का; एकादशद्वारम्= ग्यारह द्वारोंवाला (मनुष्य-शरीररूप); पुरम्=पुर (नगर); (अस्ति)= है (इसके रहते हुए ही); अनुष्ठाय =(परमेश्वर का ध्यान आदि) साधन करके; न शोचति= (मनुष्य) कभी शोक नहीं करता; च= अपि तु; विमुक्तः= जीवन्मुक्त होकर; विमुच्यते= (मरने के बाद) विदेहमुक्त हो जाता है, एतत् वै= वही है; तत्= वह (परमात्मा, जिसके विषय में तुमने पूछा था)।।1।।

विशेषार्थ— वह मनुष्य-शरीररूपी पुर दो आंख, दो कान, दो नासिका के छिद्र, एक मुख, ब्रह्मरन्ध्र, नाभि, गुदा और शिश्न-इन ग्यारह द्वारों वाला है। यह सर्वव्यापी, अविनाशी, अजन्मा, नित्य, निर्विकार, एकरस, विशुद्ध ज्ञानस्वरूप परमेश्वर की नगरी है। वे सर्वत्र समभाव से सदा से परिपूर्ण रहते हुए भी अपनी राजधानी रूप इस मनुष्य-शरीर के हृदय-प्रासाद में राजा की भांति विशेष रूप से विराजित रहते हैं। इस रहस्य को समझकर मनुष्य-शरीर के रहते हुए ही-जीते-जी जो मनुष्य भजन-स्मरणादि साधन करता है, नगर के महान् स्वामी परमेश्वर का निरन्तर चिन्तन और ध्यान करता है, वह कभी शोक नहीं करता, वह शोक के कारण रूप संसार-बन्धन से छूटकर जीवन्मुक्त हो जाता है और शरीर छूटने के पश्चात् विदेहमुक्त हो जाता है।

हंसः शुचिषद् वसुरन्तरिक्षस-

द्धोता वेदिषदतिथिर्दुरोणसत् ।

नृषद् वरसदृतसद् व्योमसदब्जा

गोजा ऋतजा अद्रिजा ऋतं बृहत् ।।2।।

हिन्दी अर्थ- (अब परमेश्वर की सर्वरूपता का निरूपण किया जा रहा है-) शुचिषत्= जो विशुद्ध परमधाम में रहनेवाला; हंसः=स्वयं प्रकाश (पुरुषोत्तम) है (वही); अन्तरिक्षसत्= अन्तरिक्ष में निवास करने वाला; वसुः= वसु है; दुरोणसत्= घरों में उपस्थित होनेवाला; अतिथिः= अतिथि है (और); वेदिषत् होता= यज्ञ की वेदी पर स्थापित अग्निस्वरूप तथा उसमें आहुति डालने वाला 'होता' है (तथा); नृषत्= समस्त मनुष्यों में रहने वाला; वरसत्= मनुष्यों से श्रेष्ठ देवताओं में रहने वाला; ऋतसत्= सत्य में रहने वाला (और); व्योमसत्= आकाश में रहने वाला (है तथा); अब्जाः =जलों में नाना रूपों से प्रकट होने वाला; गोजाः= पृथिवी में नाना रूपों से प्रकट होने वाला; ऋतजाः= सत्कर्मों में प्रकट होने वाला (और); अद्रिजाः= पर्वतों में नाना रूप से प्रकट होने वाला (है); बृहत् ऋतम्= (वही) सबसे बड़ा परम सत्य है ।।2।।

ऊर्ध्वं प्राणमुन्नयत्यपानं प्रत्यगस्यति ।

मध्ये वामनमासीनं विश्वे देवा उपासते ।।3।।

हिन्दी अर्थ- प्राणम्= जो प्राण को; ऊर्ध्वम्= ऊपर की ओर; उन्नयति= उठाता है (और); अपानम्= अपान को; प्रत्यक् अस्यति= नीचे ढकेलता है; मध्ये= शरीर के मध्य (हृदय) में; आसीनम्= बैठे हुए (उस); वामनम्= सर्वश्रेष्ठ भजनेयोग्य परमात्मा की; विश्वे देवाः= सभी देवता; उपासते= उपासना करते हैं ।।3।।

अस्य विस्त्रंसमानस्य शरीरस्थस्य देहिनः ।

देहाद्विमुच्यमानस्य किमत्र परिशिष्यते ।।एतद्वै तत् ।।4।।

हिन्दी अर्थ- अस्य =इस; शरीरस्थस्य = शरीर में स्थित; विस्त्रंसमानस्य = एक शरीर से दूसरे शरीर में जानेवाले; देहिनः= जीवात्मा के; देहात्= शरीर से; विमुच्यमानस्य = निकल जाने पर; अत्र= यहां (इस शरीर में) किम् परिशिष्यते= क्या शेष रहता है; एतत् वै= यही है; तत्= वह (परमात्मा, जिसके विषय में तुमने पूछा था) ।।4।।

न प्राणेन नापानेन मर्त्यो जीवति कश्चन ।

इतरेण तु जीवन्ति यस्मिन्नेतावुपाश्रितौ ।।5।।

हन्त त इदं प्रवक्ष्यामि गुह्यं ब्रह्म सनातनम् ।

यथा च मरणं प्राप्य आत्मा भवति गौतम ।।6।।

हिन्दी अर्थ— कश्चन= कोई भी; मर्त्यः= मरणधर्मा प्राणी; न प्राणेन= न तो प्राण से (जीता है और); न अपानेन= न अपान से (ही); जीवति= जीता है; तु= किंतु; यस्मिन्= जिसमें; एतौ उपाश्रितौ= (प्राण और अपान) ये दोनों आश्रय पाये हुए हैं; इतरेण= (ऐसे किसी) दूसरे से ही; जीवन्ति= (सब) जीते हैं; गौतम= हे गौतमवंशीय; गुह्यम् सनातनम्= (वह) रहस्यमय सनातन; ब्रह्म=ब्रह्म (जैसा है); च= और; आत्मा= जीवात्मा; मरणम् प्राप्य = मरकर; यथा= जिस प्रकार से; भवति= रहता है; इदम् ते= यह बात तुम्हें; हन्त प्रवक्ष्यामि= मैं अब फिर से बतलाऊंगा ॥5-6॥

योनिमन्ये प्रपद्यन्ते शरीरत्वाय देहिनः ।

स्थाणुमन्येऽनुसंयन्ति यथाकर्म यथाश्रुतम् ॥7॥

हिन्दी अर्थ— यथाकर्म= जिसका जैसा कर्म होता है; यथाश्रुतम्= और शास्त्रादि के श्रवण द्वारा जिसको जैसा भाव प्राप्त हुआ है (उन्हीं के अनुसार); शरीरत्वाय = शरीर धारण करने के लिये; अन्ये= कितने ही; देहिनः= जीवात्मा तो; योनिम्= (नाना प्रकार की जंगम) योनियों को; प्रपद्यन्ते= प्राप्त हो जाते हैं (और); अन्ये= दूसरे (कितने ही); स्थाणुम्= स्थाणु (स्थावर) भाव का; अनुसंयन्ति= अनुसरण करते हैं ॥7॥

य एष सुप्तेषु जागर्ति कामं कामं पुरुषो निर्ममाणः ।

तदेव शुक्रं तद् ब्रह्म तदेवामृतमुच्यते ॥

तस्मिँल्लोकाः श्रिताः सर्वे तदु नात्येति कश्चन ।

एतद् वै तत् ॥8॥

हिन्दी अर्थ— यः एषः =जो यह; कामम् कामम्= (जीवों के कर्मानुसार) नाना प्रकार के भोगों का; निर्ममाणः =निर्माण करने वाला; पुरुषः = परमपुरुष परमेश्वर; सुप्तेषु= (प्रलय काल में सबके) सो जाने पर भी; जागर्ति= जागता रहता है; तत् एव= वही; शुक्रम्= परम विशुद्ध तत्त्व है; तत् ब्रह्म= वही ब्रह्म है; तत् एव= वही; अमृतम्= अमृत; उच्यते= कहलाता है; (तथा) तस्मिन् = उसी में; सर्वे= सम्पूर्ण; लोकाः श्रिताः= लोक आश्रय पाये हुए हैं; तत् कश्चन उ= उसे कोई भी; न अत्येति= अतिक्रमण नहीं कर सकता; एतद् वै= यही है; तत् = वह (परमात्मा, जिसके विषय में तुमने पूछा था) ॥8॥

अग्निर्यथेको भुवनं प्रविष्टो

रूपं रूपं प्रतिरूपो बभूव ।

एकस्तथा सर्वभूतान्तरात्मा

रूपं रूपं प्रतिरूपो बहिश्च ॥9॥

हिन्दी अर्थ— यथा= जिस प्रकार; भुवनम्= समस्त ब्रह्माण्ड में; प्रविष्टः= प्रविष्ट; एकः अग्निः= एक ही अग्नि; रूपम् रूपम्= नाना रूपों में; प्रतिरूपः =उनके समान रूपवाला—सा; बभूव= हो रहा है; तथा= वैसे ही;

सर्वभूतान्तरात्मा= समस्त प्राणियों का अन्तरात्मा परब्रह्म; एकः (सन् अपि) = एक होते हुए भी; रूपम् रूपम्= नाना रूपों में; प्रतिरूपः= उन्हीं के-जैसे रूपवाला (हो रहा है); च बहिः= और उनके बाहर भी है।।9।।

वायुर्यथैको भुवनं प्रविष्टो

रूपं रूपं प्रतिरूपो बभूव ।

एकस्तथा सर्वभूतान्तरात्मा

रूपं रूपं प्रतिरूपो बहिश्च ।।10।।

हिन्दी अर्थ— यथा= जिस प्रकार; भुवनम्= समस्त ब्रह्माण्ड में; प्रविष्टः= प्रविष्ट; एकः वायुः= एक (ही) वायु; रूपम् रूपम्= नाना रूपों में; प्रतिरूपः= उनके समान रूपवाला-सा; बभूव= हो रहा है; तथा= वैसे (ही); सर्वभूतान्तरात्मा= सब प्राणियों का अन्तरात्मा परब्रह्म; एकः (सन् अपि) = एक होते हुए भी; रूपम् रूपम् = नाना रूपों में; प्रतिरूपः= उन्हीं के जैसे रूपवाला (हो रहा है); च बहिः = और उनके बाहर भी है।।10।।

सूर्यो यथा सर्वलोकस्य चक्षु-

र्न लिप्यते चाक्षुषैर्बाह्यदोषैः ।

एकस्तथा सर्वभूतान्तरात्मा

न लिप्यते लोकदुःखेन बाह्यः ।।11।।

हिन्दी अर्थ— यथा= जिस प्रकार; सर्वलोकस्य = समस्त ब्रह्माण्ड का; चक्षुः सूर्यः= प्रकाशक सूर्य देवता; चाक्षुषैः = (लोगों की) आंखों से होने वाले; बाह्यदोषैः= बाहर के दोषों से; न लिप्यते= लिप्त नहीं होता; तथा= उसी प्रकार; सर्व-भूतान्तरात्मा= सब प्राणियों का अन्तरात्मा; एकः= एक परब्रह्म परमात्मा; लोकदुःखेन= लोगों के दुःखों से; न लिप्यते= लिप्त नहीं होता; (यतः)= क्योंकि; बाह्यः= सबमें रहता हुआ भी वह सबसे अलग है।।11।।

एको वशी सर्वभूतान्तरात्मा

एकं रूपं बहुधा यः करोति ।

तमात्मस्थं येऽनुपश्यन्ति धीरा-

स्तेषां सुखं शाश्वतं नेतरेषाम् ।।12।।

हिन्दी अर्थ— यः =जो; सर्वभूतान्तरात्मा= सब प्राणियों का अन्तर्यामी; एकः वशी= अद्वितीय एवं सबको वश में रखने वाला (परमात्मा); एकम् रूपम्= (अपने) एक ही रूप को; बहुधा= बहुत प्रकार से; करोति= बना लेता है, तम् आत्मस्थम्= उस अपने अंदर रहने वाले (परमात्मा) को; ये धीराः= जो ज्ञानी पुरुष;

अनुपश्यन्ति= निरन्तर देखते रहते हैं; तेषाम्= उन्हीं को; शाश्वतम् सुखम्= सदा अटल रहने वाला परमानन्द स्वरूप वास्तविक सुख (मिलता है); इतरेषाम् न= दूसरों को नहीं।।12।।

नित्यो नित्यानां चेतनश्चेतनाना-

मेको बहूनां यो विदधाति कामान्।

तमात्मस्थं येऽनुपश्यन्ति धीरा-

स्तेषां शान्तिः शाश्वती नेतरेषाम्।।13।।

हिन्दी अर्थ- यः =जो; नित्यानाम्= नित्यों का (भी); नित्यः =नित्य (है); चेतनानाम्= चेतनों का (भी); चेतनः= चेतन है (और); एकः बहूनाम्= अकेला ही इन अनेक (जीवों) के; कामान्=कर्मफल भोगों का; विदधाति= विधान करता है; तम् आत्मस्थम्= उस अपने अंदर रहने वाले (पुरुषोत्तम) को; ये धीराः= जो ज्ञानी; अनुपश्यन्ति= निरन्तर देखते रहते हैं; तेषाम्= उन्हीं को; शाश्वती शान्तिः= सदा अटल रहने वाली शान्ति (प्राप्त होती है); इतरेषाम् न= दूसरों को नहीं।।13।।

तदेतदिति मन्यन्तेऽनिर्देश्यं परमं सुखम्।

कथं नु तद्विजानीयां किमु भाति विभाति वा।।14।।

हिन्दी अर्थ- (जिज्ञासु नचिकेता ब्रह्म-प्राप्ति के आनन्द व शान्ति को सुनकर विचारने लगा-) तत्=वह; अनिर्देश्यम्= अनिर्वचनीय; परमम्= परम; सुखम्= सुख; एतत्= यह (परमात्मा ही है); इति=यों; मन्यन्ते= (ज्ञानीजन) मानते हैं; तत्= उसको; कथम् नु= किस प्रकार से; विजानीयाम्= मैं भलीभांति समझूँ; किमु= क्या (वह); भाति= प्रकाशित होता है; वा=या; विभाति= अनुभव में आता है।।14।।

न तत्र सूर्यो भाति न चन्द्रतारकं

नेमा विद्युतो भान्ति कुतोऽयमग्निः।

तमेव भान्तमनुभाति सर्वं

तस्य भासा सर्वमिदं विभाति।।15।।

हिन्दी अर्थ- (नचिकेता के भाव को समझकर यमराज ने कहा-) इमाः विद्युतः भान्ति= (और) न ये बिजलियां ही (वहां) प्रकाशित होती हैं; अयम् अग्निः कुतः= फिर यह (लौकिक) अग्नि कैसे (प्रकाशित हो सकता है क्योंकि); तम्= उसके; भान्तम् एव = प्रकाशित होने पर ही (उसी के प्रकाश से); सर्वम् = (ऊपर बतलाये हुए सूर्यादि) सब; अनुभाति= प्रकाशित होते हैं; तस्य भासा= उसी के प्रकाश से; इदम् सर्वम्= यह सम्पूर्ण जगत्; विभाति= प्रकाशित होता है।।15।।

(द्वितीय अध्याय / तृतीय वल्ली)

ऊर्ध्वमूलोऽवाक्शाख एषोऽश्वत्थः सनातनः ।

तदेव शुक्रं तद् ब्रह्म तदेवामृतमुच्यते ।

तस्मिँल्लोकाः श्रिताः सर्वे तदु नात्येति कश्चन ॥

एतद्वै तत् ॥१॥

हिन्दी अर्थ— ऊर्ध्वमूलः=ऊपर की ओर मूलवाला; अवाक्शाखः= नीचे की ओर शाखावाला; एषः= यह (प्रत्यक्ष जगत्); सनातनः अश्वत्थः= सनातन पीपल का वृक्ष है; (तन्मूलम्)= इसका मूलभूत; तत् एव शुक्रम्= वह (परमेश्वर) ही विशुद्ध तत्त्व है; तद् ब्रह्म=वही ब्रह्म है (और); तत् एव= वही; अमृतम् उच्यते= अमृत कहलाता है; सर्वे लोकाः= सब लोक; तस्मिन् =उसी के; श्रिताः= आश्रित हैं; कश्चन उ= कोई भी; तत्= उसको; न अत्येति=लांघ नहीं सकता; एतत् वै= यही है; तत्= वह (परमात्मा जिसके विषय में तुमने पूछा था) ॥१॥

यदिदं किं च जगत्सर्वं प्राण एजति निःसृतम् ।

महद्भयं वज्रमुद्यतं य एतद्विदुरमृतास्ते भवन्ति ॥२॥

हिन्दी अर्थ— निःसृतम्= (परब्रह्म परमेश्वर से) निकला हुआ; इदम् यत् किं च= यह जो कुछ भी; सर्वम् जगत्= सम्पूर्ण जगत् है; प्राणे एजति= उस प्राणस्वरूप परमेश्वर में ही चेष्टा करता है; एतत्= इस; उद्यतम् वज्रम्= उठे हुए वज्र के समान; महद् भयम्= महान् भयस्वरूप (सर्वशक्तिमान्) परमेश्वर को; ये विदुः= जो जानते हैं; ते=वे; अमृताः भवन्ति= अमर हो जाते हैं अर्थात् जन्म-मरण से छूट जाते हैं ॥२॥

भयादस्याग्निस्तपति भयात् तपति सूर्यः ।

भयादिन्द्रश्च वायुश्च मृत्युर्धावति पञ्चमः ॥३॥

हिन्दी अर्थ— अस्य भयात्= इसी के भय से; अग्निः तपति= अग्नि तपता है; भयात्= (इसी के) भय से; सूर्यः तपति= सूर्य तपता है; च=तथा; (अस्य) भयात्= इसी के भय से; इन्द्रः वायुः= इन्द्र, वायु; च=और; पञ्चमः मृत्युः= पांचवें मृत्यु देवता; धावति= (अपने-अपने काम में) प्रवृत्त हो रहे हैं ॥३॥

इह चेदशकद् बोद्धुं प्राक् शरीरस्य विस्त्रसः ।

ततः सर्गेषु लोकेषु शरीरत्वाय कल्पते ॥४॥

हिन्दी अर्थ— चेत्= यदि; शरीरस्य =शरीर का; विस्त्रसः= पतन होने से; प्राक्= पहले-पहले; इह= इस मनुष्य शरीर में ही (साधक); बोद्धुम्= परमात्मा को साक्षात्; अशकत्= कर सका (तब तो ठीक है); ततः=

नहीं तो फिर; सर्गेषु= अनेक कल्पों तक; लोकेषु= नाना लोक और योनियों में; शरीरत्वाय कल्पते= शरीर धारण करने को विवश होता है।।4।।

यथाऽऽदर्शं तथाऽऽत्मनि यथा स्वप्ने तथा पितृलोके।

यथाप्सु परीव ददृशे तथा गन्धर्वलोके छायातपयोरिव ब्रह्मलोके।।5।।

हिन्दी अर्थ- यथा आदर्श= जैसे दर्पण में (सामने आयी हुई वस्तु दिखती है); तथा आत्मनि= वैसे शुद्ध अन्तःकरण में (ब्रह्म के दर्शन होते हैं); यथा स्वप्ने= जैसे स्वप्न में (वस्तु स्पष्ट दिखलायी देती है); तथा पितृलोके= उसी प्रकार पितृलोक में (परमेश्वर दीखता है); यथा अप्सु= जैसे जल में (वस्तु के रूप की झलक पड़ती है); तथा गन्धर्वलोके= उसी प्रकार गन्धर्वलोक में; परि ददृशे इव= परमात्मा की झलक-सी पड़ती है (और); ब्रह्मलोके= ब्रह्मलोक में (तो); छायातपयोः इव= छाया और धूप की भांति (आत्मा और परमात्मा दोनों का स्वरूप पृथक्-पृथक् स्पष्ट दिखलायी देता है)।।5।।

इन्द्रियाणां पृथग्भावमुदयास्तमयौ च यत्।

पृथगुत्पद्यमानानां मत्वा धीरो न शोचति।।6।।

हिन्दी अर्थ- पृथक्= (अपने-अपने कारण से) भिन्न-भिन्न रूपों में; उत्पद्यमानानाम्=उत्पन्न हुई; इन्द्रियाणाम्= इन्द्रियों की; यत्= जो; पृथक् भावम्= पृथक्-पृथक् सत्ता है; च=और; (यत्)= जो उनका; उदयास्तमयौ= उदय और लय हो जाना रूप स्वभाव है; (तत्) = उसे; मत्वा= जानकर; धीरः= (आत्मा का स्वरूप उनसे विलक्षण समझने वाला) धीर पुरुष; न शोचति= शोक नहीं करता।।6।।

इन्द्रियेभ्यः परं मनो मनसः सत्त्वमुत्तमम्।

सत्त्वादधि महानात्मा महतोऽव्यक्तमुत्तमम्।।7।।

हिन्दी अर्थ- इन्द्रियेभ्यः =इन्द्रियों से (तो); मनः = मन; परम्= श्रेष्ठ है; मनसः= मन से; सत्त्वम्= बुद्धि; उत्तमम्=उत्तम है; सत्त्वात्= बुद्धि से; महान् आत्मा= उसका स्वामी जीवात्मा; अधि= ऊँचा है (और); महतः= जीवात्मा से; अव्यक्तम्= अव्यक्त शक्ति; उत्तमम्= उत्तम है।।7।।

अव्यक्तात्तु परः पुरुषो व्यापकोऽलिङ्ग एव च।

यं ज्ञात्वा मुच्यते जन्तुरमृतत्वं च गच्छति।।8।।

हिन्दी अर्थ- तु= परन्तु; अव्यक्तात्=अव्यक्त से (भी वह); व्यापकः=व्यापक; च= और; अलिङ्गः एव= सर्वथा आकार रहित; पुरुषः= परम पुरुष; परः= श्रेष्ठ है; यम्= जिसको; ज्ञात्वा= जानकर; जन्तुः= जीवात्मा; मुच्यते= मुक्त हो जाता है; च= और; अमृतत्वम्= अमृत स्वरूप आनन्दमय ब्रह्म को; गच्छति= प्राप्त हो जाता है।।8।।

न संदृशे तिष्ठति रूपमस्य

न चक्षुषा पश्यति कश्चनैनम् ।

हृदा मनीषा मनसाभि क्लृप्तो

य एतद् विदुरमृतास्ते भवन्ति ॥9॥

हिन्दी अर्थ— अस्य= इस परमेश्वर का; रूपम्= वास्तविक स्वरूप; संदृशे= अपने सामने प्रत्यक्ष विषय के रूप में; न तिष्ठति= नहीं ठहरता; एनम्= इसको; कश्चन=कोई भी; चक्षुषा= चर्म चक्षुओं द्वारा; न पश्यति= नहीं देख पाता; मनसा= मन से; अभिक्लृप्तः= बारम्बार चिन्तन करके ध्यान में लाया हुआ (वह परमात्मा); हृदा= निर्मल और निश्चल हृदय से; मनीषा= (और) विशुद्ध बुद्धि के द्वारा; (दृश्यते)= देखने में आता है; ये एतत् विदुः= जो इसको जानते हैं; ते अमृताः भवन्ति= वे अमृत (आनन्द) स्वरूप हो जाते हैं ॥9॥

यदा पञ्चावतिष्ठन्ते ज्ञानानि मनसा सह ।

बुद्धिश्च न विचेष्टति तामाहुः परमां गतिम् ॥10॥

हिन्दी अर्थ— यदा= जब; मनसा सह= मन के सहित; पञ्च ज्ञानानि= पांचों ज्ञानेन्द्रियां; अवतिष्ठन्ते= भली भाँति स्थिर हो जाती हैं; बुद्धिः च= और बुद्धि भी; न विचेष्टति= किसी प्रकार की चेष्टा नहीं करती; ताम्= उस स्थिति को; परमाम् गतिम् आहुः= (योगी) परमगति कहते हैं ॥10॥

तां योगमिति मन्यन्ते स्थिरामिन्द्रियधारणाम् ।

अप्रमत्तस्तदा भवति योगो हि प्रभवाप्ययौ ॥11॥

हिन्दी अर्थ— ताम्=उस; स्थिराम् इन्द्रियधारणाम्= इन्द्रियों की स्थिर धारणा को ही; योगम् इति= 'योग'; मन्यन्ते= मानते हैं; हि= क्योंकि; तदा= उस समय; अप्रमत्तः= (साधक) प्रमादरहित; भवति= हो जाता है; योगः = योग; प्रभवाप्ययौ= उदय और अस्त होने वाला है ॥11॥

नैव वाचा न मनसा प्राप्तुं शक्यो न चक्षुषा ।

अस्तीति ब्रुवतोऽन्यत्र कथं तदुपलभ्यते ॥12॥

हिन्दी अर्थ— न वाचा=(वह परब्रह्म परमेश्वर) न तो वाणी से; न मनसा=न मन से (और); न चक्षुषा एव= न नेत्रों से ही; प्राप्तुम् शक्यः = प्राप्त किया जा सकता है (फिर); तत् अस्ति= 'वह अवश्य है'; इति ब्रुवतः अन्यत्र = इस प्रकार कहने वाले के अतिरिक्त दूसरे को; कथम् उपलभ्यते= कैसे मिल सकता है ॥12॥

अस्तीत्येवोपलब्धव्यस्तत्त्वभावेन चोभयोः ।

अस्तीत्येवोपलब्धस्य तत्त्वभावः प्रसीदति ॥13॥

हिन्दी अर्थ— अस्ति= (अतः उस परमात्मा को पहले तो) 'वह अवश्य है'; इति एव= इस प्रकार निश्चयपूर्वक; उपलब्धव्यः = ग्रहण करना चाहिये, अर्थात् पहले उसके अस्तित्व का दृढ़ निश्चय करना चाहिये; (तदनु) = तदनन्तर; तत्त्वभावेन= तत्त्वभाव से भी; (उपलब्धव्यः) =उसे प्राप्त करना चाहिये; उभयोः = इन दोनों प्रकारों में से; अस्ति इति एव= 'वह अवश्य है' इस प्रकार निश्चयपूर्वक; उपलब्धस्य = परमात्मा की सत्ता को स्वीकार करने वाले साधक के लिये; तत्त्वभावः= परमात्मा का तात्त्विक स्वरूप (अपने-आप); प्रसीदति= (शुद्ध हृदय में) प्रत्यक्ष हो जाता है ॥13॥

यदा सर्वे प्रमुच्यन्ते कामा येऽस्य हृदि श्रिताः ।

अथ मर्त्योऽमृतो भवत्यत्र ब्रह्म समश्नुते ॥14॥

हिन्दी अर्थ— अस्य =इस (साधक) के; हृदि श्रिताः= हृदय में स्थित; ये कामाः= जो कामनाएं (हैं); सर्वे यदा= (वे) सब-की-सब जब; प्रमुच्यन्ते= समूल नष्ट हो जाती हैं; अथ= तब; मर्त्यः = मरणधर्मा मनुष्य; अमृतः अमर; भवति= हो जाता है (और); अत्र= (वह) यहीं; ब्रह्म समश्नुते= ब्रह्म का भली भांति अनुभव कर लेता है ॥14॥

यदा सर्वे प्रभिद्यन्ते हृदयस्येह ग्रन्थयः ।

अथ मर्त्योऽमृतो भवत्येतावद्ध्यनुशासनम् ॥15॥

हिन्दी अर्थ— यदा=जब (इसको); हृदयस्य =हृदय की; सर्वे= सम्पूर्ण; ग्रन्थयः = ग्रन्थियां; प्रभिद्यन्ते=भली भांति खुल जाती हैं; अथ= तब; मर्त्यः = वह मरणधर्मा मनुष्य; इह=इसी शरीर में; अमृतः =अमर; भवति= हो जाता है; हि एतावत्= बस, इतना ही; अनुशासनम्= सनातन उपदेश है ॥15॥

शतं चैका च हृदयस्य नाड्य—

स्तासां मूर्धानमभिनिःसृतैका ।

तयोर्ध्वमायन्नमृतत्वमेति

विष्वङ्ङन्या उत्क्रमणे भवन्ति ॥16॥

हिन्दी अर्थ— हृदयस्य =हृदय की; शतम् च एका च=(कुल मिलाकर) एक सौ एक; नाड्यः =नाड़ियां हैं; तासाम्= उनमें से; एका=एक; मूर्धानम्=मूर्धा (कपाल) की ओर; अभिनिःसृता= निकली हुई है (इसे ही सुषुम्णा कहते हैं); तथा= उसके द्वारा; ऊर्ध्वम्= ऊपर के लोकों में; आयन्= जाकर (मनुष्य); अमृतत्वम्= अमृत भाव को; एति= प्राप्त हो जाता है; अन्याः= दूसरी एक सौ नाड़ियाँ; उत्क्रमणे= मरणकाल में (जीव को); विष्वङ्= नाना प्रकार की योनियों में ले जाने की हेतु; भवन्ति=होती हैं ॥16॥

अङ्गुष्ठमात्रः पुरुषोऽन्तरात्मा

सदा जनानां हृदये सन्निविष्टः ।

तं स्वाच्छरीरात्प्रवृहेन्मुंजादिवेषीकां धैर्येण

तं विद्याच्छुक्रममृतं विद्याच्छुक्रममृतमिति ॥17॥

हिन्दी अर्थ— अन्तरात्मा=सबका अन्तर्यामी; अङ्गुष्ठमात्रः= अङ्गुष्ठमात्र परिमाणवाला; पुरुषः=परम पुरुष; सदा= सदैव; जनानाम्= मनुष्यों के; हृदये=हृदय में; सन्निविष्टः=भली भांति प्रविष्ट है; तम्=उसको; मुंजात्= मूंज से; इषीकाम् इव=सीक की भांति; स्वात्= अपने से (और); शरीरात्= शरीर से; धैर्येण= धीरतापूर्वक; प्रवृहेत्= पृथक करके देखे; तम्= उसी को; शुक्रम् अमृतम् विद्यात्= विशुद्ध अमृतस्वरूप समझे; तम् शुक्रम् अमृतम् विद्यात्=(और) उसी को विशुद्ध अमृत स्वरूप समझे ॥17॥

मृत्युप्रोक्तां नचिकेतोऽथ लब्ध्वा

विद्यामेतां योगविधिं च कृत्स्नम् ।

ब्रह्मप्राप्तो विरजोऽभूद्विमृत्यु-

रन्योऽप्येवं यो विदध्यात्ममेव ॥18॥

हिन्दी अर्थ— अथ=इस प्रकार उपदेश सुनने के अनन्तर; नचिकेतः = नचिकेता; मृत्युप्रोक्ताम्=यमराज द्वारा बतलायी हुई; एताम्=इस; विद्याम्=विद्या को; च= और; कृत्स्नम्= सम्पूर्ण; योगविधिम्= योग की विधि को; लब्ध्वा= प्राप्त करके; विमृत्युः= मृत्यु से रहित (और); विरजः(सन्)=सब प्रकार के विकारों से शून्य विशुद्ध होकर; ब्रह्मप्राप्तः अभूत्= ब्रह्म को प्राप्त हो गया; अन्यः अपि यः = दूसरा भी जो कोई; (इदम्) अध्यात्मम् एवंवित्= इस अध्यात्म विद्या को इसी प्रकार जानने वाला है; (सः अपि एवम्) एव (भवति)=वह भी ऐसा ही हो जाता है अर्थात् मृत्यु और विकारों से रहित होकर ब्रह्म को प्राप्त हो जाता है ॥18॥

-----द्वितीय अध्याय समाप्त-----

3.3.3 प्रथमाध्याय-सार

(प्रथम वल्ली)

नचिकेता-उपाध्यान से इस उपनिषद् का प्रारम्भ होता है। यह उपाख्यान इस प्रकार है-

वाजश्रवा के पुत्र उद्दालक ने विश्वजित् नामक यज्ञ में दक्षिणा रूप में अपना सारा धन ब्राह्मणों को दे दिया। यहां तक कि बची हुई ऐसी गाएं भी, दे दीं, जो जराग्रस्त (अतिवृद्ध) व मरणासन्न थीं। उद्दालक का पुत्र था-नचिकेता। वह अवस्था में छोटा था, किन्तु धर्मभीरु था। उसके मन में विचार आया कि इन वृद्ध,

मरणासन्न गौओं को दान में देने से क्या पुण्य-लाभ होगा, कहीं दुर्गति में जाना न पड़े। उसने पिता से कहा— पिताजी! मुझे किसको दान में देने वाले हैं? पिता ने उसकी बात अनसुनी कर दी। बालक ने दुबारा—तिबारा अपना कथन दुहराया। पिता ने झल्लाकर कहा— तुम्हें मृत्यु को दान में दूंगा। बालक सोचने लगा—ऐसा मैंने क्या कह दिया या क्या अनुचित आचरण कर दिया कि पिताजी नाराज होकर मुझे मृत्यु के लिए दान देना चाहते हैं? जो भी हो, पिताजी के मुख से जो वाणी निकल गई, उसे सत्य करना ही उचित है। बालक ने पिता को सांत्वना देते हुए कहा—आप अपनी बात पर ध्यान दें, उसे पूरा करें, क्योंकि असत्याचरण से कोई अमर नहीं हो सकता। पिता ने सोचा—विचारा और बेटे की सत्यनिष्ठा को मन ही मन सराहते हुए, अपने कथन के अनुसार ही, उसे यमराज के घर भेज दिया।

नचिकेता यमराज (मृत्यु) के घर पहुंचा। यमराज कहीं गये हुए थे। यमराज के आने की प्रतीक्षा में नचिकेता तीन दिनों तक भूखा—प्यासा रहा। यमराज के लौटने पर पत्नी ने कहा— हमारे घर में एक ब्राह्मण तीन दिनों से भूखा—प्यासा है। आप उसका यथोचित सम्मान—सत्कार करें, क्योंकि किसी के घर में ब्राह्मण अतिथि भूखा—प्यासा रहे तो उसका परिणाम अच्छा नहीं होता। ऐसा सुनकर यमराज नचिकेता के पास गये और उसकी यथोचित पूजा करके निवेदन किया—आप तीन दिनों तक मेरे घर में भूखे—प्यासे रहे। इसलिए (तीन रातों के बदले) मुझसे तीन वर मांग लें।

नचिकेता ने पहला वर मांगा कि मेरे पिता मुझ पर क्रोधित हैं। वे शान्त व संतुष्ट हो जाएं, ताकि यदि मैं घर लौटूं तो वे मुझसे स्नेहपूर्ण व्यवहार करें। यमराज ने वह वर नचिकेता को दे दिया। दूसरे वर के रूप में नचिकेता ने मांगा—मुझे वह अग्निविद्या का उपदेश दें, जिसकी साधना से जरा—मरण से मुक्त स्वर्गलोक की प्राप्ति होती है। यमराज ने दूसरे वर के रूप में अग्निविद्या का उपदेश दिया। यमराज ने उस विद्या से सम्बन्धित सभी उपयोगी बातें समझाई, जैसे अग्नि के लिए कुण्ड का निर्माण किस प्रकार हो, कितनी ईंटें लगाई जाएं, अग्नि—चयन किस प्रकार से किया जाय, आदि—आदि क्रियाओं का सम्यक् ज्ञान कराया। नचिकेता ने जो सुना व सीखा—समझा, उसे यमराज के समक्ष ज्यों का त्यों दुहरा दिया। यमराज ने प्रसन्न होकर कहा—नचिकेता! आज से यह अग्निविद्या तुम्हारे ही नाम से प्रसिद्ध होगी। यमराज ने एक रत्नमाला भी नचिकेता को प्रदान की।

तीसरे वर के रूप में नचिकेता ने, आत्मविद्या का ज्ञान मांगा। आत्मा के अस्तित्व के विषय में अनेक लोगों को संशय है, हे यमराज! मुझे तो वह आत्मविद्या का उपदेश दें, जिससे पुनर्जन्म से मुक्ति प्राप्त हो। यमराज ने इस विषय की कठिनता का निरूपण करते हुए, मांगे गये तीसरे वर की जगह, अन्य कोई वर मांगने के लिए कहा। यमराज ने नचिकेता के समक्ष प्रचुर धन—सम्पत्ति व कामभोग आदि वाले लौकिक व पारलौकिक सुखों के प्रलोभन वाले प्रस्ताव रखे। किन्तु नचिकेता, काम भोगों की नश्वरता को बताकर, अपनी मांग पर ही दृढ़ रहा।

-----प्रथम वल्ली समाप्त-----

(द्वितीय वल्ली)

नचिकेता की दृढ़ता से यमराज ने उसे ब्रह्म विद्या का योग्य अधिकारी माना और उसे ब्रह्म विद्या का उपदेश दिया। उन्होंने श्रेय व प्रेय का अन्तर बताया। सदा के लिए दुःखों से मुक्ति एवं परमानन्द स्वरूप परब्रह्म परमात्मा को प्राप्त करने का उपाय 'श्रेय' है, जबकि ऐहलौकिक व पारलौकिक सुख-भोग की प्राप्ति का उपाय 'प्रेय' है। प्रेय के प्रति रुचि रखने वाले यथार्थ लाभ से वंचित रह जाते हैं, जबकि श्रेय को अपनाने वाले अपना सर्वथा कल्याण कर लेते हैं। अन्य लौकिक व पारलौकिक सुखों के प्रति अनासक्ति और श्रेय (आत्मज्ञान) के प्रति नचिकेता की दृढ़ रुचि देखकर यमराज ने प्रसन्नता व्यक्त की।

यमराज ने कहा कि श्रेय को चुनने वाले विरले ही होते हैं और आत्मज्ञान भी दुर्लभ है। अतः नचिकेता! तुम्हारी निष्कामता प्रशंसनीय है। तुम वास्तव में आत्मविद्या के अधिकारी हो। यमराज ने परमात्म-तत्त्व के स्वरूप को बताते हुए कहा कि वह परमात्मा सर्वव्यापी भी है और प्रत्येक प्राणी के हृदय में भी स्थित है। अध्यात्म योग के माध्यम से ही उसका साक्षात्कार हो पाता है। उस परमात्मा का प्रतीक ओंकार (प्रणव) है, वह अक्षर ही ब्रह्म है। सभी वेद उसी का प्रतिपादन करते हैं।

आत्मा नित्य है, शरीर के नष्ट होने पर भी अविनाशी है। वह अणु से भी सूक्ष्म है और तर्क से भी अतीत है। उसे परमात्मा की कृपा से ही जाना जा सकता है। इससे पृथक् परमात्मा अणु से भी सूक्ष्म है और महान् से भी महान् है। वह जीवात्मा के हृदय में निवास करता है। उसे जान लेने वाली ज्ञानी शोकरहित हो जाता है। दुराचारी, अविश्वासी, संदेहशील व अजितेन्द्रिय उसे प्राप्त नहीं कर सकते।

इस प्रकार, यमराज द्वारा जीवात्मा व परमात्मा के स्वरूप का पृथक्-पृथक् निरूपण कर, परमात्मा को जानने व प्राप्त करने का उपाय व फल बताया गया। (द्वितीय वल्ली समाप्त)

(तृतीय वल्ली)

यमराज ने जीवात्मा व परमात्मा का नित्य सम्बन्ध व दोनों के सह-निवास का निरूपण करते हुए कहा—मनुष्य-शरीर में जीवात्मा व परमात्मा दोनों साथ-साथ रहते हैं। किन्तु जीवात्मा अल्पज्ञ है और परमात्मा सर्वज्ञ है, इसलिए वे छाया व प्रकाश (धूप) की तरह परस्पर-भिन्नता रखते हैं।

जीवात्मा रथी है, शरीर उसका रथ है, उस रथ की सारथि उसकी बुद्धि है, मन लगाम है, इन्द्रियां घोड़े हैं। इस प्रकार, शरीर इन्द्रिय व मन के साथ रथी आत्मा भोक्ता है। इन्द्रियों से मन, मन से बुद्धि और बुद्धि से भी आत्मा बली व श्रेष्ठ है। इन्द्रियां, मन व बुद्धि—इन सब पर आत्मा का अधिकार व शासन है। वह आत्मा इन सब को वश में रखकर परमात्मा की प्राप्ति की ओर अग्रसर हो सकता है। विवेकशील बुद्धि रूपी सारथि वाला मन रूप लगाम से विषयासक्त इन्द्रिय रूपी अश्वों पर नियंत्रण रख कर, जितेन्द्रिय व्यक्ति परमात्मा के पद को प्राप्त कर सकता है।

परमात्मा समस्त प्राणियों में रहता हुआ भी, माया के परदे में गूढ़ (छिपा) रहता है। सूक्ष्मदर्शी ही उसे देख सकते हैं। परमात्मा की प्राप्ति का यह मार्ग छुरे की धार के समान दुस्तर है। परमात्मा स्पर्श-गन्ध-रस-शब्द से रहित है, अनादि-अनन्त है, परम सत्य तत्त्व है। उस परमात्मा को जानकर जन्म-मरण के चक्र से छूटा जा सकता है।

अन्त में यह बताया गया है कि उपर्युक्त नचिकेता-उपाख्यान को सुनने-सुनाने का अविनाशी सुफल प्राप्त होता है।

-----प्रथम अध्याय समाप्त-----

3.3.4 द्वितीय अध्याय का सार

प्रथम वल्ली

यमराज ने नचिकेता को ब्रह्मविद्या का उपदेश दिया और बताया कि परमेश्वर सभी प्राणियों के हृदय में स्थित हैं, फिर भी उसे कोई देख नहीं पाता, इसका कारण यह है कि इन्द्रियां अपने स्थूल विषयों, बाह्य पदार्थों के प्रति आकर्षित होती हैं, अतः अन्तरात्मा दिखाई नहीं देता। परमात्मा के अनुग्रह से, उसकी शक्ति से ही जीव स्वप्न व जागृत अवस्था के दृश्यों को देख पाता है। वही परमात्मा तीनों कालों पर शासक-नियन्ता है।

यह परमात्मा ही जीवों के कर्मों के अनुरूप फल देता है। उस परमात्मा का ज्ञाता शोक से विमुक्त हो जाता है और उस ज्ञाता के मन में किसी के प्रति घृणा व द्वेष, निन्दा आदि नहीं रहते। समग्र जगत् उसी परमात्मा की महिमा का प्रकाश करता है। समग्र जगत् की जीवनी शक्ति के रूप में, सृष्टि के प्रारम्भ में 'अदिति' उत्पन्न हुई, वह भी परमेश्वर की महाशक्ति है।

गर्भिणी जैसे गर्भ में सन्तान को धारण करती है, वैसे ही अग्नि दो अरणियों के मध्य में छिपी रहती है। वह अग्नि की परमेश्वर के ही प्रतीक हैं। परमेश्वर की कृपा से सूर्य का उदय व अस्त होता है। उसी परमेश्वर में सभी देवता समाविष्ट हैं। एक ही ब्रह्म या परमेश्वर अचिन्त्य शक्ति के सहारे अनेक रूपों में प्रकट होते हैं। जगत् के बाहर व भीतर वही परमेश्वर व्याप्त है। मनुष्य के अंगुष्ठमात्र प्रमाण हृदय में वे स्थित होते हैं, अतः सामान्यतः परमेश्वर को अंगुष्ठमात्र प्रमाण बताया गया है। जो कुछ है, वह परब्रह्म ही है-ऐसा जानने वाला परमात्मा को प्राप्त कर लेता है।

द्वितीय वल्ली

मनुष्य का शरीर (दो आंख, दो कान, दो नासिका खण्ड, मुख, ब्रह्मरन्ध्र, नाभि, गुदा, मूत्रेन्द्रिय-इन) ग्यारह द्वारों वाला है। उसी शरीर में परमात्मा का निवास है। उस परमात्मा का

चिन्तन—मनन से साधक जीवन्मुक्त एवं क्रमशः विदेहमुक्त अवस्था को प्राप्त हो जाता है। वही परमात्मा देवों में तथा जल, पृथिवी व यज्ञादि सत्कर्मों में नाना रूपों में प्रकट होते हैं। शरीर में प्राणापान (श्वासोच्छ्वासादि) की क्रिया चलती है, वह भी उसी की प्रेरणा से होती है। सभी देवता उसी की उपासना करते हैं। जीवात्मा मृत्यु के समय अपना देह छोड़कर अन्य देह में जाता है, तब उसके साथ-साथ उसकी इन्द्रियां, प्राण आदि भी चले जाते हैं, मात्र परमेश्वर रह जाता है, क्योंकि वह सर्वत्र, चेतन—अचेतन सब में सर्वदा विद्यमान रहता है। नाना योनियों में कर्म—फल भुगतने हेतु नये शरीर में जब जीव जाता है, वहां जीव के कर्मानुरूप विविध शुभाशुभ फल को देने वाला वह परमात्मा सदा जागरूक रहता है। वह परम विशुद्ध तत्त्व है।

एक ही अग्नि, एक ही वायु जैसे एक होकर भी, भिन्न—भिन्न वस्तुओं के आश्रय से, उन—उन वस्तुओं के अनुरूप पृथक्—पृथक् शक्ति व गति वाला बन जाता है, वैसे ही अनेक प्राणियों के अन्दर अनेक रूपों में प्रकाशित होने वाला वह परमात्मा एक ही है और सब में समभाव से व्याप्त है।

वह नित्यों का नित्य है और चेतनों का भी चेतन है। चांद, तारे, सूर्य आदि उसी के प्रकाश (ऊर्जा, प्रेरणा) से प्रकाशित होते हैं। वह अकेला ही समस्त प्राणियों के कर्मों का यथोचित फल देता है। उस परमात्मा का जाप कर; परम शान्ति प्राप्त होती है।

(तृतीय वल्ली)

यह ब्रह्माण्ड एक सनातन पीपल (अश्वत्थ) वृक्ष के समान है, जिसका मूलभूत 'परब्रह्म' है। उसी वृक्ष की शाखा ब्रह्मा (स्रष्टा) है। उसी की अधोगामिनी अवान्तर शाखाएं हैं— देव, पितर, मनुष्य, पशु—पक्षी आदि। इन्द्रिय, बुद्धि आदि द्वारा देखने—सुनने—समझने योग्य पदार्थ उसी परब्रह्म से प्रकट हुए हैं। इस रहस्य को, परमात्म—स्वरूप को जानने वाला जन्म—मरण के चक्र से छूट जाता है।

इसी परमात्मा के भय से अग्नि प्रकाशक होती है और पदार्थों को जलाती है। इसी के भय से, शासन से सूर्य, इन्द्र, वायु यहां तक कि मृत्यु भी अपने कर्तव्यों का निर्वहन करते हैं। परमात्मा के ज्ञान न होने तक, जीव नाना योनियों में शरीर धारण करता रहता है। ब्रह्मलोक में जीवात्माओं को अपना व परमेश्वर का, छाया व प्रकाश की तरह, स्पष्ट दर्शन होता है। स्वयं को इन्द्रिय, बुद्धि व मन से स्वयं को पृथक् विलक्षण व नित्य चेतन रूप समझने वाला साधक शोकमुक्त हो जाता है। लौकिक या भौतिक चर्म—चक्षुओं से इसके स्वरूप को नहीं देखा जा सकता है, अपितु बार—बार अध्यात्म—योग साधना द्वारा, परमात्मा के चिन्तन—ध्यान द्वारा, निश्चल हृदय से, विशुद्ध अन्तःकरण में, उसका साक्षात्कार होता है। इन्द्रिय, मन व बुद्धि की स्थिर धारणा ही 'योग' या अध्यात्म योग साधना है। इस 'योग' का निरन्तर अभ्यास करणीय है। वह परमात्मा इन भौतिक चक्षु, वाणी, मन आदि के अगोचर (अज्ञेय, अप्राप्य) है।

साधक अहंता—ममता रूपी समस्त अज्ञान—ग्रंथियों को नष्ट कर, परमात्मा का साक्षात्कार कर लेता है। सभी कामनाओं से रहित होकर वह 'अमर' हो जाता है।

उपर्युक्त 'ब्रह्मविद्या' का उपदेश यमराज द्वारा नचिकेता को दिया गया था। इसके ज्ञान से जीवात्मा ब्रह्मरूपता को प्राप्त कर सकता है। यमराज से ब्रह्मविद्या के रहस्य का श्रवण कर, नचिकेता जन्म-मरण के समस्त बंधनों से छूट गया।

3.3.5 चयनित मंत्रों की संस्कृत व्याख्या

उदाहरण-1

मंत्र

ये ये कामा दुर्लभा मर्त्यलोके
सर्वान् कामाँश्छन्दतः प्रार्थयस्व।
इमा रामाः सरथाः सतूर्या
न हीदृशा लम्बनीया मनुष्यैः।
आभिर्मत्प्रत्ताभिः परिचारयस्व
नचिकेतो मरणं मानुप्राक्षीः।।

(सन्दर्भः—) कठोपनिषद् उद्धृतोऽयं मंत्रः। तत्र वर्णितं यद् नचिकेताः तृतीयवररूपेण आत्मविद्योपदेशं याचितवान्, किन्तु यमराजः कथितवान्— हे नचिकेतः! अन्यवरं याचय। स यमराजः अन्यप्रलोभनानि उपस्थापितवान्। यमः नचिकेतसं कथयति—

व्याख्या— ये ये कामाः = ये केचन कामभोगा; मर्त्यलोके = मनुष्यलोके, दुर्लभाः = कठिनतया प्राप्याः, सर्वान् कामान् = तान् समग्रान् दुर्लभान् भोग्यपदार्थान्, छन्दतः प्रार्थयस्व = यथेच्छं याचय। यथा, सरथाः सतूर्याः इमाः रामाः = सवाद्यैः रथैः सह एताः सुन्दराप्सरसः, (ताः याचय, गृहाण वा), यतो हि, मनुष्यैः ईदृशाः = एतादृशाः अप्सरसः, न हि लम्बनीयाः = मनुष्यैः नैव प्राप्याः सन्ति, अतः, मत्प्रत्ताभिः आभिः = मया प्रदत्ताभिः सुन्दरनारीभिः सह, परिचारयस्व = स्वसेवां कारय, तासामुपभोगं कुरु। किन्तु मरणं मा अनुप्राक्षीः = मरणविषये प्रश्नं नैव कुरु, अर्थात् यदा जीवस्य मृत्युर्भवति, तदा स जीवोऽपि नश्यति यद्वा नैव यदि नश्यति तदा स कुत्र गच्छति? अथवा जन्म-मृत्युचक्रात् मुक्तिः कथं प्राप्यते केनोपायेन, तदुपायविषयक-जिज्ञासा नैव करणीया, अहं तुभ्यं सुन्दराप्सरसो प्रयच्छामि, तत्सेवनं कुरु, इति भावः।

उदाहरण-2

मंत्र

श्रवणायापि बहुभिर्यो न लभ्यः
शृण्वन्तोऽपि बहवो यं न विद्युः।

आश्चर्यो वक्ता कुशलोऽस्य लब्धा-

ऽऽश्चर्यो ज्ञाता कुशलानुशिष्टः ॥

संदर्भः — कठोपनिषदो मंत्रोऽयं समुद्धृतः। नचिकेतसा सह संवादे यमराजः कथयति—हे नचिकेतः! आत्मविद्याः वक्ता श्रोता, उभौ दुर्लभौ। अतः आत्मतत्त्वज्ञानाभावाद् जीवः विषयभोगेषु आसक्तः जन्ममरणचक्रात् न विमुच्यते।

व्याख्या— यः बहुभिः श्रवणाय अपि न लभ्यः = यदात्मतत्त्वस्य श्रवणमणि बहूनां कृते दुर्लभमस्ति, यं बहवः शृण्वन्तोऽपि न विद्युः = यदात्मतत्त्वज्ञानं बहवोऽनेके जनाः श्रुत्वा अपि नैव सम्यक्तया प्रतिबुद्धाः भवन्ति, बोद्धुं नैव शक्नुवन्ति इति भावः। अस्य = एतस्य दुर्लभस्य आत्मतत्त्वस्य, वक्ता आश्चर्यः= उपदेष्टा भवेत् चेत्तदा आश्चर्यमेव भवति, न सामान्यतः कोऽपि उपदेष्टा प्राप्यते। लब्धा कुशलः (आश्चर्यः)= आत्मतत्त्वस्य ज्ञाता सफलः, सोऽपि आश्चर्यः, तस्य प्राप्तिरपि दुर्लभा। कुशलानुशिष्टः ज्ञाता आश्चर्यः= कुशलेन लब्धतत्त्वज्ञानेन उपदिष्टः तज्ज्ञाता अपि आश्चर्यभूत एव, सामान्यतया न सुलभः, परम दुर्लभः इति भावः।

(उदाहरण-3)

मंत्र

इन्द्रियाणि हयानाहुर्विषयांस्तेषु गोचरान्।

आत्मेन्द्रियमनोयुक्तं भोक्तेत्याहुर्मनीषिणः ॥

संदर्भः : कठोपनिषद्-ग्रन्थाद् अयं मंत्रः उद्धृतः। पूर्वमन्त्रे प्रतिपादितं यद् आत्मा रथी भवति, शरीरमेव तस्य रथो भवति, बुद्धिः सारथिः भवति, स मनोरूपप्रग्रहेण रथं संचालयति। तस्य रथस्य अश्वाः के? इति जिज्ञासा भवति, अतः पूर्वकथनस्य पूरणाय अयं मंत्रः प्रस्तूयते।

व्याख्या— मनीषिणः=ज्ञानिनः, इन्द्रियाणि= कर्मेन्द्रियाणि ज्ञानेन्द्रियाणि चः हयान्-आहुः= इन्द्रियाणि अश्वभूतानि सन्ति, इति प्रतिपादितवन्तः। विषयान्=रूपरस-गन्ध-स्पर्श-शब्दरूपविषयान्, तेषु गोचरान् (आहुः)= तेषामश्वानां विचरणमार्गान्-कथितवन्तः। आत्मेन्द्रियमनोयुक्तम्= इन्द्रिय-मनः-सहितः यो जीवात्मा, तम् भोक्ता इति आहुः= इन्द्रियमनोयुक्तस्य आत्मन एव 'भोक्ता' इति संज्ञा, इति मनीषिभिः प्रतिपादितम्।

उदाहरण-4

मंत्र

यतश्चोदेति सूर्योऽस्तं यत्र च गच्छति।

तं देवाः सर्वे अर्पितास्तदु नात्येति कश्चन ॥

संदर्भः— कठोपनिषद्ग्रन्थाद् मन्त्रोऽयं समुद्धृतः। यमराजः नचिकेतसम् आत्मतत्त्वज्ञानमुपदिशन् परब्रह्मणः परमात्मनः महिमानं वर्णयति—

व्याख्या— यतः= यस्मात्, परब्रह्मणः, सूर्यः उदेति=सूर्यस्य उदयो भवति, यत्र च गच्छति= यस्मिन् परब्रह्मणि एव अस्तं गच्छति, सर्वे देवाः=समस्ताः देवताः अपि, तम् अर्पिताः= तस्मिन् परब्रह्मणि एवं समर्पिताः, प्रतिष्ठिताः सन्ति, तत् उ= तद्ब्रह्मदेवम्, कश्चन= कश्चिदपि, कदाचिदपि, न अत्येति= नोल्लङ्घितुं शक्नोति, एतद् वैतत्= एतदेव तद् ब्रह्म, यद्विषये त्वया नचिकेतसा अहं पृष्टः। एतद् सर्वशक्तिमत् तत्त्वमेव ब्रह्म— इति त्वया ज्ञातव्यम्। सूर्यदेवस्य उदयस्थानम् अस्तस्थानं च तदेव ब्रह्म। सर्वेषां देवानां प्रतिष्ठास्थानमपि तदेव ब्रह्म, इति परमात्मनः, परब्रह्मणः सर्वातिशायि माहात्म्यं त्वया ज्ञातव्यम्।

उदाहरण-5

मंत्र

सूर्यो यथा सर्वलोकस्य चक्षुः,

न लिप्यते चाक्षुषैर्बाह्यदोषैः।

एकस्तथा सर्वभूतान्तरात्मा,

न लिप्यते लोकदुःखेन बाह्यः॥

संदर्भः— कठोपनिषद्ग्रन्थाद् उद्धृतोऽयं मन्त्रः। यमराजः नचिकेतसम् आत्मतत्त्वोपदेशेन संयुनक्ति। कीदृशोऽयं परमात्मा, इति विषयं स्पष्टीकरोति यमराजः मंत्रेऽस्मिन्।

व्याख्या— यथा= येन प्रकारेण, सूर्यः= आदित्यः, लोकप्रकाशकः, सर्वलोकस्य चक्षुः= समग्रब्रह्माण्डस्य प्रकाशकः। सूर्यप्रकाशेनैव समग्रं जगत् प्रकाशितं भवति, दृश्यं भवति। प्रत्येकः प्राणी चक्षुषा पदार्थान् पश्यति, किन्तु सूर्यमाध्यमेन तु समे जनाः सर्वं पश्यन्ति, अतः ब्रह्माण्डस्य चक्षुर्भूतः सूर्यः। स सूर्यः, चाक्षुषैः बाह्यदोषैः न लिप्यते= प्राणिनः सूर्यमाध्यमेन जगत् पश्यन्ति, ते चक्षुःसम्बन्धिदोषैः युक्ता अपि भवन्ति, किन्तु चक्षुर्भूतः सूर्यः सर्वदैव चाक्षुषदोषैः अस्पृष्ट एव तिष्ठति, तथैव, सूर्य इव, सर्वभूतान्तरात्मा एकः= एक एव परमात्मा, यः सर्वप्राणिनां हृदये तिष्ठति, लोकदुःखेन न लिप्यते=स परमात्मा जीवानुभूतदुःखैः न लिप्तो भवति। अयं भावः—विविधदुःखानि जना अनुभवन्ति, तैर्दुःखैस्ते जनाः लिप्यन्ते, किन्तु सूर्यइव स परमात्मापि लोकानुभूतदुःखैर्न कदाचिदपि स्पृष्टो भवति। स सर्वप्राणिषु संस्थितोऽपि सर्वतः पृथक् एव भवति। इत्येवं परमात्मनः स्वरूपं यमराजेन उपदिष्टम्।

उदाहरण-6

न संदृशे तिष्ठति रूपमस्य,

न चक्षुषा पश्यति कश्चनैनम्।

हृदा मनीषा मनसाभिव्लृप्तः,

य एतद् विदुरमृतास्ते भवन्ति ।।

संदर्भ—कठोपनिषदो मंत्रोऽयमस्ति । यमराजः परमात्म-तत्त्व-स्वरूपं विवृणोति अस्मिन् मंत्रे ।

व्याख्या— अस्य रूपम्=परमेश्वरस्य स्वरूपम्, न संदृशे तिष्ठति= नैव प्रत्यक्षरूपेण स्थातुं शक्नोति । यतो हि, एनं कश्चन चक्षुषा न पश्यति= परमात्मतत्त्वं कश्चिदपि स्वनेत्रेण साक्षात्कर्तुं न प्रभवति । किन्तु, मनसा अभिव्लृप्तः= पुनः पुनः मनसा ध्यानेन ध्येयभूतः, तथा हृदा= निर्मलहृदयेन, मनीषा= विशुद्धबुद्ध्या, दृश्यते= स साक्षात् क्रियते, ये एतद् विदुः= ये एतद् रहस्यं जानन्ति, ते अमृताः भवन्ति= ते आनन्दरूप-परमात्मानं प्राप्य, अमृतत्वम् आनन्दावस्थाम् लभन्ते ।

स परमात्मा नेन्द्रियप्रत्यक्षः । ध्यानयोगेन, अन्तःकरण-विशुद्धौ सत्यां स्वहृदये तस्य साक्षात्कारो भवति, तदैव ध्याता साधकः परमात्मसाक्षात्कारेण अमृतरूपो भवतीति तात्पर्यम् ।

उदाहरण-7

मंत्र

तां योगमिति मन्यन्ते स्थिरामिन्द्रियधारणाम् ।

अप्रमत्तस्तदा भवति योगो हि प्रभाप्ययौ ।।

संदर्भ— योगसाधनया परमात्म-साक्षात्कारः संभवति । स योगः कः इति जिज्ञासां समाधातुं कठोपनिषदः मंत्रेऽस्मिन् यमराजः कथयति—

व्याख्या— ताम् स्थिराम् इन्द्रियधारणाम्=इन्द्रियाणां मनसश्च स्थिरता यस्यामवस्थायां सम्भवति, तां योगम् इति मन्यन्ते='योगः', योगसाधनां वा मनीषिणः मन्वते, स्वीकुर्वन्ति । पूर्वस्मिन् मंत्रे प्रतिपादितमासीत् यत् पञ्च ज्ञानेन्द्रियाणि यत्र मनसा सह स्थिराणि भवन्ति, परमात्मानमतिरिच्य न कस्यापि चिन्तनं भवेत्, बुद्धिरपि निश्चेष्टा भवति, सा परमा गतिः, योगसाधनायाः उत्कृष्टा स्थितिर्भवति । सा स्थितिरेवात्र 'योग-पदेन अभिहिता । अस्यां स्थितौ का विशेषता? उच्यते—तदा अप्रमत्तः भवति= प्रमादरहितः साधको भवति । अप्रमादस्य का आवश्यकता? इति प्रश्ने उच्यते—योगो हि प्रभाप्ययौ=योगस्थितिः उदयास्तमयी, उदिता सती अस्तमपि याति, अतः दृढाभ्यासः करणीयो भवति, येन योगः सुस्थिरो भवेत् । सुस्थिरतायै योगस्य साधकेन प्रमादरहितेन भाव्यम्, अन्यथा, प्रमादे सति योगस्थिरता दुष्प्रभाविता जायेत ।

उदाहरण-8

मंत्र

यदा सर्वे प्रभिद्यन्ते हृदयस्येह ग्रन्थयः ।

अथ मर्त्योऽमृतो भवत्येतावद्दह्यनुशासनम् ।।

संदर्भः— पूर्वस्मिन् मंत्रे निष्कामभावस्य माहात्म्यं वर्णितम्। अस्मिन् कठोपनिषदो मंत्रे संशयरहितनिश्चयदृढताया माहात्म्यं प्रतिपादितम्।

व्याख्या— यदा= यस्यां स्थितौ, हृदयस्य सर्वे ग्रन्थयः प्रभिद्यन्ते= हृदयस्थित-अज्ञान-ग्रन्थयः अहन्ता-ममतादिरूपाः भिन्नाः भवन्ति, उच्छिन्नाः जायन्ते, अर्थात् सर्वसंशयानाम् उच्छेदो जायते, अथ=तदा, तस्यां स्थितौ, मर्त्यः= मरणधर्मा प्राणी साधकः, अमृतो भवति= अमृतत्वं प्राप्नोति, तस्य परमात्मलाभो भवतीत्यर्थः। हि एतावद्= इयदेव अनुशासनम्= सनातन उपदेशः। सर्वसंशयोच्छेदे साधकः स्वान्तःस्थ-परमेश्वरं साक्षात्करोति, मर्त्यावस्थां परित्यज्य अमृतत्वं च प्राप्नोति-इति उपदेश-सारः, इति भावः।

उदाहरण-9

मंत्र

यस्तु विज्ञानवान् भवति युक्तेन मनसा सदा।

तस्येन्द्रियाणि वश्यानि सदश्वा इव सारथेः॥

संदर्भः— जितेन्द्रियता परमात्मप्राप्ति-साधनायाम् अपेक्षिता भवति। सा कथं प्राप्यते? समाधीयते यद् विवेकशीलबुद्धिरत्र कार्यकारिणी संभवति। एतदेव रहस्यमत्र प्रतिपाद्यते—

व्याख्या— तु यः सदा= परन्तु यः सर्वदा, विज्ञानवान्= विवेकसम्पन्न-बुद्धिः भवति, तथा युक्तेन मनसा भवति= वशीभूतं मनो भवति तस्य। तदा, तस्य इन्द्रियाणि= साधकस्य सर्वाणि इन्द्रियाणि, वश्यानि भवन्ति= वशीभूतानि जायन्ते, अत्रोदाहरणं प्रस्तूयते-सारथेः सदश्वा इव= यथा कुशलस्य सारथेः रथवाहकस्य अश्वाः वशीभूताः भवन्ति, तथैव विवेकिनः इन्द्रियाणि वशीभूतानि भवन्ति। इन्द्रियवश्यतायां जितेन्द्रियता जायते एव-इति तात्पर्यम्।

उदाहरण-10

मंत्र

पराचः कामाननुयन्ति बाला-

स्ते मृत्योर्यन्ति विततस्य पाशम्।

अथ धीरा अमृतत्वं विदित्वा,

ध्रुवमध्रुवेष्विह न प्रार्थयन्ते॥

संदर्भः— कठोपनिषदः उद्धृतोऽयं मन्त्रः। अज्ञानिनां जितेन्द्रियाणां का दुर्गतिः, तत्त्वज्ञानिनः का स्थितिः-इत्यत्र स्पष्टीकृतमस्ति।

व्याख्या— बालाः=अज्ञानिनः, अजितेन्द्रियाः सन्तः, पराचः कामान्= बाह्यान् भौतिकपदार्थान् प्रति, अनुयन्ति= आसक्ताः, तदनुगमनं कुर्वन्ति, तदवशीभूताः जायन्ते, ते=ते बाह्यकामभोग-वशवर्तिनः, विततस्य मृत्योः= सर्वत्र विचरतः मृत्योः, पाशं यन्ति= तदबन्धने बद्धा भवन्ति, मृत्युग्रस्ता भवन्ति, जन्म-मरण-चक्रे एव परिवर्तन्ते, इत्यर्थः। अथ= किन्तु, धीराः= बुद्धिमन्तः, विवेकशालिनः, ज्ञानिजनाः, ध्रुवम् अमृतत्वम्=शाश्वतं सनातनम् अमरपदम् विदित्वा= ज्ञात्वा, इह= अस्मिन् जगति, अध्रुवेषु= नश्वरेषु कामभोगेषु, न प्रार्थयन्ते= नेच्छन्ति, न रमन्ति तत्र। अज्ञानिनः विषयेषु आसक्ताः पुनः पुनरपि जन्ममरणचक्रे भ्रमन्ति, किन्तु तत्त्वज्ञानिनः परमात्म-स्वरूपं सम्यक् विज्ञाय, नश्वरकामभोगाद् विरक्ताः भवन्ति, परमात्म-साक्षात्कारमपि कर्तुं प्रभवन्ति-इति तात्पर्यम्।

3.3.6 अभ्यास प्रश्नावली

लघूत्तरात्मक प्रश्न

- प्रश्न-1. कठोपनिषद् के महत्त्व पर प्रकाश डालें।
 प्रश्न-2. उपनिषदों के वर्ण्य विषय को स्पष्ट करें।
 प्रश्न-3. किन्हीं दो मंत्रों का हिन्दी अर्थ लिखें—

- (अ) शतायुषः पुत्रपौत्रान् वृणीष्व,
 बहून् पशून् हस्तिहिरण्यमश्वान्।
 भूमेर्महदायतनं वृणीष्व,
 स्वयं च जीव शरदो यावदिच्छसि॥
- (ब) नैषा तर्केण मतिरापनेया,
 प्रोक्तान्येनैव सुज्ञानाय प्रेष्ठ।
 यां त्वमापः सत्यधृतिर्बतासि,
 त्वादृङ् नो भूयान्चिकेतः प्रेष्टा॥
- (स) मनसैवेदमाप्तव्यं
 नेह नानास्ति किंचन।
 मृत्योः स मृत्युं गच्छति
 य इह नानेव पश्यति॥

- प्रश्न-1. किन्हीं दो मंत्रों की संस्कृत व्याख्या करें—

- (अ) इन्द्रियाणि हयानाहु—
 विषयांस्तेषु गोचरान्
 आत्मेन्द्रियमनोयुक्तं
 भोक्तेत्याहुर्मनीषिणः॥
- (ब) न संदृशे तिष्ठति रूपमस्य,

न चक्षुषा पश्यति कश्चनैनम् ।

हृदा मनीषा मनसाभिवृत्तः,

य एतद् विदुरमृतास्ते भवन्ति ।।

(स) यस्तु विज्ञानवान् भवति, युक्तेन मनसा सदा ।

तस्येन्द्रियाणि वश्यानि, सदश्वा इव सारथेः ।।

निबन्धात्मक प्रश्न

प्रश्न—1. नचिकेतोपाख्यान को अपने शब्दों में लिखें ।

प्रश्न—2. नचिकेता ने यमराज से कितने व क्या वर मांगे? क्रमशः वर्णन करें ।

प्रश्न—3. कठोपनिषद् के प्रथम या द्वितीय अध्याय का सार लिखें ।

प्रश्न—4. उपनिषदों के स्वरूप व महत्त्व पर एक लघुनिबन्ध लिखें ।

संदर्भ ग्रन्थ

1. ईशादि नौ उपनिषद्, प्रका. गीता प्रेस, गोरखपुर (उ.प्र.)

 इकाई-4 निरुक्त

संरचना

- 4.0 प्रस्तावना
- 4.1 उद्देश्य
- 4.2 निरुक्त का सामान्य परिचय
- 4.3 निरुक्त का महत्त्व
- 4.4 निरुक्त की वेदांगता
- 4.5 निरुक्त-मूल (प्रथमाध्याय)
 - 4.5.0 प्रस्तावना
 - 4.5.1 उद्देश्य
 - 4.5.2 निरुक्तिपरक सैद्धान्तिक विवेचन
 - 4.5.2.1 पदों का चतुर्धा विभाग
 - 4.5.2.2 शब्दों की नित्यता-अनित्यता का विचार
 - 4.5.2.3 उपसर्ग-निरूपण
 - 4.5.2.4 निपात-निरूपण
 - 4.5.2.5 नामों के आख्यातज होने का निरूपण
 - 4.5.2.6 निरुक्ति से मन्त्रार्थ-ज्ञान
 - 4.5.2.7 मंत्रों की सार्थकता (पूर्वपक्ष व उत्तरपक्ष)
 - 4.5.2.8 निघण्टु की उत्पत्ति
 - 4.5.3 विशिष्ट शब्दों का निर्वचन
 - 4.5.3.1 निर्वचन में दृष्टि
 - 4.5.3.2 विशिष्ट शब्द-निर्वचन (निघण्टु, आचार्य)
 - 4.5.4 अध्याय-सारांश
 - 4.5.5 अभ्यास-प्रश्नावली

4.6 निरुक्त-मूल (द्वितीय अध्याय)

4.6.1 निर्वचन-विधि के सूत्र

4.6.2 निरुक्त के अधिकारी

4.6.3 विशिष्ट शब्द-निर्वचन

4.6.4 अध्याय-सारांश

4.6.5 अभ्यास प्रश्नावली

4.0 प्रस्तावना

भारतीय धर्म व संस्कृति का मूल स्रोत वेद हैं। एक ही वेद के चार भाग किये गये। वैदिक विचारधारा के विविध आयामों का विस्तार हुआ। ब्राह्मण, आरण्यक की रचना हुई। भारतीय दार्शनिक चिन्तन का उत्कृष्ट रूप उपनिषत्साहित्य के रूप में आया।

वेद के मंत्रों में प्रतिपादित याज्ञिक आदि विधियों के अनुष्ठान में सहयोगी-उपयोगी ग्रंथों के रूप में 'वेदांग' साहित्य की रचना हुई। शिक्षा, कल्प, व्याकरण, निरुक्त, छन्द व ज्योतिष-इन छः को 'वेदांग' के रूप में प्रतिष्ठा प्राप्त है। इन वेदांगों में निरुक्त का महत्त्वपूर्ण स्थान है।

वेदांगों में व्याकरण को भी परिगणित किया गया है, वह भी शब्दों के अर्थ-निर्धारण में उपयोगी है, किन्तु कुछ वैदिक कठिन व दुरुह शब्द जो व्याकरण की पहुँच से परे थे, उनके अर्थ-निर्धारण में 'निरुक्त' की विशिष्ट विधि का आलम्बन ही कार्यकारी होता है।

निरुक्त के रचयिता महर्षि यास्क हैं। निरुक्त से पूर्व भी 'निघण्टु' (वैदिक शब्दकोश) की रचना हो चुकी थी, जिस पर यास्क ने भाष्य लिखा, उसे निरुक्त कहा गया। यास्क का काल 800 ई.पू. से 700 ई.पू. के मध्य माना जाता है। अब निरुक्त का सामान्य परिचय प्रस्तुत किया जा रहा है, जिससे इस ग्रंथ से सम्बद्ध विविध उपयोगी पक्षों पर प्रकाश डाला जा सकेगा।

4.1 उद्देश्य

1. महर्षि यास्क द्वारा रचित निरुक्त के सामान्य स्वरूप से अध्येता को अवगत कराना।
2. निरुक्त में निरुक्ति-परक नियमों एवं विशिष्ट वैदिक शब्दों के निर्वचनों का बोध कराना, ताकि वैदिक मंत्रों का अर्थ-निर्धारण सम्यक्तया किया जा सके।

4.2 निरुक्त का सामान्य परिचय

वेद के अर्थ-ज्ञान के लिए यास्ककृत निरुक्त का महत्त्वपूर्ण स्थान है। इसी से यह ग्रन्थ वेद न होते हुए भी वेद के समान ही महत्त्वपूर्ण है। निरुक्त के सिवा कोई ऐसा शास्त्र नहीं है, जो तात्पर्यानुसार

सब शब्दों का निर्वचन करे। जैसे सब शास्त्रों में शब्दज्ञान व्याकरण आदि से होता है, वैसे ही वेद के शब्दों के अर्थ का निर्वचन व परिज्ञान एकमात्र निरुक्त से ही होता है। अर्थ-परिज्ञान में कारणीभूत होने के कारण निरुक्त वेद का सर्वप्रधान अंग है।

वैदिक शब्दों का निर्वचन अर्थात् अर्थ का निर्णय करने वाला वेदांग 'निरुक्त' (निस्+वच्+क्त) है। अभी एकमात्र यास्क-रचित निरुक्त उपलब्ध होता है, जो वैदिक शब्दों के एक पंचाध्यायात्मक संग्रह 'निघण्टु' की व्याख्या है। अनुमान होता है कि 'निघण्टु' के नाम से कई संग्रह हुए थे। तभी यास्क ने 'निघण्टवः' यह बहुवचन-प्रयोग किया है। यास्क ने एक विशेष निघण्टु का चुनाव करके उसी पर व्याख्या लिखी। यास्क का समय 800 ई.पू. से 700 ई.पू. के बीच रखा जाता है। कुछ लोग इस निघण्टु को भी यास्क-कृत मानते हैं, किन्तु महाभारत (मोक्षधर्म पर्व 342/86-7) के अनुसार प्रजापति कश्यप इसके लेखक (संग्रहकर्ता) हैं।

यह 'निरुक्त' 'निघण्टु' का व्याख्या ग्रंथ है। मूलग्रंथ 'निघण्टु' कहलाता है। वह मुख्यतः ऋग्वेद के शब्दों का संग्रह रूप वैदिक-शब्दकोश है। उसमें पांच अध्याय हैं। पहिले तीन अध्यायों में एक-एक अर्थ के वाचक अनेक शब्दों का संग्रह किया गया है। 'गौः' इत्यादि 21 पृथिवीवाचक शब्दों का संग्रह एक स्थान पर कर दिया गया है। इसी प्रकार मनुष्य-अर्थ के वाचक 25 शब्दों का एक स्थान पर संग्रह कर दिया गया है। इसलिए 'निघण्टु' का प्रारम्भिक तीन अध्यायवाला भाग एक भाग माना जाता है और उसे 'नैघण्टुककाण्ड' कहते हैं।

'निघण्टु' के दूसरे अध्याय की संग्रह-शैली इससे भिन्न है। उसमें अनेकार्थक शब्दों का संग्रह किया गया है। इसका अर्थ यह है कि 'नैघण्टुककाण्ड' 'एकार्थमनेकशब्दम्' अर्थात् एकार्थवाचक अनेक शब्दों का संग्रह रूप है और दूसरा 'नैगमकाण्ड' 'अनेकार्थानि एकशब्दानि' अर्थात् अनेकार्थ एक-एक पदों का संग्रह रूप है।

'निघण्टु' का तीसरा भाग उसका पंचम अध्याय है। इस अध्याय में ऋग्वेद के देवताओं का संग्रह किया गया है। इसलिए यह भाग 'दैवतकाण्ड' कहा जाता है। निरुक्त के प्रारम्भिक तीन अध्याय 'नैघण्टुककाण्ड' 4-6 तक, अगले तीन अध्याय 'नैगमकाण्ड' और अन्तिम 6 अध्याय 'दैवतकाण्ड' नाम से कहे जाते हैं। इस प्रकार 'निरुक्त' तीन काण्डों के रूप में तीन मुख्य विभागों में विभक्त किया गया है।

निरुक्त के प्रतिपाद्य विषय पांच हैं— वर्णागम, वर्णविपर्यय, वर्णविकार, वर्णनाश और धातु का उसके अर्थातिशय से योग।

वर्णागमो वर्णविपर्ययश्च द्वौ चापरौ वर्णविकारनाशौ।

धातोस्तदार्थातिशयेन योगस्तदुच्यते पंचविधं निरुक्तम्॥

इस प्रकार निरुक्त एक ओर तो निघण्टु के विषय को अपने में समाहित कर लेता है तो दूसरी तरफ व्याकरण का भी सर्वस्व है।

यास्काचार्य ने पद के चार भेद माने हैं—नाम, आख्यात, उपसर्ग और निपात (चत्वारि पदजातानि नामाख्याते चोपसर्गनिपाताश्च)।

यास्क ने शब्दों को धातुज मानकर इनकी निरुक्ति की है। यद्यपि निरुक्त कठिन वैदिक शब्दों का व्याख्याग्रंथ है, तथापि उसमें व्याकरण, भाषा-विज्ञान, साहित्य, समाजशास्त्र और इतिहास आदि विषयों की प्राचीनतम जानकारी प्राप्त करने के लिए पर्याप्त सामग्री है।

4.3 निरुक्त का महत्त्व

श्री यास्काचार्यका यह 'निरुक्त' ग्रन्थ वस्तुतः मौलिक ग्रन्थ नहीं, अपितु एक व्याख्याग्रन्थ है, पर उसका सम्मान एवं महत्त्व मूलग्रन्थ से भी अधिक है। निरुक्त का आधारभूत मूलग्रन्थ 'निघण्टु' है। वह एक प्रकार का वैदिक-शब्दकोश है। उसमें वेदों के और विशेष रूप से ऋग्वेद के महत्त्वपूर्ण एवं विलिखित शब्दों का संग्रह किया गया है। इन शब्दों के अर्थों का परिज्ञान हो जाने पर वेदार्थ का समझना अत्यन्त सरल हो जाता है। इन शब्दों का संग्रह इस प्रकार से किया गया है कि उनके अर्थ का ज्ञान सरलता से हो सके। जैसे कि वेदों में पृथिवी-अर्थ के बोधन के लिए जितने शब्द प्रयुक्त होते हैं, उन सबका संग्रह एक साथ कर दिया है और उनकी गणना भी करके 'इति एकविंशतिः पृथिवीनामधेयानि' इस प्रकार का निर्देश उनके अन्त में कर दिया गया है। इसलिए उन सब शब्दों का अर्थ स्पष्ट हो जाता है। इस शैली से वेदों के महत्त्वपूर्ण समस्त शब्दों का संग्रह करके 'निघण्टु' नाम से वैदिक-शब्दकोश की रचना की गयी थी। उसकी व्याख्या करने के विचार से यास्काचार्य ने इस 'निरुक्त' ग्रन्थ की रचना की है। इसीलिए ग्रन्थ के आरंभ में 'स व्याख्यातव्यः' लिखकर यास्काचार्य ने अपने ग्रन्थ के 'विषय' तथा 'प्रयोजन' रूप दो अनुबंधों का निर्देश किया है। वैदिक-शब्दकोश की व्याख्या इस ग्रन्थ का विषय है। इसके द्वारा वेदार्थ का परिज्ञान और वेदाध्ययन को सुकर बनाना प्रयोजन है। वेदार्थ के जिज्ञासु उस ग्रन्थ के अध्ययन-अध्यापन के अधिकारी हैं। विषय के साथ ग्रन्थ का प्रतिपाद्य-प्रतिपादक-भाव तथा अधिकारी के साथ उसका बोध्य-बोधक-भाव सम्बन्ध है। इस प्रकार इस प्रथम पंक्ति के द्वारा ग्रन्थ के अध्ययन में प्रवृत्ति के चार कारणों का निरूपण भी हो जाता है।

'निघण्टु' की रचना-शैली से यद्यपि उन वैदिक शब्दों के अर्थ का सामान्य रूप से ज्ञान हो जाता है, परन्तु उनका विश्लेषण करके उनके अवयवार्थ की विवेचना उसमें नहीं की गयी है, इसलिए उन शब्दों का विशेष रहस्य उसमें नहीं खुलता है। इसी न्यूनता की पूर्ति करने के लिए यास्काचार्य ने इस व्याख्या-ग्रन्थ 'निरुक्त' की रचना की है। यह प्रक्रिया केवल इस वैदिक-कोश के विषय में ही नहीं, अपितु 'अमरकोश' आदि लौकिक शब्दकोशों के सम्बन्ध में भी पायी जाती हैं। 'अमरकोश' के ऊपर भट्टोजिदीक्षित के पुत्र भानुजी दीक्षित ने इसी प्रकार से 'व्याख्या सुधा' नामक व्याख्या की रचना की है। 'निघण्टु' जैसे महत्त्वपूर्ण वैदिक-शब्दकोश के ऊपर तो इस प्रकार की व्याख्या की और भी अधिक आवश्यकता थी। यास्काचार्य ने उसी आवश्यकता की पूर्ति के लिए इस ग्रन्थ की रचना कर वेदाध्ययन का मार्ग अत्यन्त प्रशस्त कर दिया है।

4.4 निरुक्त की वेदांगता

वेदाध्ययन के क्षेत्र में निरुक्त के द्वारा किये जाने वाले इस उपकार को ध्यान में रखकर ही उसकी गणना वेदांगों में की गयी है। शिक्षा, कल्प, व्याकरण, निरुक्त, छन्द और ज्योतिष—ये छः वेदांग माने गये हैं। इनमें भी निरुक्त सबसे मुख्य है। क्योंकि वेदार्थ के परिज्ञान में साक्षात् सहायक निरुक्त ही है। अन्यो की उपयोगिता उसकी अपेक्षा कम है। शिक्षा का उपयोग मंत्रों के उच्चारण में ही होता है, अर्थज्ञान में नहीं। ‘कल्प’ के आधार पर मंत्रों का नाना प्रकार का विनियोग आदि होता है, परन्तु अर्थज्ञान में उसका भी साक्षात् उपयोग नहीं है। इसी प्रकार व्याकरण, छन्द और ज्योतिष भी अन्य प्रकार से वेद के उपकारक तो हैं, परन्तु साक्षात् रूप से अर्थ—ज्ञान में सहायक नहीं होते हैं। निरुक्त वेदार्थ के परिज्ञान में साक्षात् सहायक है, इसलिए समस्त वेदांगों में उसका स्थान सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण है।

4.5 निरुक्त (मूल—प्रथमाध्याय)

4.5.0 प्रस्तावना

निरुक्त के प्रथम व द्वितीय अध्याय पाठ्य विषय के रूप में निर्धारित हैं। इन दोनों अध्यायों के समग्र मूल को हिन्दी अर्थ आदि के साथ प्रस्तुत करने पर पाठ्य—सामग्री का आकार आवश्यकता से अधिक हो जाएगा। इन अध्यायों में निहित विषय—वस्तु को सुविधा की दृष्टि से प्रमुखतया दो भागों में विभक्त किया जा सकता है—1. निरुक्तिपरक सैद्धान्तिक विवेचन, और 2. विशिष्ट शब्दों का निर्वचन। समग्र विषय को प्रस्तुत सीमित आकार वाली पाठ्य—सामग्री में समाहित कर पाना कठिन है, तथापि कुछ चयनित गद्यांशों के आधार पर निरुक्त सम्बन्धी विशिष्ट सिद्धान्तों एवं कुछ महत्त्वपूर्ण शब्दों को प्रस्तुत किया जाएगा, ताकि निरुक्तकार की निरुक्ति—परक क्या दृष्टि रही है, उसे समझा जा सके।

4.5.1 उद्देश्य

1. निरुक्तिपरक ने वैदिक शब्दों के अर्थ—निर्धारण की दृष्टि से जो मौलिक सिद्धान्त प्रतिपादित किये हैं, उनसे अध्येता को परिचित कराना।
2. विशिष्ट शब्दों के निर्वचन से अध्येताओं को अवगत कराना।

4.5.2 निरुक्तिपरक सैद्धान्तिक विवेचन

4.5.2.1 पदों का चतुर्धा विभाग

तद्यान्येतानि चत्वारि पदजातानि नामाख्याते च, उपसर्ग—निपाताश्च, तानीमानि भवन्ति।

तत्रैतन्नामाख्यातयोर्लक्षणं प्रदिशन्ति—‘भावप्रधानमाख्यातम्’, ‘सत्त्वप्रधानानि नामानि’। तद्यत्रोभे भावप्रधाने भवतः। पूर्वापरीभूतं भावमाख्यातेनाचष्टे ब्रजति पचतीत्युपक्रमप्रभृत्यपवर्गपर्यन्तम्। मूर्तं सत्त्वभूतं

सत्त्वनामभिर्ब्रज्या पक्तिरिति । अद इति सत्त्वानामुपदेशो गौरश्वः पुरुषो हस्तीति । भवतीति भावस्य, आस्ते, शेते, व्रजति, तिष्ठतीति ।

षड् भावविकाराः

षड् भावविकारा भवन्तीति वार्षायणिः । जायते, अस्ति, विपरिणमते, वर्धते, अपक्षीयते, विनश्यति इति । जायत इति पूर्वभावस्यादिमाचष्टे नापरभावमाचष्टे न प्रतिषेधति । अस्तीत्युत्पन्नस्य सत्त्वस्यावधारणम् । विपरिणमत इत्यप्रच्यवमानस्य तत्त्वाद्विकारम् । वर्धत इति स्वांगाभ्युच्चयं सांयोगिकानां वार्थानाम् । वर्धते शरीरेण वर्धते विजयेनेति (वर्धते विजयेनेति वा वर्धते शरीरेणेति वा) । अपक्षीयत इत्येतेनैव व्याख्यातः प्रतिलोमम् । विनश्यति इत्यपरभावस्यादिमाचष्टे न पूर्वभावमाचष्टे न प्रतिषेधति । अतोऽन्ये भावविकारा एतेषामेव विकारा भवन्तीति ह स्माह । ते यथावचनमभ्यूहितव्याः ।।

(हिन्दी अर्थ)— उनमें, (लोक में) जो ये चार नाम और आख्यात तथा उपसर्ग एवं निपात रूप चार प्रकार के पद प्रसिद्ध हैं, वे ही (अर्थात् उसी प्रकार से चार वर्गों में विभक्त निघण्टु के) ये (वैदिक पद भी) होते हैं ।

(नाम और आख्यात)— उनमें से नाम और आख्यात के (आगे कहे जाने वाले) इन लक्षणों को (शास्त्रकार—लोग) कहते हैं । (भवतीति भावः, भावप्रधानः अर्थात्) क्रिया की जिसमें प्रधानता होती है, वह 'आख्यात' (पद) है, और जिसमें (लिंगकारकादिसम्बन्धयोग्यत्वं 'सत्त्वम्' सत्त्व अर्थात्) द्रव्य की प्रधानता हो वह 'नाम' (पद कहलाता) है ।

(और) जहां (अर्थात् वाक्य में नाम और आख्यात अर्थात् संज्ञा, लिंग, कारकादि सम्बन्ध योग्य या कर्ता और क्रिया) दोनों हों, वहां (भाव अर्थात्) क्रिया की प्रधानता होती है ।

आगे—पीछे किये जाने वाले (पूर्वापरीभूत) आदि से लेकर अन्ततक (उपक्रमप्रभृत्यपवर्ग पर्यन्त) व्यापार—समुदाय को 'जाता है', 'पकाता है' आदि आख्यात—पदों से कहा जाता है ।

(सत्त्वभूतं अर्थात् लिंग—संख्या—कारक—योग्यत्व रूप) द्रव्य के समान (मूर्त अर्थात् पौर्वापर्य से रहित) एकीभूत (भाव) को द्रव्यवाचक (लिंग—संख्या—कारकादियुक्त) पदों के द्वारा (कहते हैं) ।

'अदः' (अर्थात् अदस्, इदम् आदि सर्वनाम पदों) के द्वारा (सत्त्व अर्थात्) द्रव्यों का (सामान्य रूप से) निर्देश (किया जाता) है । और गौ, अश्व, पुरुष, हस्ति आदि (संज्ञावाचक पदों) से द्रव्यों—का (विशेष रूप) से निर्देश होता है ।

(इसी प्रकार) भू—धातु से (भवति—पद से यहां भू धातु का ग्रहण करना चाहिए) भाव (अर्थात् क्रिया) का (सामान्य रूप से तथा) आस्ते, शेते, व्रजति, तिष्ठति आदि से (विशेष रूप से क्रिया का निर्देश होता है) ।

(क्रियाओं के छः भेद—)

(मुख्य रूप से) छः प्रकार के क्रियाओं के भेद (विकार) होते हैं, यह 'वार्ष्पायणि' (आचार्य) का मत है। 1. 'जायते' उत्पन्न होता है, 2. 'अस्ति' रहता है, 3. 'विपरिणमते' परिवर्तित होता है, 4. 'वर्धते' बढ़ता है, 5. 'अपक्षीयते' क्षीण होता है और 6. 'विनश्यति' नष्ट होता है। (इनमें से) 1 उत्पन्न होना (वस्तु के) प्रथम आविर्भाव के आरम्भ को सूचित कराता है, बाद की क्रियाओं (या अवस्थाओं) को न कहता है और न निषेध करता है। 2. यह उत्पन्न हुए पदार्थ की स्थिति को कहता है। 3. विपरिणाम तत्त्व का नाश हुए बिना उसमें होने वाले परिवर्तन को कहता है। 4. वृद्धि (दो प्रकार की होती हैं। एक तो) अपने शरीर की वृद्धि, अथवा (दूसरी) सांयोगिक (बाहरी) पदार्थों की। (जैसे) शरीर से बढ़ रहा है (यह स्वांगाभ्युच्चय है) और विजय से बढ़ रहा है (यह सांयोगिक अर्थों की वृद्धि है)। 5. इसी को उलटा कर देने से क्षीण होने की व्याख्या भी समझ लेनी चाहिए। (अर्थात् अपक्षय भी दो प्रकार का होता है)। 6. विनाश अन्तिम क्रिया के आरम्भ को कहता है, पूर्व क्रिया को न कहता है, न उसका निषेध करता है। (मुख्य रूप से ये छः ही क्रियाओं के भेद होते हैं) इनसे भिन्न दूसरे क्रियाओं के सारे भेद 'निष्पद्यते, विकसति, पच्यते आदि' इनके ही भेदों में आ जाते हैं, ऐसा (वार्ष्पायणि आचार्य ने) कहा है। उनको यथोक्त-रीति से (इन छः के भीतर) समझ लेना चाहिए।।।।।

सारांश

(पदों का चतुर्धा विभाग—)

व्याकरण आदि शास्त्रों में लौकिक शब्दों को नाम, आख्यात, उपसर्ग तथा निपात— इन चार वर्गों में विभक्त किया गया है। इसी प्रकार निघण्टु में संगृहीत वैदिक शब्द भी इन चार वर्गों में विभक्त किये जा सकते हैं। इनमें से 'पचति' आदि 'आख्यात' पदों में क्रिया अंश की प्रधानता रहती है। और उसी पच्-धातु से बने हुए 'पाकः' आदि 'नाम' पदों में क्रिया गौण होकर द्रव्यांश की प्रधानता हो जाती है। इसलिए निरुक्तकार ने आगे 'भावप्रधानमाख्यातम्' और 'सत्त्वप्रधानानि नामानि' ये 'नाम' और 'आख्यात' के लक्षण किये हैं। 'भाव-प्रधानं' में 'भाव' पद का अर्थ 'क्रिया' है। पचति, गच्छति आदि आख्यात-पदों में क्रियांशकी प्रधानता रहती है। 'सत्त्व-प्रधानानि' में 'सत्त्व' शब्द का अर्थ क्रिया से भिन्न द्रव्य है। पाकः, गतिः आदि 'नाम' पदों में, पुलिंग, स्त्रीलिंग, नपुंसक लिंगों तथा कारक-विभक्तियों का योग रहता है। इसी लिंग-कारकादि-सम्बन्ध-योग्यत्व को 'सत्त्व' या द्रव्यांश कहते हैं। इसलिए 'नाम' पदों में द्रव्यांश की प्रधानता रहती है। इसी चारों पदों का लक्षण एक ही श्लोक में निम्न प्रकार से किया गया है—

क्रियावाचकमाख्यातमुपसर्गो विशेषकृत्।

सत्त्वाभिधायकं नाम निपातः पादपूरणम्॥

नाम व आख्यात का स्पष्टीकरण किया जा चुका है। प्र, परा, उप आदि उपसर्ग हैं, जो क्रिया में विशेषता प्रकट करते हैं। च, हि आदि पद निपात हैं, जो पादपूर्ति हेतु प्रयुक्त होते हैं।

4.5.2.2 शब्द की नित्यता-अनित्यता का विचार

इन्द्रियनित्यं वचनमौदुम्बरायणः।

तत्र चतुष्ट्वं नोपपद्यते अयुगपदुत्पन्नानां वा शब्दानामितरेतरोपदेशः शास्त्रकृतो योगश्च।

व्याप्तिमत्त्वात् शब्दस्य।

अणीयस्त्वाच्च शब्देन संज्ञाकरणं व्यवहारार्थं लोके। तेषां मनुष्यवद् देवताभिधानम्।

पुरुषविद्याऽनित्यत्वात् कर्मसम्पत्तिर्मन्त्रो वेदे।।

हिन्दी अर्थ— वचन (अर्थात् शब्द) इन्द्रिय में नियत है (अर्थात् जब तक वक्ता बोलता है तब तक उसकी वागिन्द्रिय में और जब तक श्रोता सुनता है तब तक उसकी श्रोत्रेन्द्रिय में विद्यमान रहता है। न उसके पहिले था और न बाद को रहता है। इसलिए) अनित्य है, यह औदुम्बरायण) का मत है।

(पूर्वपक्ष—औदुम्बरायण के मत का खण्डन—) उसमें (अर्थात् शब्द को अनित्य माननेवाले पक्ष में तीन दोष आते हैं। पहिला दोष यह है कि नाम, आख्यात, उपसर्ग और निपात रूप से शब्दों का जो चार प्रकार का विभाग किया गया है, वह) चार प्रकार का विभाग नहीं बनता है (क्योंकि जब वर्ण—समुदायात्मक पद ही नहीं बनता है, तब चार पद इकट्ठे होकर उनका चार प्रकार का विभाग किया जाना सर्वथा असम्भव है। शब्द के अनित्यत्व—पक्ष में दूसरा दोष यह है कि) क्रमशः (अयुगपत्) उत्पन्न होने वाले (और क्षणिक अनित्य होने से तुरन्त ही नष्ट हो जानेवाले) शब्दों का एक—दूसरे के साथ (गुण—प्रधानभावसे) उपदेश (अर्थात् सम्बन्ध) भी नहीं बनता है। (और तीसरा दोष यह आता है कि) शास्त्र के द्वारा किया गया (प्रकृति—प्रत्ययादि रूप) सम्बन्ध (भी नहीं बनता है। इस प्रकार इस अनित्यत्व—पक्ष में तीन दोष आते हैं)।

शब्द के व्याप्तिमान् (कालिक—व्याप्ति से युक्त सब कालों में व्याप्त या विद्यमान अर्थात् नित्य) होने से तो (पूर्वपक्ष का निराकरण हो जाता है। अर्थात् 1. पदों के चार विभागों की अनुपपत्ति, 2. गुणप्रधान—भाव की अनुपपत्ति तथा 3. प्रकृति—प्रत्ययविभाग की अनुपपत्ति रूप जो तीन दोष दिए थे, उनका निराकरण हो जाता है)।

(सबसे अधिक) लाघव—युक्त होने के कारण (ही) लोक में व्यवहार के लिए शब्द के द्वारा संकेत स्थापित किये गये हैं ('सम्यक् ज्ञायते अर्थो यथा इति संज्ञा संकेतः' इस व्युत्पत्ति के अनुसार संज्ञा पद का अर्थ संकेत करना चाहिये। शाब्द—व्यवहार भी सांकेतिक व्यवहार है। संकेत के द्वारा ही शब्द से अर्थ की प्रतीति होती है। यह शब्दरूप संकेत केवल मनुष्यों में ही नियत नहीं है अपितु) मनुष्यों के समान उन (शब्दों) का देवताओं में (भी अभिधान अर्थात् कथन अर्थात्) प्रयोग होता है।

पुरुषों के ज्ञान (विद्या) के अनित्य (अपूर्ण और अपर्याप्त) होने से (केवल अपने लौकिक ज्ञान के द्वारा सफलता नहीं मिल सकती है। इसलिए मनुष्य के) कार्यों की सफलता प्रदान करानेवाला मंत्र (उपदेश) वेद में (दिया गया) है।

4.5.2.3 उपसर्ग-निरूपण

न निर्बद्धा उपसर्गा अर्थान्निराहुरिति शाकटायनो नामाख्यातयोस्तु कर्मोपसंयोगद्योतका भवन्ति।

उच्चावचाः पदार्था भवन्तीति गार्ग्यः। तद् य एषु पदार्थः प्राहुरिमे तम्। नामाख्यातयोरर्थविकरणम्।

हिन्दी अर्थ— (नाम तथा आख्यातों से) अलग करके गुम्फित किये हुए (निर्बद्धा नामाख्याताभ्यां निष्कृष्य बद्धाः, नाम और आख्यात से अलग करके वाक्य में प्रयुक्त किये हुए) उपसर्ग, अर्थों को (न निराहुः निश्चयेन न आहुः) निश्चित रूप से नहीं कहते हैं। नाम और आख्यात के अर्थ (कर्म शब्द निरुक्त में सर्वत्र 'अर्थ' का वाचक होता है) को उनके साथ मिलकर (उपसंयोगेन द्योतकाः उपसंयोगद्योतकाः) द्योतन करने वाले होते हैं, यह शाकटायन का मत है।

(इन उपसर्गों के भी उच्चावच अर्थात्) नाना प्रकार के (उच्चावच शब्द निरुक्त में नाना प्रकार के इस अर्थ में प्रयुक्त होता है) अर्थ होते हैं। इसलिए इनका जो अर्थ होता है (नाम तथा आख्यात से अलग प्रयुक्त होने पर भी) नाम और आख्यात के अर्थ में परिवर्तन करने वाले उस अर्थ को ये (उपसर्ग) कहते ही हैं, यह गार्ग्य का मत है।

(उपसर्गों का निर्देश व अर्थ)

‘आ’ इत्यर्वागर्थे। ‘प्र’, ‘परा’ इत्येतस्य प्रातिलोम्यम्।

‘अभि’ इत्याभिमुख्यम्। ‘प्रति’ इत्येतस्य प्रातिलोम्यम्।

‘अति’, ‘सु’ इत्यभिपूजितार्थे। ‘निर’, ‘दुर्’ इत्येतयोः प्रातिलोम्यम्।

‘नि’ ‘अव’ इति विनिग्रहार्थीयौ। ‘उत्’ इत्येतयोः प्रातिलोम्यम्।

‘सम्’ इत्येकीभावम्। ‘वि’, ‘अप’ इत्येतस्य प्रातिलोम्यम्।

‘अनु’ इति सादृश्यापरभावम्। ‘अपि’ इति संसर्गम्।।

‘अप’ इत्युपजनम्। ‘परि’ इति सर्वतोभावम्।

‘अधि’ इत्युपरिभावमेश्वर्यं वा।

एवमुच्चावचानर्थान् प्राहुः। त उपेक्षितव्याः।।

हिन्दी अर्थ— 'आ' (अर्थात् आड़) यह (उपसर्ग अर्वाक् अर्थात्) समीप या सम्मुख अर्थ में (प्रयुक्त होता) है। 'प्र' तथा 'परा' (ये दोनों उपसर्ग) इसके (अर्थात् 'आ' उपसर्ग के) प्रातिलोम्य (अर्थात् विपरीत अर्थ) को कहते हैं।

'अभि' यह (उपसर्ग) आभिमुख्य (अर्थात् साम्मुख्य या नम्रता) को कहता है। 'प्रति' (उपसर्ग) इसके विरुद्ध अर्थ को (कहता है)।

'अति' तथा 'सु' ये (दोनों उपसर्ग) प्रशंसा-परक हैं। 'निर्' तथा 'दुर्' (ये दोनों उपसर्ग) इन दोनों ('प्रति' तथा 'सु' उपसर्गों के अभिपूजित अर्थ) के विपरीत (निन्दा-परक) हैं।

'नि' और 'अव' ये (दोनों उपसर्ग विनिग्रह अर्थात् नीचे दबाने) अभिभूत करने के अर्थ में आते हैं। और 'उत्' (उपसर्ग) इन दोनों से विपरीत (उन्नत होने अर्थ में) आता है।

'सम्' यह (उपसर्ग) एकीभाव को कहता है और 'वि' तथा 'अप' इसके विपरीत (भेद) को कहते हैं।

'अनु' यह (उपसर्ग) सादृश्य तथा पश्चात् (अपरभाव) अर्थ को कहता है। 'अपि' यह (उपसर्ग) संसर्ग को। 'उप' यह (उपसर्ग) वृद्धि (उपजन) को। 'परि' यह (उपसर्ग) सर्वतोभाव को। 'अधि' यह (उपसर्ग) उपरिभाव अथवा ऐश्वर्य को (कहता है)।

इस प्रकार (उपसर्ग) भिन्न-भिन्न (उच्चावच) अर्थों को कहते हैं। उनको भली प्रकार समझ लेना चाहिये।

(विशेषार्थ—)

पाणिनि व्याकरणानुसार 'प्रादयः', 'उपसर्गाः' क्रियायोगे' (अष्टा. 1-4-58 तथा 59) सूत्रों के अनुसार क्रिया के योग में 1 प्र., 2 परा, 3 अप, 4 सम्, 5 अनु, 6 अव, 7 निस्, 8 निर्, 9 दुस्, 10 दुर्, 11 वि, 12 आड़; 13 नि, 14 अधि, 15 अपि, 16 अति, 17 सु, 18 उत्, 19 अभि, 20 प्रति, 21 परि तथा 22 उप-इन 22 की उपसर्ग संज्ञा होती है। इन उपसर्गों का अपना अर्थ होता है या नहीं, इस विषय में दो प्रकार के मत पाये जाते हैं। कुछ लोग उपसर्गों को 'वाचक' मानते हैं और कुछ वाचक न मानकर 'द्योतक' मानते हैं। वाचक पक्ष में उपसर्गों का अपना अर्थ होता है और वे उस अर्थ के 'वाचक' होते हैं। यह मत नैरुक्तों में गार्ग्य का है। शाकटायन उपसर्गों को वाचक न मानकर 'द्योतक' मानते हैं। द्योतक-पक्ष में उपसर्गों का अपना अर्थ नहीं होता है। वे जिसके साथ मिलते हैं उसके अर्थ में विशेषता का बोध कराते हैं। दार्शनिकों में नैयायिक और मीमांसक दोनों उपसर्गों को द्योतक और निपातों को वाचक मानते हैं। वैयाकरण लोग उपसर्ग और निपात के बीच इस प्रकार के भेद का समर्थन नहीं करते हैं, वे दोनों को द्योतक मानते हैं।

नैरुक्त गार्ग्य के मत में उपसर्ग द्योतक नहीं, अपितु वाचक हैं, इस सिद्धान्त का प्रतिपादन करके यास्क ने नैरुक्त होने के नाते स्वयं भी उस सिद्धान्त के साथ सहमति प्रकट की है। इसलिए

निरुक्त-मत में उपसर्गों की वाचकता का सिद्धान्त ही माना जाता है। तब उपसर्गों के क्या-क्या अर्थ होते हैं, इसका निरूपण करने का प्रश्न उपस्थित होता है, इसलिए यास्काचार्य आगे उपसर्गों के अर्थों का निरूपण प्रारंभ करते हैं। इस प्रसंग में यास्क ने उपसर्गों के केवल एक-एक अर्थ का प्रतिपादन किया है। पर उनके अतिरिक्त भी उपसर्गों के अनेक अर्थ होते हैं। यास्क ने यहां केवल उदाहरण के रूप में उनके एक-एक अर्थ का प्रदर्शन किया है।

4.5.2.4 निपात-निरूपण

अथ निपाताः। उच्चावचेष्टर्थेषु निपतन्ति। अप्युपमार्थे, अपि कर्मोपसंग्रहार्थे, अपि पदपूरणाः।

हिन्दी अर्थ- अब निपातों का (वर्णन करते हैं)। (वे) भिन्न-भिन्न अर्थों का बोध कराते हैं (इसलिए 'निपात' कहलाते हैं)। नि+पत् धातु से 'ज्वलति-कसन्तेभ्यो णः' (अष्टा. 3-1-140) सूत्र से कर्ता में ण-प्रत्यय होकर निपातशब्द बनता है। उन निपातों के तीन भेद हैं। कुछ निपात 1 उपमार्थक (होते हैं। कुछ) 2 अर्थों का संग्रह कराने वाले (कर्मोपसंग्रहार्थक अर्थात् समुच्चयार्थक) भी (होते हैं)। और कुछ केवल 3 पदपूरक भी (होते हैं)।

विशेषार्थ- पाणिनि व्याकरण में मुख्य रूप से 'चादयोऽसत्त्वे' (1-4-57) और 'प्रादयश्च' (1-5-58) इन सूत्रों के अनुसार चादि तथा प्रादि गण में पठित शब्दों की 'निपात' संज्ञा होती है। प्रादि-गण-पठित शब्द तो 22 ही हैं और उनकी 'उपसर्ग' संज्ञा भी होती है। परन्तु चादिगण बहुत लम्बा है। उसमें 207 शब्दों का संग्रह किया गया है। उन सबका अर्थ-विवेचन यहां संभव नहीं है। यास्क ने निपातों को तीन वर्गों में विभाजित किया है। वे वर्ग हैं-1. उपमार्थक-निपात, 2. कर्मोपसंग्रहार्थक अर्थात् समुच्चयार्थक-निपात और 3. पदपूरक-निपात।

वैयाकरण लोग उपसर्गों के समान निपातों को भी 'द्योतक' मानते हैं 'वाचक' नहीं। नैयायिक उपसर्गों को तो 'द्योतक' मानते हैं, परन्तु निपातों को 'वाचक' मानते हैं। नैरुक्त उपसर्ग तथा निपात दोनों को 'वाचक' मानते हैं। इसलिए यास्काचार्य आगे निपातों के अर्थों का वर्णन कर रहे हैं।

(उपमार्थक निपात-)

तेषामेते चत्वार उपमार्थे भवन्ति। इवेति भाषायां च अन्वध्यायं च। अग्निरिव, इन्द्र इव इति।

हिन्दी अर्थ-उनमें से ये निम्नांकित चार (निपात) उपमार्थक प्रयुक्त होते हैं। 1. इव यह (निपात भाषा में अर्थात्) लोक में भी और (अध्याये इति अन्वध्यायं अर्थात्) वेद में भी (उपमार्थ में प्रयुक्त होता है)। जैसे 'अग्निरिव इन्द्र इव' (अग्नि के समान, इन्द्र के समान)।

'न' इति प्रतिषेधार्थीयो भाषायाम्, उभयमन्वध्यायम्। 'नेन्द्रं देवममंसत' इति प्रतिषेधार्थीयः। पुरस्तादुपचारस्तस्य यत् प्रतिषेधति। 'दुर्मदासो न सुरायाम्' इत्युपमार्थीयः। उपरिष्ठादुपचारस्तस्य येनोपमिमाते।

‘चित्’ इत्येषोऽनेककर्मा । ‘आचार्यश्चिदिदं ब्रूयात्’ इति पूजायाम् ।

हिन्दी अर्थ— 2. ‘न’ यह (निपात) लोक में निषेधार्थक होता है और वेद में (निषेध तथा उपमा) दोनों अर्थों में (प्रयुक्त होता) है। जैसे ‘नेन्द्रं देवममंसत’ (ऋ. 10-86-1) ‘इन्द्र को देव नहीं मानते थे’ इसमें। (इसमें विशेष नियम यह है कि) जिसका निषेध किया जाता है उसके पूर्व (न का) प्रयोग होता है। ‘दुर्मदासो न सुरायाम्’ (ऋ. 8-2-12) शराब में मत्तों के समान (यहां उपमार्थ में ‘न’ का प्रयोग है। विशेष नियम यह है कि) जिसके साथ उपमा दी जाती है उस (उपमान) के बाद (न का) प्रयोग होता है।

3. ‘चित्’ यह (निपात) अनेकार्थक है। जैसे ‘आचार्यश्चिदिदं ब्रूयात्’ इस (अत्यन्त गूढ़ विषय) को आचार्य ही कह सकते हैं, यह पूजार्थ में (चित् का) प्रयोग है।

(कर्मोपसंग्रहार्थक (समुच्चयार्थक) निपात)

अथ यस्यागमादर्थपृथक्त्वमिह विज्ञायते न त्वौद्देशिकमिव, विग्रहेण पृथक्त्वात् स कर्मोपसंग्रहः ।

‘च’ इति समुच्चयार्थ उभाभ्यां सम्प्रयुज्यते। ‘अहं च त्वं च वृत्रहन्’ इति (ऋ. 8-62-11)। एतस्मिन्नेवार्थे ‘देवेभ्यश्च पितृभ्य आ’ इति (ऋ. 10-16-11) ‘आ’ कारः ।

‘वा’ इति विचारणार्थे। ‘हन्ताहं पृथिवीमिमां निदधानीह वा इह वा’ इति। (ऋ. 10-119-9) अथापि समुच्चयार्थे भवति। ‘वायुर्वा त्वा मनुर्वा त्वा’ इति (कृ. यजु. 1-7-7)।

‘अह’ इति च ‘ह’ इति च विनिग्रहार्थीयौ पूर्वेण सम्प्रयुज्येते। ‘अयमह इदं करोतु अयमिदम्’। ‘इदं ह करिष्यति इदं न करिष्यति’ इति।

हिन्दी अर्थ—(कहीं शब्दतः पठित और कहीं शब्दतः अपठित) जिस (निपात) के बीच में आने से (आगमात्) अर्थों में पृथक्ता प्रतीत होने लगती है (औद्देशिक अर्थात् मूल रूप में ‘रामलक्ष्मणौ’ इस अभिन्न रूप में पठित होने पर भी बीच में कर्मोपसंग्रहक ‘च’ का समावेश करके ‘रामश्च लक्ष्मणश्च’ इस प्रकार के) विग्रह के द्वारा पृथक् हो जाने से मूलरूप (औद्देशिक रूप) नहीं रहता है, वह ‘कर्मोपसंग्रहार्थक’ (निपात) है।

1-‘च’ यह (कर्मोपसंग्रहार्थक प्रथम निपात) समुच्चय अर्थ में (समुच्चित होने वाले) दोनों (अर्थों) के साथ प्रयुक्त होता है। जैसे ‘अहं च त्वं च वृत्रहन् संयुज्याव’ (ऋ. 8-62-11) हे इन्द्र! मैं और तुम (सुख की प्राप्ति के लिए मिल जावें)।

2- इसी (समुच्चय) अर्थ में ‘देवेभ्यश्च पितृभ्य आ’ देवताओं और पितरों के लिए (ऋ. 10-16-11) यह ‘आ’ (निपात च के स्थान पर प्रयुक्त हुआ) है।

3-‘वा’ यह (तीसरा निपात) संकल्प-विकल्प (विचार) के अर्थ में (प्रयुक्त होता) है। जैसे—(हन्ताहं पृथिवीमिमां निदधानीह वा इह वा) ‘कहो मैं पृथिवी को (उठाकर) यहां रख दूं या वहां रख दूं।’ (ऋ. 10-119-9)। ‘हन्त’ पद यहां संबोधनार्थक है।

और समुच्चय अर्थ में भी (वा निपात का प्रयोग) होता है। जैसे ‘वायुर्वा त्वा मनुर्वा त्वा’ वायु और मनु तुमको (वेग प्रदान करें)।

4-5-‘अह’ और ‘ह’ ये दोनों (कर्मोपसंग्रहार्थक निपात विनिग्रहार्थक अर्थात्) नियमार्थक हैं और (जिन दो के विषय को वे नियन्त्रित करते हैं, उनमें से) पहिले के साथ प्रयुक्त होते हैं। जैसे यह (देवदत्त) ही इस (निर्दिष्ट विशेष कार्य को करे और यह (यज्ञदत्त आदि दूसरा व्यक्ति) इस (दूसरे कार्य) को करे।’

(देवदत्त आदि कोई व्यक्ति) इस (निर्दिष्ट विशेष कार्य) को ही करेगा और इस (यहां से भी ‘अह’ और ‘ह’ निपातों का दो अर्थों से सम्बन्ध है, अतः इन दोनों को अर्थोपसंग्रहार्थक कहा गया है, इस दूसरे कार्य) को नहीं करेगा।

(विशेष विवरण-) कर्मोपसंग्रहार्थक निपातों का वर्णन किया जा रहा है। ‘कर्म’ शब्द निरुक्त में ‘अर्थ’ के लिए प्रयुक्त होता है। इसलिए ‘कर्मोपसंग्रह’ का अर्थ हुआ ‘अर्थों का संग्रह’। च, आ, वा, अह, ह आदि निपात यहां कर्मोपसंग्रहार्थक निपात माने गये हैं। इन निपातों का सम्बन्ध केवल एक अर्थ से नहीं, अपितु दो अर्थों से या अधिक अर्थों से रहता है। इसलिए उनको कर्मोपसंग्रहार्थक निपात कहते हैं।

कर्मोपसंग्रहार्थक निपात कभी शब्दतः वाक्य में प्रयुक्त रहते हैं और कभी ‘राम-लक्ष्मणों’ के समान द्वन्द्व समास में अप्रयुक्त भी रहते हैं। दोनों अवस्थाओं में ये ‘कर्मोपसंग्रहार्थक’ कहलाते हैं। क्योंकि केवल एक अर्थ का कथन होने पर उनका प्रयोग संगत नहीं होता है। उनके प्रयोग की संगति के लिए दूसरे अर्थ का संग्रह आवश्यक है। इसी आधार पर ‘वा’ आदि को भी ‘कर्मोपसंग्रहार्थक’ निपात माना जा सकता है।

(पदपूरक निपात-)

अथ ये प्रवृत्तेऽर्थे अमिताक्षरेषु ग्रन्थेषु वाक्यपूरणा आगच्छन्ति, पदपूरणास्ते मिताक्षरेषु, अनर्थकाः। कम् ईम् इत् उ इति।

‘शिशिरं जीवनाय कम्’। शिशिरं शृणातेः शम्नातेर्वा। ‘एमे नं सृजता सुते’ (ऋ. 1-9-2) आसृजत एनम् सुते ‘तमिद्वर्धन्तु नो गिरः’ (ऋ. 9-61-14)

हिन्दी अर्थ- (प्रवृत्ते अर्थे अर्थात् वाक्य के अन्य पदों के द्वारा ही) अर्थ के पूर्ण हो जाने पर (अमिताक्षर अर्थात् जिनमें अक्षरों की गणना का नियम नहीं होता है उस प्रकार के) गद्य-ग्रंथों में जो वाक्यपूर्ति (अर्थात् वाक्यालंकार के रूप) में प्रयुक्त होते हैं। वे ही नियत अक्षरोंवाले (अर्थात् पद्यबद्ध) ग्रंथों में पदपूरक-अनर्थक-(निपात) होते हैं। जैसे-1 कम्, 2 ईम्, 3 इत्, और 4 उ- ये (चार निपात मुख्य रूप से पदपूरक रूप में आते हैं।)

4.5.2.5 नामों के आख्यातज होने का विवेचन

तत्र नामानि आख्यातजानि इति शाकटायनो नैरुक्त-समयश्च। न सर्वाणि इति गार्ग्यो वैयाकरणानां चैके।

1. तद्यत्र स्वर-संस्कारौ समर्थौ प्रादेशिकेन गुणेनान्वितौ स्यातां संविज्ञातानि तानि। (न पुनः) गौरश्वः पुरुषो हस्तीति।

2.अथ चेत् सर्वाणि आख्यातजानि नामानि स्युः, यः कश्च तत्कर्म कुर्यात् सर्वं तत् सत्त्वं तथाचक्षीरन्। यः कश्चाध्वानमश्नुवीत अश्वः स वचनीयः स्यात्। यत् किञ्चित् तृन्धात् तृणं तत्।

हिन्दी अर्थ— इस प्रकार (अब तक तीन पादों या 11 खण्डों में) नाम, आख्यात, उपसर्ग तथा निपात— इन चारों प्रकार के पदों का (अनुक्रान्तानि) क्रमशः विवेचन कर दिया गया है।

(सारे ही) नाम 'आख्यातज (यौगिक) हैं, यह (वैयाकरणों में से उणादिकार) शाकटायन और नैरुक्तों का सिद्धान्त है। सब नाम (आख्यातज या यौगिक) नहीं हैं— यह (नैरुक्तों में से गार्ग्य और कुछ वैयाकरण मानते हैं।)

(पूर्व पक्ष की युक्तियां—) नामों को आख्यातज नहीं मानने वालों की ओर से, पूर्वपक्ष रूप में, कुछ युक्तियां दी जा रही हैं—

(नामों के आख्यातज होने के विषय में मतभेद)

पिछले तीन पादों में नाम, आख्यात, उपसर्ग और निपात— इन चार प्रकार के पदों का सामान्य रूप से विवेचन किया गया था। इस पाद में नामों के आख्यात—जत्व के विषय में विचार करना है। इस विषय में दो प्रकार के मत पाये जाते हैं। निरुक्त—सिद्धान्त के अनुसार सभी नाम 'आख्यातज' या यौगिक हैं। कोई नाम रुढ़ नहीं है। वैयाकरणों में उणादिकार शाकटायन भी इसी 'सिद्धान्त' को मानते हैं। इसके विपरीत कुछ वैयाकरण और नैरुक्तों में से गार्ग्य का मत यह है कि सारे नाम तो 'आख्यातज' नहीं हैं। कुछ नाम आख्यातज हैं अर्थात् यौगिक हैं और कुछ नाम ऐसे भी हैं जो 'आख्यातज' अर्थात् यौगिक नहीं, अपितु रुढ़ हैं। इसलिए इस विषय का निर्णय करना आवश्यक हो जाता है, इसी दृष्टि से ग्रंथकार इस पाद में इस विषय की विवेचना प्रारम्भ करते हैं।

यहां सारे नाम 'आख्यातज' हैं यह निरुक्त—सिद्धान्त है, इसलिए 'न सर्वाणि' यह पूर्वपक्ष समझना चाहिये। इसलिए ग्रंथकार पहिले पूर्वपक्ष के समर्थन में उनकी युक्तियां प्रस्तुत करते हैं—फिर उनका खण्डन कर सिद्धान्त पक्ष की स्थापना करेंगे।

1. जहां (अर्थात् जन शब्दों में उदात्त, अनुदात्त आदि) स्वर और संस्कार (अर्थात् प्रकृति—प्रत्यय का विभाग, समर्थ अर्थात्) अर्थ के अनुकूल हों और (प्रदिश्यते द्रव्यमनया इति प्रदेशः क्रिया तत्सम्बन्धिना गणेन) क्रियासम्बन्धी गुण से युक्त हों वे (नाम आख्यात—जत्वेन) प्रसिद्ध हैं (अर्थात् उनको सभी लोग आख्यातज मानते हैं, जैसे कारकः, हारकः, पाचकः, पाठकः आदि किन्तु जहां प्रकृति—प्रत्यय का विभाग स्पष्ट नहीं है और प्रादेशिक—गुण नहीं पाया जाता है उनको आख्यातज या यौगिक नहीं कहा जा सकता है वे तो रुढ़—शब्द ही होते हैं जैसे) गौ, अश्व, पुरुष, हस्ती आदि। (ये शब्द आख्यातज नहीं, अपितु रुढ़—शब्द ही हैं। यह कुछ वैयाकरण और नैरुक्तों में गार्ग्य का मत है)।

2. और यदि सारे नाम आख्यातज हों तो जो कोई भी उस कर्म को करें, उन सबको उस नाम से कहा जायेगा। जैसे (अश्व शब्द-का आख्यातज माननेवाले उसको 'अशूङ् व्याप्तौ' धातु से बनाकर 'अशुते अध्वानमिति अश्वः' यह उसका निर्वचन करते हैं। यदि यह निर्वचन मान लिया जाय तो) जो कोई भी मार्ग का व्यापन करे (अर्थात् मार्ग में चले) वह अश्व कहलाना चाहिये। ('तृदि हिंसानादरयोः' धातु से 'तृण' शब्द की सिद्धि होने से) जो कुछ पीड़ादायक हो, वह तृण (कहलाना चाहिये। परन्तु ऐसा नहीं होता है। इसलिए ये पद आख्यातज नहीं, अपितु रुढ़-पद हैं)।

(पूर्वपक्ष की ओर से अन्य युक्तियां-)

3. अथापि चेत् सर्वाणि अख्यातजानि नामानि स्युः, यावद्भिर्भावैः सम्प्रयुज्येत तावद्भ्यो नामधेयप्रतिलम्भः स्यात्। तत्रैवं स्थूणा दरशया वा संजनी च स्यात्।
4. अथापि य एषां न्यायवान् कार्मनामिकः संस्कारः, यथा चापि प्रतीतार्थानि स्युः तथा एनान्याचक्षीरन्। पुरुषं 'पुरिशय' इत्याचक्षीरन्। 'अष्टा' इत्यश्वम्, तर्दनमिति तृणम्।
5. अथापि निष्पन्नेऽभिव्याहारेऽभिविचारयन्ति। 'प्रथनात् पृथिवी' इत्याहुः। क एनां अप्रथयिष्यत्, किमाधारश्चेति?
6. अथ अनन्वितेऽर्थे, अप्रादेशिके विकारे पदेभ्यः पदेतराद्धान् संचस्कार शाकटायनः। एतेः कारितं च यकारादिं चान्तकरणम्, अस्तेः शुद्धं च सकारादिं च।
7. अथापि सत्त्वपूर्वो भावः इत्याहुः। अपरस्माद् भावात् पूर्वस्य प्रदेशो नोपपद्यत इति।।

हिन्दी अर्थ-

3. और भी, यदि सारे नाम आख्यातज हों तो, (एक वस्तु का) जितनी क्रियाओं (भावैः) के साथ सम्बन्ध हो, उन सब (क्रियाओं) के द्वारा उसका नामकरण होना चाहिये। इस प्रकार मानने पर (स्थूणा-थुनिया-छप्पर जिस पर रखा जाता है वह लकड़ी का) खम्भा (अथवा पशु बांधने का खूँटा 'दरे श्वभ्रे शेते इति दरशया' इस निर्वचन के अनुसार) 'दरशया' और ('सज्यतेऽस्यां वंशः पशुर्वा इति संजनी' इस निर्वचन के अनुसार उस पर छप्पर के बांस टिकते हैं अथवा पशु बांधे जाते हैं, इसलिए) 'संजनी' भी कहलाना चाहिये। (परन्तु ऐसा नहीं होता है, इसलिए ये शब्द आख्यातज नहीं हैं)।
4. इन (सब शब्दों) का जो (न्यायवान् अर्थात्) व्याकरण-सूत्रों के अनुसार प्राप्त एवं (कार्मनामिकः अर्थात्) क्रियानिमित्तक (कर्मणि निमित्ते सति नाम कर्मनाम तत्र भवः कार्मनामिकः) (संस्कारः प्रकृति-प्रत्यय के विभाग द्वारा सिद्ध) स्वरूप हो उस प्रकार से, और जिस प्रकार से ये स्पष्टार्थक हो सकें, उस प्रकार से इनको कहना चाहिये। (इस प्रकार क्रिया-निमित्तक संस्कार तथा अर्थ की स्पष्टता को ध्यान में रखकर तो) 'पुरुष' को 'पुरिशयः' यह कहना चाहिये (क्योंकि पुरुष शब्द को यौगिक मानने वाले 'पुरि शरीरे शेते इति पुरुषः' यह उसका निर्वचन करते हैं। इस निर्वचन के मूलभूत प्रकृति-प्रत्यय के विभाग और अर्थ की स्पष्टता की दृष्टि से

‘पुरिशयः’ प्रयोग ही उचित प्रतीत होता है। इसी प्रकार ‘अश्नुते अध्वानमिति अश्वः’ इस निर्वचन के आधार पर ‘अश्व’ को ‘अष्टा’ और ‘तृण’ को ‘तर्दन’ यह (कहना चाहिये)। परन्तु ऐसा नहीं होता है, इसलिए ये शब्द आख्यातज अर्थात् यौगिक नहीं, अपितु रूढ़ हैं।

5. (सारे नामों को ‘आख्यातज’ या यौगिक मानने वाले नैरुक्त तथा शाकटायन किसी अभिव्याहार अर्थात् नाम के प्रसिद्ध (लोक में प्रचलित) हो जाने के बाद (उसके निर्वचन के विषय में) विचार करते हैं (कि यह शब्द कैसे बना है) जैसे (‘पृथिवी’ शब्द के लोक में प्रसिद्ध हो जाने के बाद उसका निर्वचन इस प्रकार करते हैं कि) ‘प्रथनात् पृथिवी’ फैलायी गयी होने से पृथिवी है—यह (पृथिवी शब्द का निर्वचन) कहते हैं। (ऐसा निर्वचन करने वाले नैरुक्तों और शाकटायन से यह पूछना चाहिये कि) किसने इसको फैलाया और (जिस समय फैलानेवाला इसको फैला रहा था तो उस समय) किस आधार पर खड़ा (होकर वह पृथिवी को फैला रहा) था? (इसका कोई उत्तर नैरुक्त या शाकटायन नहीं दे सकते हैं। इसलिए पृथिवी शब्द का इस प्रकार का निर्वचन करना उचित नहीं है। पृथिवी-शब्द वास्तव में ‘आख्यातज’ या यौगिक नहीं, अपितु रूढ़ शब्द है। उसका कोई निर्वचन नहीं हो सकता है। अतः शाकटायन आदि का सब नामों को आख्यातज मानने वाला सिद्धान्त उचित नहीं है)।
6. (सारे नामों को ‘आख्यातज’ या यौगिक सिद्ध करने की धुन में) शाकटायन ने (शब्द के साथ) अर्थ का कोई सम्बन्ध न होने और (शब्द में ‘प्रदेश’ अर्थात् क्रिया से सम्बद्ध किसी विकार (अर्थात् रचना) के न होने पर अनेक शब्दों से अन्य पदों के आधे-आधे भागों की रचना की है। जैसे (‘सत्य’ शब्द को जब शाकटायन किसी धातु से सिद्ध न कर सके तो उन्होंने उसे ‘इण् गतौ’ और ‘अस् भुवि’ दो धातुओं से मिलाकर इस प्रकार बनाया है कि ‘इण् गतौ’ धातु के णिजन्त (कारित रूप आययति) में के यकारादि भाग को लेकर (सत्य शब्द के) अन्त में रख दिया और ‘अस् भुवि’ धातु के शुद्ध (अर्थात् णिजन्त के नहीं, अपितु शुद्ध रूप सत्) के सकारादि भाग को (पूर्व रखकर सत्य शब्द की सिद्धि की है और उसका निर्वचन ‘सन्तम् अर्थम् आपयति इति सत्यम्’ इस प्रकार से किया है। यह अत्यन्त अनुचित है। इस प्रकार एक शब्द के आधे-आधे भागों को भिन्न-भिन्न धातुओं से सिद्ध करने से यही सिद्ध होता है कि सारे नाम आख्यातज नहीं हो सकते हैं। शाकटायन आदि आग्रहवश सब नामों को आख्यातज सिद्ध करने की धुन में इस प्रकार का अनर्थ कर रहे हैं।
7. (शाकटायन आदि) क्रिया द्रव्यपूर्वक होती है (अर्थात् पहिले द्रव्य उत्पन्न होता है तब बाद को उसमें क्रिया (भाव) उत्पन्न होती है) यह मानते हैं। तब बाद में उत्पन्न हुई क्रिया से पहिले उत्पन्न हुए (द्रव्य) का नामकरण (प्रदिश्यते द्रव्यमनेन इति प्रदेशो नामकरणम्) करना उचित नहीं है (संगत नहीं होता है। इसलिए भी सारे नामों को आख्यातज अथवा यौगिक मानने वाला शाकटायन तथा नैरुक्तों का सिद्धान्त ठीक नहीं है)

(पूर्व पक्ष की युक्तियों का खण्डन)

तदेतन्नोपपद्यते

1. यथो हि नु वा एतत्। तद्यत्र स्वर-संस्कारौ समर्थौ प्रादेशिकेन गुणेन अन्वितौ स्याताम्। सर्व प्रादेशिकमित्येवं सत्यनुपालम्भ एष भवति।
2. यथो एतद् यः कश्च तत्कर्म कुर्यात् सर्वं तत् सत्त्वं तथाचक्षीरन् इति, पश्यामः समानकर्मणां नामधेयप्रतिलम्भमेकेषां नैकेषाम्। यथा तक्षा परिव्राजको जीवनो भूमिज इति।
3. एतेनैवोत्तरः प्रत्युक्तः।
4. यथो एतत् 'यथा चापि प्रतीतार्थानि स्युस्तथैनान्याचक्षीरन् इति, सन्त्यल्पप्रयोगाः कृतोऽप्येकपदिकाः। यथा व्रततिः, दमूना, जाट्यः, आट्णारः, जागरूकः, दविहोमी इति।
5. (अ) यथो एतत्—'निष्पन्नेऽभिव्याहारे योगपरीष्टिः।
(आ) "प्रथनात् पृथिवी" इत्याहुः, क एनामप्रथयिष्यत् किमाधारश्चेति। अथ वै दर्शनेन पृथुः, अप्रथिता चेदप्यन्यैः।
(इ) अथाप्येवं सर्व एव दृष्टप्रवादा उपालभ्यन्ते।
6. यथा एतत्—'पदेभ्यः पदेतराद्धान् संचस्कार' इति योऽनन्वितेऽर्थे संचस्कार स तेन गर्ह्य इति।
7. यथो एतत्—'अपरस्माद् भावात् पूर्वस्य प्रदेशो नोपपद्यते, इति। पश्यामः पूर्वोत्पन्नानां सत्त्वानाम् अपरस्माद् भावात् नामधेयप्रतिलम्भमेकेषां न एकेषाम्। यथा बिल्वादो लम्बचूडक इति। बिल्वं भरणाद् वा भेदनाद् वा।।

हिन्दी अर्थ— यह जो पूर्व पक्ष में कहा गया है, वह ठीक नहीं है।

1. सबसे पहिले जो यह कहा है कि—'जहां जहां (उदात्त आदि) स्वर और प्रकृति-प्रत्यय का विभाग (रूप संस्कार) अर्थ के अनुकूल (समर्थ) और क्रिया सम्बन्धी गुण से युक्त होते हैं। (वे नाम आख्यातज माने ही जाते हैं) (हमारे मत में) सारे (ही नाम) क्रिया-सम्बन्धी गुणों से युक्त (व्याकरण-नियमों के अनुसार) हैं, ऐसा कहने पर यह दोष नहीं बनता है।
2. और जो यह कहा है कि—'जो कोई उस कार्य को करेगा, उन सब पदार्थों को उस नाम से कहा जायगा' (उसका उत्तर यह है कि जिन नामों को आप आख्यातज मानते हैं, उनमें ही यह नियम लागू नहीं होता है तब अन्यो में उसकी लागू करने का प्रश्न आप कैसे उठा सकते हैं। क्योंकि (समान कार्य करने वालों में भी किन्हीं को) उस (क्रिया के आधार पर) नाम की प्राप्ति होती है और किन्हीं को नहीं। जैसे तक्षा (नाम आख्यातज है। पर प्रत्येक तक्षण क्रिया का करने वाला तक्षा नहीं कहलाता है, केवल बढ़ई ही तक्षा कहलाता है। इसी प्रकार) परिव्राजक (संन्यासी), जीवन (जल) और भूमिज (मंगल-ग्रह या वृक्ष) ही उन नामों से कहे जाते हैं।)

3. इसी (दूसरी युक्ति के खण्डन में दिखलायी हुई प्रक्रिया) से अगली (युक्ति) का भी खण्डन हो जाता है।
4. और जो यह कहा था कि—(जिस प्रकार से इन शब्दों का अर्थ स्पष्ट हो जाय, इस प्रकार से इनको कहना चाहिये।) (उसका उत्तर यह है कि कम प्रयुक्त होने वाले कुछ) प्रकृति-प्रत्यय के विभाग से युक्त, कृदन्त भी (एकपदिक से अर्थात्) प्रकृति-प्रत्यय के विभाग से रहित—से (अस्पष्टार्थक) पाये जाते हैं। जैसे व्रतति: (लता), दमूना, (अतिथि या अग्नि), जाट्य: (जटिल), आट्णार: (अटनशील), जागरूक और (दर्व्या जुहोतीति) दर्विहोमी (चम्मच से हवन करने वाला) आदि शब्द कृदन्त पद हैं। उनमें प्रकृति-प्रत्यय का विभाग है, परन्तु उनका अर्थ स्पष्ट नहीं होता है)।
5. (अ)—जो यह कहा है कि शब्दों के प्रसिद्ध हो जाने के बाद उनके निर्वचन के विषय में विचार करते हैं (सा यह तो कोई दोष नहीं है, क्योंकि सब ही शब्दों में) शब्दों के प्रसिद्ध हो जाने पर ही ('योग (अर्थात् उसके) अवयवार्थ का ('परीष्टि: अर्थात्) परीक्षा की जाती है।' (अर्थात् लोक-व्यवहार में प्रचलित हो जाने पर ही उनके अर्थ की परीक्षा आदि की जाती है। पहिले नहीं। इसलिए यह कोई दोष नहीं है।)
- (आ) इस शंका का दूसरा भाग यह है कि—और जो यह कहा है कि फैलायी हुई होने से पृथिवी (कहलाती) है, ऐसा (सब शब्दों को आख्यातज मानने वाले) कहते हैं। तो किसने इसको फैलाया और कहां खड़ा होकर (फैलाया)? (इस शंका का उत्तर देते हैं कि) वह देखने से फैली हुई (प्रतीत होती है यदि किसी और ने नहीं फैलायी है (तो भी 'प्रथनात् पृथिवी' यह उसका निर्वचन किया जा सकता है)।
- (इ) (किसने फैलायी? आदि इस प्रकार के आक्षेप यदि किये जाने लगे तो फिर इस प्रकार तो) सभी प्रत्यक्ष वचनों का बोध हो जायेगा।
6. और जो यह कहा कि—(भिन्न-भिन्न) पदों से (सत्य आदि) पदों के आधे-आधे भागों को (शाकटायन ने) बनाया है। (इसका उत्तर यह है कि) जिसने (इस प्रकार अनुचित ढंग से शब्दों को) बनाया है, उससे उस व्यक्ति को दोष मिलना चाहिये। क्योंकि यह तो पुरुष का दोष है शास्त्र का दोष नहीं है।
7. जो यह कहा है कि—'बाद को उत्पन्न होने वाली क्रिया से पहिले उत्पन्न हुए (द्रव्य) का नामकरण उचित नहीं है। (इसका उत्तर यह है कि) कहीं पहिले उत्पन्न हुए पदार्थों का भी बाद में उत्पन्न होने वाली क्रिया से नामकरण देखा जाता है, और कहीं नहीं देखा जाता है। जैसे 'बित्वाद' और 'लम्बचूड़'। (आदि में बित्वभक्षण और लम्बी चूड़ा की उत्पत्ति बाद की होती है परन्तु उनके आधार पर इन नामों का प्रयोग जन्म से ही होने लगता है)।

(उत्तर पक्ष का सार—)

अर्थात् पूर्वपक्षी जो यह कहता है कि जिन शब्दों में प्रादेशिक गुण (प्रकृति प्रत्यय का विभाग) पाया जाता है, वे आख्यातज हैं—शेष नहीं। इसके सम्बन्ध में शाकटायन आदि का उत्तर यह है कि सभी नामों में प्रकृति-प्रत्यय का विभाग रूप प्रादेशिक गुण पाया जाता है, इसलिए आपने जो दो भागों में शब्दों का विभाजन करने का यत्न किया है, वह उचित नहीं है।

पूर्व-पक्ष की दूसरी और तीसरी युक्तियां समान न्याय पर आश्रित हैं। इसलिए उनका खण्डन भी एक ही न्याय से हो जाता है। पूर्व-पक्ष की दूसरी युक्ति का सारांश यह था कि यदि सब नामों को 'आख्यातज' माना जाय तो जो कोई उस काम को करेगा, उन सबका उस नाम से व्यवहार होगा। अर्थात् एक नाम अनेक व्यक्तियों के लिए प्रयुक्त होगा। इसके विपरीत तीसरी युक्ति का सार यह था कि जिस पदार्थ में जितनी क्रियाएं पायी जावेंगी, उन सबके आधार पर उस एक व्यक्ति के अनेक नाम होंगे। इन दोनों के खण्डन के लिए सिद्धान्त-पक्ष की ओर से एक ही युक्ति दी गयी है कि जिन नामों को आप 'आख्यातज' मानते हैं उनमें ही यह नियम लागू नहीं होता है। परिव्रजन क्रिया सब ही करते हैं, किन्तु सबको 'परिव्राजक' नहीं कहा जाता है केवल संन्यासी को ही परिव्राजक कहते हैं। इसी प्रकार जिन शब्दों को आप आख्यातज नहीं मानते हैं, उनको भी यदि 'आख्यातज' मान लिया जाये तो भी एक क्रिया के आधार पर अनेक व्यक्तियों का एक नाम नहीं होगा और न जिस पदार्थ में जो-जो क्रिया पायी जाती है, उस-उसके आधार पर उस एक व्यक्ति के अनेक नाम होंगे। इसलिए पूर्वपक्षी द्वारा प्रस्तुत की गयी दूसरी तथा तीसरी युक्तियों का खण्डन एक ही युक्ति से हो गया, यह 'एतेनैवोत्तरः प्रयुक्तः' इस वाक्य का आशय है।

जो यह कहा था कि जिस प्रकार से शब्दों का अर्थ स्पष्ट हो जाये उस प्रकार से इनको कहना चाहिये। 'पुरुष' को 'पुरिशयः', अश्व को 'अष्टा' कहना चाहिये। इस युक्ति का उत्तर यह है कि आप जिन कृदन्त पदों में प्रकृति-प्रत्यय का विभाग मानते हैं, उनमें अभी कुछ ऐसे शब्द हैं जो प्रतीतार्थक नहीं। 'कारकः' 'हारकः' आदि के समान सुनते ही उनका अर्थ प्रतीत नहीं होता है। इसी प्रकार जिन शब्दों को आप 'आख्यातज' नहीं मानते, परन्तु हम 'आख्यातज' मानते हैं, वे यदि स्पष्टार्थ नहीं हैं तो कोई दोष नहीं है। उससे उनके आख्यातजत्व का खण्डन उसी प्रकार नहीं हो सकता, जैसे आपके अस्पष्टार्थक कृदन्त पदों के प्रकृति-प्रत्यय के विभाग का खण्डन नहीं होता है। इस प्रकार के शब्दों के उदाहरण देते हुए खण्डन करते हैं—'यथो एतत्' इत्यादि।

ये सब कृदन्त पद हैं जिनमें प्रकृति-प्रत्यय का विभाग है। व्रतति शब्द प्र उपसर्ग-पूर्वक 'तनु विस्तारे' धातु से 'क्तिच्त्तौ च संज्ञायाम्' (अष्टा. 3-3-174) सूत्र से क्तिच्-प्रत्यय करके और 'पृषोदरादीनि यथोपदिष्टम्' (अष्टा. 6-3-109) सूत्र से 'प्र' के स्थान पर 'व्र' होकर बनता है। 'दमूना' पद

‘दमु उपक्षये’ धातु से ‘दमेरुनसिः’ (‘उणादि 4-674) सूत्र से ऊनसि-प्रत्यय होकर बनता है। ‘जाट्यः’ पद ‘जटा’ शब्द से ‘रूपादाहतप्रशंसयोर्यप्’ (अ. 5-2-120) इस सूत्र पर के ‘अन्यभ्योऽपि दृश्यते’ इस वार्तिक से मतुबर्थ में यप् प्रत्यय और फिर स्वार्थ में अण्-प्रत्यय होकर ‘जट्य एवं जाट्यः’ यह बनता है। ‘आट्णारः’ अटन-शब्दों से शील अर्थ में औणादिक आरक-प्रत्यय होकर बनता है। जागरूक शब्द जागृ-धातु से ‘जागर्तेरूकः’ (अष्टा. 3-2-165) सूत्र से सिद्ध होता है। इस प्रकार ये सब कृदन्त शब्द हैं, परन्तु स्पष्टार्थक नहीं हैं। इसीलिए निरुक्त में भी उनकी गणना नैगम-काण्ड में एकपदिकों में की गयी है। और उनके अर्थों की व्याख्या करने की आवश्यकता पड़ी है। तब ‘पुरुषः’ आदि पदों को ‘पुरिशयः’ आदि प्रतीतार्थक रूप में पढ़े जाने का प्रश्न उठाना उचित नहीं है, यह इसका अभिप्राय है।

पक्ष में जो पांचवीं युक्ति दी गई थी, उसका दो भागों में विश्लेषण करके उत्तर दिया गया है। अभी इसी के उत्तर में एक बात और कहते हैं—‘प्रथनात्’ इत्यादि।

अर्थात् इस युक्ति से तो यह कहना भी कठिन है कि देवदत्त विष्णुमित्र का पुत्र है। क्योंकि उसे विष्णुमित्र से उत्पन्न होते किसने देखा है? यह इस कथन का अभिप्राय है।

पूर्वपक्ष की अगली छठी युक्ति का उत्तर आगे देते हैं—‘यथो एतत्’ इत्यादि।

पूर्वपक्ष में सातवीं युक्ति यह दी गयी थी कि द्रव्य पहिले उत्पन्न होता है और क्रिया बाद को उत्पन्न होती है। इस दशा में बाद को उत्पन्न होने वाली क्रिया के आधार पर पूर्वोत्पन्न द्रव्य का नामकरण उचित नहीं है। इसलिए सब शब्दों को आख्यातज नहीं मानना चाहिये। इस शंका का उत्तर ग्रंथकार अगले अनुच्छेद में देते हैं। उसका आशय यह है कि इस प्रकार का व्यवहार हम लोक में भी देखते हैं कि बाद में उत्पन्न होने वाली क्रिया के आधार पर पूर्व उत्पन्न हुए पदार्थ का नामकरण किया जाता है। इसके दो उदाहरण ‘बिल्वाद’ और ‘लम्बचूड़क’ यहां दिये गये हैं। इन शब्दों का अर्थ पूर्वटीकाकारों ने स्पष्ट रूप से नहीं किया है। वे किन्हीं प्राणियों के नाम प्रतीत होते हैं। ‘बिल्वाद’ कदाचित् बेल का नाम है, क्योंकि वह बेल के फल को रुचि से खाता है। और लम्बचूड़ का सम्बन्ध कदाचित् मयूर के वाचक शिखी शब्द से है। स्कन्दस्वामी ने इन दोनों पदों को पुरुषविशेष का विशेषण माना है। पर वह उचित प्रतीत नहीं होता है, क्योंकि ये विशेषण जन्म से पुरुष के साथ जुड़े हुए नहीं होते हैं। क्रिया के बाद ही जुड़ते हैं। इसी बात को ग्रंथकार कहते हैं— ‘यथो एतत्’ इत्यादि।

इस प्रकार सब नामों को आख्यातज मानने के विरोध में जो सात युक्तियां गार्ग्य-पक्ष की ओर से दी गई थीं, उन सबका निराकरण हो जाने से सब नामों को आख्यातज मानने वाला नैरुक्त पक्ष तथा शाकटायन का मत सम्पुष्ट हो जाता है।

4.5.2.6 निरुक्त से मंत्रार्थ ज्ञान

अथापीदमन्तेरण मन्त्रेष्वर्थप्रत्ययो न विद्यते। अर्थमप्रतियतो नात्यन्तं स्वर-संस्कारोद्देशः। तदिदं विद्यास्थानं व्याकरणस्य कात्स्न्यं स्वार्थसाधकं च।

(हिन्दी अर्थ)– और इस (निरुक्त) के बिना मंत्रों में अर्थों का ज्ञान नहीं हो सकता है। अर्थ के जाने बिना (पदों के) स्वर तथा संस्कार (प्रकृति-प्रत्यय का विभाग आदि) का निरूपण नहीं हो सकता है। (क्योंकि स्वर-संस्कारादि सब अर्थों के ऊपर निर्भर होता है। अर्थ के अनुसार उसकी व्यवस्था होती है)। इसलिए यह (निरुक्त) शास्त्र (विद्यास्थान) व्याकरण का पूरक भी है (क्योंकि मन्त्रार्थ के परिज्ञान द्वारा स्वर-संस्कार के विधान में व्याकरण की सहायता करता है) और अपने (निर्वचन रूप) अर्थ का साधक भी है।

4.5.2.7 मंत्रों की सार्थकता (पूर्वपक्ष व उत्तरपक्ष)

(पूर्वपक्ष-)

यदि मन्त्रार्थप्रत्ययायानर्थकं भवतीति कौत्सः। अनर्थका हि मन्त्राः। तदेतेनोपेक्षितव्यम्।

1.नियतवाचोयुक्तयो नियतानुपूर्व्या भवन्ति।

2.अथापि ब्राह्मणेन रूपसम्पन्ना विधीयन्ते। 'उरु प्रथस्व इति प्रथयति', 'प्रोहामि इति प्रोहति।'।

3.अथाप्यनुपपन्नार्था भवन्ति। 'ओषधे त्रायस्वैनम्' 'स्वधिते मैनं हिंसीः' इत्याह हिंसन्।

4.अथापि विप्रतिषिद्धार्था भवन्ति।

अ- 'एक एव रुद्रो अवतस्थे न द्वितीयः'। 'असंख्याताः सहस्राणि ये रुद्रा अधिभूम्याम्।'।

आ-अशत्रुरिन्द्र जज्ञिषे। 'शतं सेना अजयत् साकमिन्द्रः इति।

इ- अथापि जानन्तं सम्प्रेष्यति 'अग्नये समिध्यमानाय अनुब्रूहि' इति।

ई- अथाप्याह 'अदितिः सर्वम्' इति। 'अदितिर्द्यौः अदितिरन्तरिक्षम्' इति। तदुपरिष्ठाद् व्याख्यास्यामः।

5.अथाप्यविस्पष्टार्था भवन्ति। अभ्यग्, यादृश्मिन्, जारयायि, काणुका इति।

(हिन्दी अर्थ)– यदि मंत्रों के अर्थ का बोध कराने के लिए (ही निरुक्त बनाया गया) है तो यह व्यर्थ है, यह कौत्स का मत है। क्योंकि मंत्रों का कोई अर्थ नहीं होता है। यह बात निम्न युक्तियों से समझनी चाहिये। कौत्स के मत से मंत्रों के आनर्थक्य की युक्तियां—

1.(मंत्र) निश्चित शब्दों की योजना से युक्त होते हैं और (उन निश्चित शब्दों की आनुपूर्वी अर्थात्) क्रम भी नियत होता है।

2.और ब्राह्मण (ग्रंथ) के द्वारा ('मंत्र रूपसम्पन्न' अर्थात् लिंग-युक्त होने पर भी 'ब्राह्मणेन विधीयन्ते' ब्राह्मण के द्वारा उस कर्म में विनियुक्त किये जाते हैं)। जैसे—'उरु प्रथस्व (यजु. 1-22) इससे (पुरोडाश को) फैलाता है' (इस प्रकार पुरोडाश के फैलाने में शतपथ 6-8 ब्राह्मण द्वारा विनियुक्त किया गया है, और 'प्रोहामि' इत्यादि (मंत्र यजु. 2-15) से (पुरोडाश को पूर्व की ओर) प्रेरित करता है।

3. और (यदि मन्त्रों को सार्थक माना जाय तो वे) असंगत अर्थ वाले होते हैं (यह कहना चाहिये) जैसे 'हे ओषधि, तू इसकी रक्षा कर 'हे कुठार! तू इसको मत मार (मत काट)' यह काटते हुए भी (इस मंत्र के द्वारा) कहा गया है।

4. और (यदि मन्त्रों को सार्थक माना जाय तो वे) परस्पर विरुद्ध अर्थों को कहने वाले (ठहरते) हैं। (जैसे-तैत्तिरीयसंहिता 1-8-6-1 में) 'एक ही रुद्र स्थित है, दूसरा नहीं।' (इसमें द्वितीय रहित केवल एक रुद्र की सत्ता का प्रतिपादन किया गया है। परन्तु दूसरी जगह वाजसनेय संहिता 16-54 में) 'इस पृथिवी पर असंख्य सहस्रों रुद्र हैं' (इस प्रकार असंख्य रुद्रों की सत्ता का प्रतिपादन किया गया है। ये दोनों मंत्र यदि अर्थवान् माने जावें तो परस्पर-विरुद्ध अर्थ के प्रतिपादक ठहरते हैं। इसलिए वे सार्थक नहीं, अपितु अनर्थक हैं।)

आ-(इसी प्रकार ऋ. 10-133-2) इन्द्र का कोई शत्रु नहीं है (यह कहा गया है। इसके विपरीत ऋ. 10-10-103-1 में) इन्द्र ने एक साथ सैंकड़ों सेनाओं को विजय किया, यह (कहा गया है)। (ये दोनों बातें परस्पर विरुद्ध हैं)।

इ- और जानने वाले (होता) को (अध्वर्यु) प्रेरणा करता है कि 'प्रदीप्त होने वाले अग्नि की स्तुति के लिए (अनुवाक्या मन्त्रों को) पढ़ो'।

और यह भी कहा है कि अदिति (ही) सब कुछ है। (इसके समर्थन के लिए (ऋ. 1-89-10) मंत्र का भाग उद्धृत करते हैं जैसे कि) अदिति द्यौ है, अदिति ही अन्तरिक्ष है।' इस ('अदितिर्द्यौः अदितिरन्तरिक्षम्' इत्यादि मंत्र) की व्याख्या हम आगे (चतुर्थाध्याय के चतुर्थ पाद में) करेंगे।

5. (यदि मन्त्रों को सार्थक माना जाय तो बहुत से मंत्र ऐसे हैं जो) अविस्पष्ट अर्थ वाले होते हैं। जैसे अम्यक्, यादृश्मिन्, जारयायि, काणुका (ये शब्द मन्त्रों में आते हैं। इन शब्दों का अर्थ ही स्पष्ट नहीं है। इसलिए जिन मन्त्रों में ये शब्द आये हैं, वे मंत्र भी अस्पष्ट अर्थ वाले हैं)।

(विशेष स्पष्टीकरण-)

पूर्वपक्ष की ओर से पहली युक्ति दी गई है कि लौकिक-वाक्य जो सार्थक होते हैं, उनमें न तो शब्द निश्चित होते हैं और न क्रम ही निश्चित होता है। हम 'उदकम् आनय' भी कह सकते हैं और उसके स्थान पर 'जलमाहर', 'तोयमानय' आदि वाक्य भी बोल सकते हैं। इसलिए सार्थक वाक्यों में पदों के निश्चित होने का नियम नहीं होता है। इसी प्रकार 'जलम् आनय' के स्थान पर क्रम को बदल कर 'आनय जलम्' इस प्रकार भी बोला जा सकता है। पर 'अग्निमीले पुरोहितम्' आदि वैदिक मन्त्रों में न तो 'अग्निमीले' शब्दों को बदलकर 'वह्निं स्तौमि' बोला जा सकता है और न उनके क्रम (आनुपूर्वीरूप) को बदलकर 'ईले अग्निम्' ही बोला जा सकता है। 'अग्निमीले पुरोहितम्' इन्हीं शब्दों को इसी क्रम से बोलना अनिवार्य है। इससे यह प्रतीत होता है कि इन शब्दों का कोई अर्थ नहीं है, अपितु केवल उनके

उच्चारणमात्र से कुछ अपूर्व फल उत्पन्न होता है। यह मंत्रों के आनर्थक्य की सिद्धि के लिए प्रथम युक्ति कौत्स की ओर से दी गई है। अन्य युक्तियां आगे देते हैं।

इसका अभिप्राय यह है कि 'उरु प्रथस्व' इत्यादि 'उरुप्रथा उरु प्रथस्वो रु ते यज्ञपतिः प्रथताम्' इत्यादि (यजु. 1-22) मंत्र से यह टुकड़ा लिया गया है। यजु. 1-22 मंत्र का विनियोग शतपथ ब्राह्मण ने पुरोडाश के फैलाने के कार्य में करते हुए 'उरु प्रथस्व' पदों को पढ़ते ही यह विदित हो जाना चाहिये था कि इसको पढ़कर पुरोडाश का प्रथन करना-फैलाना-है। उस दशा में ब्राह्मण को 'इति प्रथयति' यह लिखने की आवश्यकता न होती। परन्तु ब्राह्मण में 'इति प्रथयति' यह लिखा गया है इससे यह प्रतीत होता है कि ब्राह्मण ग्रंथ की दृष्टि में मन्त्र में इस अर्थ का बोध कराने की सामर्थ्य नहीं है। क्योंकि मंत्र अनर्थक है। इसीलिए ब्राह्मण ने उसको 'रूपसम्पन्न' किया है, उसका विनियोग किया है। अतः मंत्र अनर्थक ही हैं।

दूसरा 'प्रोहामि इति प्रोहति' वाला टुकड़ा यजुर्वेद के द्वितीयाध्याय के 15वें मंत्र में से लिया गया है। पूरा मंत्र निम्न प्रकार है-

“अग्नीषोमयोरुज्जितिमनूज्जेषं वाजस्य मा प्रसवेन प्रोहामि।

अग्नीषोमौ तमपनुदतां योऽस्मान् द्वेष्टि यं च वयं द्विष्मो वाजस्यैनं प्रसवेनापोहामि।

इन्द्राग्न्योरुज्जितिमनूज्जेषं वाजस्य मा प्रसवेन प्रोहामि।

इन्द्राग्नी तमपनुदतां योऽस्मान् द्वेष्टि यं च वयं द्विष्मो वाजस्यैनं प्रसवेनापोहामि।।

इस मंत्र में 'प्रोहामि' पद (यजु. 2-15) दो जगह आया है। उसका अर्थ प्रेरित करना है। इस मंत्र को पढ़कर यज्ञीय पुरोडाश को पूर्व की ओर सरकाने या फैलाने का विधान शतपथब्राह्मण में किया गया है। इसका अर्थ है-इस मंत्र में 'प्रोहामि' पद आता, उसको पढ़कर पुरोडाश को पूर्व की ओर प्रेरित करें। ब्राह्मण ग्रंथ का यह विनियोग इस बात को सूचित करता है कि इस मंत्र का अपना कोई अर्थ नहीं है। यदि मंत्र का अर्थ होता तो उसके 'प्रोहामि' आदि पदों को पढ़कर स्वयं ही प्रोहनक्रिया करने की प्रेरणा मिलती और ब्राह्मण ग्रंथ को 'इति प्रोहति' लिखने की आवश्यकता नहीं होती। अतः मंत्र अनर्थक हैं, यह कौत्स की इस दूसरी युक्ति का अभिप्राय है।

मंत्रों को अनर्थक सिद्ध करने के लिए कौत्स की तीसरी युक्ति निम्न प्रकार है।

यज्ञ में स्थापित किये जाने वाले यूप के निर्माणार्थ वृक्ष को काटने की क्रिया में इन (यजु. 4-1। 6-15) मंत्रों का विनियोग किया गया है। वृक्ष के ऊपर कुश रखकर कुठार द्वारा उसको काटा जाता है। उस समय कुश को सम्बोधन करके 'ओषधे त्रायस्व' इस प्रकार वृक्ष की रक्षा की प्रार्थना की जाती है। और कुठार से काटते समय 'स्वधिते मैनं हिंसीः' इस प्रकार हिंसा न करने अर्थात् वृक्ष को न काटने की प्रार्थना की जाती है। यदि इन मंत्रों को सार्थक माना जाय तो जब इनको पढ़कर वृक्ष को काटा जा रहा

है, उस समय 'ओषधे भायस्व' और 'स्वधिते मेनं हिंसीः' इस प्रकार की प्रार्थनाएं बिल्कुल असंगत हो जाती हैं। इसलिए यह सिद्ध होता है कि मंत्रों का वास्तव में कोई अर्थ नहीं है। उस समय इन मंत्रों के पाठ अथवा उच्चारण—मात्र से ही फल होता है। उसके साथ अर्थ का कोई सम्बन्ध नहीं है।

मंत्रों के आनर्थक्य की सिद्धि के लिए कौत्स चौथी युक्ति निम्न प्रकार से प्रस्तुत करते हैं—'अथापि' इत्यादि।

यदि मंत्रों को सार्थक माना जाय तो इन परस्पर—विपरीत बातों की कोई संगति नहीं लगती है। अतएव मंत्रों को अनर्थक मानना ही उचित है। यह कौत्स का अभिप्राय है।

अपने मत के समर्थन के लिए कौत्स की ओर से पांचवीं युक्ति निम्न प्रकार से प्रस्तुत की गई है—'अथापि जानन्तम्' इत्यादि।

'अग्नये समिध्यमानाय अनुब्रूहि' यह यजुर्वेद तैत्तिरीयसंहिता 6-3-7-1 का वचन है। उसमें अध्वर्यु की ओर से होता को यह प्रेरणा दी जा रही है कि अग्नि के भली प्रकार प्रदीप्त हो जाने पर 'अनुवाक्या' मंत्रों का उच्चारण करो। होता तो स्वयं वेद का और अपने कर्तव्य का ज्ञाता है। उसको इस प्रकार की प्रेरणा करने की आवश्यकता नहीं है। इसलिए प्रतीत होता है कि यह मंत्र का अर्थ नहीं है। मंत्र अनर्थक है। उसके उच्चारणमात्र से यहां फल होता है। यह 'विप्रतिषिद्धार्था भवन्ति' इस चतुर्थ युक्ति के स्पष्टीकरण में तीसरा उदाहरण है। उसी के प्रसंग में चौथा उदाहरण आगे देते हैं—'अथाप्याह' इत्यादि।

यह भी मंत्रों के विप्रतिषिद्धार्थ अर्थात् परस्पर—विपरीत अर्थों के प्रतिपादक होने का एक उदाहरण है। एक ही वस्तु माता भी बन जाय, पिता भी बन जाय, यह नहीं हो सकता है। अदितिको ही द्यौ और अन्तरिक्ष दोनों बतलाना इसी प्रकार का विरुद्ध कथन है। यदि इन मंत्रों को सार्थक माना जाय तो उनमें विरुद्ध अर्थ का प्रतिपादन मानना होगा, जो कि उचित नहीं है। इसलिए मंत्र अनर्थक ही मानने चाहिए। यह कौत्स का अभिप्राय है।

मंत्रों की अनर्थकता सिद्ध करने के लिए छठी युक्ति यह देते हैं—'अथाप्य०' इत्यादि।

इन चारों शब्दों का प्रयोग निम्न मंत्रों में हुआ है—

अम्यक् (ऋ. 1-169-3) अम्यक् सा त इन्द्र ऋष्टिः।

यादृश्मिन् (ऋ. 5-44-8) यादृश्मिन् धायि तमपस्यया विदत्।

जारयायि (ऋ. 6-12-4) पितेव जारयायि यज्ञैः।

काणुका (ऋ. 8-77-4) इन्द्रः सोमस्य काणुका।

इन युक्तियों से सिद्ध होता है कि मंत्र अनर्थक हैं। यह कौत्स का मत है।

(उत्तरपक्ष की प्रस्तुति)

(मंत्रों की सार्थकता का सिद्धान्त पक्ष—)

अर्थवन्तः शब्दसामान्यात्। 'एतद्वै यज्ञस्य समृद्धं यद्रूप-समृद्धं यत्कर्म क्रियमाणम् ऋग् यजुर्वा अभिवदति' इति च ब्राह्मणम्। 'क्रीडन्तौ पुत्रैर्नप्तृभिः' इति।

1. यथो एतत्—'नियतवाचोयुक्तयो नियतानुपूर्व्या भवन्ति' इति। लौकिकेष्वप्येतत्। यथा—'इन्द्राग्नी' 'पिता-पुत्रौ' इति।
2. यथो एतत्—'ब्राह्मणेन रूपसम्पन्ना विधीयन्ते' इति। उदितानुवादः स भवति।
3. यथो एतत्—'अनुपपन्नार्था भवन्ति' इति। आम्नायवचनादहिंसा प्रतीयेत।
4. यथो एतत्—'विप्रतिषिद्धार्था भवन्ति' इति। लौकिकेष्वप्येतत्। यथा 'असपत्नोऽयं ब्राह्मणः', 'अनमित्रोऽयं राजा' इति।
5. यथो एतत्—'जानन्तं सम्प्रेष्यति' इति। जानन्तमभिवादयते, जानते मधुपर्कं प्राह इति।
6. यथो एतत्—'अदितिः सर्वम्' इति। लौकिकेष्वप्येतत्। यथा—'सर्वरसा अनुप्राप्ता पानीयम्' इति।
7. यथो एतत्—'अविस्पष्टार्था भवन्ति' इति। नैष स्थाणोरपराधो यदेनमन्धो न पश्यति। पुरुषापराधः स भवति।

(हिन्दी अर्थ)—(लौकिक) शब्दों की समानता के कारण मंत्र अर्थवान् हैं। और (मंत्रों की सार्थकता का सूचन करते हुए) यह ब्राह्मण (—वाक्य) भी मिलता है कि—'यज्ञ की यही विशेषता (समृद्धि) है कि जिस रूप से युक्त जो कर्म किया जाता है उसी का (उस यज्ञ में पढ़े जानेवाले) ऋग्वेद और यजुर्वेद (के मन्त्र) भी प्रतिपादन करते हैं'। जैसे (सन्तानोत्पत्ति के लिए किये जाने वाले विवाह के अवसर पर पढ़े जाने वाले मंत्रों में वर-वधू को यह आशीर्वाद दिया जाता है कि—) 'तुम दोनों पुत्र-पौत्रों के साथ आनन्द करते हुए' (अपने गृहस्थ-जीवन को व्यतीत करो)। (ऋ. 10-85-42)

1. जो यह (कौत्स ने कहा था कि—मंत्रों में) शब्दों की योजना निश्चित (अपरिवर्तनीय) और उनका क्रम भी नियत (अपरिवर्तनीय) होता है (इसलिए मंत्र अनर्थक हैं) यह (युक्ति ठीक नहीं है। क्योंकि) लौकिक (वाक्यों) में यह बात (अर्थात् पदों और उनके क्रम की अपरिवर्तनीयता) पायी जाती है। जैसे 'इन्द्राग्नी' और 'पिता-पुत्रौ' ये (लौकिक प्रयोग हैं। इनमें 'इन्द्राग्नी' के स्थान पर अग्नीन्द्रौ और 'पिता-पुत्रौ' के स्थान पर पुत्र-पितरौ प्रयोग नहीं होता हैं)।
2. और जो यह कहा है कि —'ब्राह्मण के द्वारा (मंत्र रूप-सम्पन्न अर्थात्) कार्य में विनियुक्त किये जाते हैं (इसलिए मंत्रों का अपना अर्थ नहीं होता है। इसका उत्तर (यह है कि ब्राह्मण द्वारा जो मंत्र का विनियोग हैं) वह कहे हुए अर्थ का अनुवाद है।

3. और जो यह कहा है कि—(मंत्रों को यदि सार्थक माना जाय तो वे) असंगत अर्थवाले ठहरते हैं सो वहां वेद के कथन से अहिंसा की प्रतीति होती है।
4. और जो यह कहा है कि —(बहुत से मंत्र) परस्पर विरुद्ध अर्थ को कहने वाले होते हैं (जैसे कहीं रुद्र को एक ही बतलाया है और कहीं असंख्य। इसका उत्तर यह है कि) लोक में भी यह (अर्थात् इस प्रकार का प्रयोग) पाया जाता है। जैसे—‘इस ब्राह्मण का कोई शत्रु नहीं है’, यह (युधिष्ठिर आदि) राजा ‘अजातशत्रु’ है।
5. और जो यह कहा है—‘जानते हुए को प्रेरणा करता है। (इससे मंत्र अनर्थक हैं। इसका उत्तर यह है कि लोक में भी) जानते हुए (गुरु) को (शिष्य आदि अपना नाम उच्चारण करके ‘अभिवादयेऽहं देवदत्तः’ इत्यादि रूप से) अभिवादन करता है और जानते हुए को मधुपर्क प्रस्तुत करता है।
6. और जो यह कहा है कि—‘अदितिः सर्वम्’ अदिति ही सब कुछ द्यौ, अन्तरिक्ष आदि है (सो एक वस्तु अनेकरूप कैसे हो सकती है। इसलिए मंत्र अनर्थक हैं। इसका उत्तर यह है कि (लौकिकेषु) लौकिक प्रयोगों में भी यह होता है। जैसे—‘पानी में सारे रस आ गये हैं’।
7. और जो यह कहा कि—(बहुत से मंत्रों के अर्थ स्पष्ट नहीं होते हैं) जैसे (अम्यक्, जारयायि, काणुका) आदि शब्द जिन मंत्रों में आये हैं उनका अर्थ स्पष्ट नहीं है। इसका उत्तर यह है कि—यह स्थाणु (वृक्ष के टूठ) का तो दोष नहीं है कि जो अन्धा उसको देख नहीं पाता है। यह तो पुरुष का दोष है।

(सिद्धान्त पक्ष का सार—)

सबसे प्रथम सिद्धान्त उपस्थापित किया गया कि वैदिक शब्द लौकिक शब्दों की तरह ही अर्थवान् हैं। युक्तियां इस प्रकार हैं—

वैदिक मंत्र में, जो विवाह के समय पुत्र-पौत्रादि युक्त होने का आशीर्वाद-परक है, शब्दों की सार्थकता सिद्ध होती है। पूरा मंत्र इस प्रकार है—

इहैव स्तं मा वियौ ष्टं विश्वमायुर्व्यश्नुतम्।

क्रीडन्तौ पुत्रैर्नप्तृभिर्मोदमानौ स्वे गृहे॥ (ऋ. 10-85-42)

इसमें, सन्तानोत्पादन—हेतु विवाह करने का निरूपण है, अतः वैदिक शब्द सार्थक हैं।

इस प्रकार अपने सिद्धान्त पक्ष की स्थापना के लिए ग्रंथकार ने ‘शब्दसामान्यात्’ रूप एक युक्ति और एक ब्राह्मण-वाक्य प्रमाण के रूप में उपस्थित किया है। युक्ति का आशय यह है कि जैसे लोक में अग्नि आदि शब्द प्रयुक्त होते हैं वैसे ही, अग्नि आदि शब्द वेद में भी प्रयुक्त होते हैं। तब वे लोक में तो सार्थक हों और वेद में अनर्थक हो जायें— यह तो नहीं हो सकता है। जैसे लोक में अग्नि आदि शब्द सार्थक हैं, इसी प्रकार वेद में भी उनको सार्थक मानना होगा। इसलिए मंत्र भी लौकिक वाक्यों के समान

सार्थक ही हैं। इस युक्ति द्वारा मंत्रों की सार्थकता को सिद्ध करके उसके समर्थन के लिए ऐतरेय ब्राह्मण (1-4, 1-13, 1-16, 1-17) तथा गोपथब्राह्मण (2-6, 4-2) आदि अनेक स्थानों पर आये हुए अतएव प्रबल एवं असन्दिग्ध रूप से मंत्रों की सार्थकता को सिद्ध करने वाले ब्राह्मण-वचन उद्धृत किये गये हैं। इस प्रकार युक्ति और प्रमाणों के द्वारा अपने सिद्धान्त-पक्ष की स्थापना कर देने के बाद, पूर्व-पक्षी कौत्स ने मंत्रों की अनर्थकता सिद्ध करने के लिए जो युक्तियां प्रस्तुत की थीं, उनका एक-एक करके आगे खण्डन करते हैं।

इसका आशय यह है कि लौकिक शब्दों में भी द्वन्द्व समास में अनेक स्थानों पर पूर्वनिपात और परनिपात का नियम पाया जाता है। और शब्दों का भी नियम पाया जाता है कि अमुक शब्दों का द्वन्द्व समास होने पर अमुक शब्द नियम से पहिले आवेगा और अमुक शब्द बाद को आयेगा। जैसे 'अजाद्यदन्तम्' (अष्टा. 2-2-33) इस सूत्र में अजादि और अदन्त पद के पूर्व प्रयोग का नियम किया गया है। इस नियम के अनुसार 'ईश-कृष्णौ' यह प्रयोग ही होता है 'कृष्ण ईशौ' नहीं हो सकता है। इसी प्रकार इसी सूत्र के अन्तर्गत 'ध्यन्तादजाद्यदन्तं विप्रतिषेधेन' इस वार्तिक द्वारा 'इन्द्राग्नी' यह प्रयोग नियन्त्रित होता है। इसके स्थान पर 'अग्नीन्द्रौ' पद नहीं हो सकता है। इसलिए क्रम या पदों के नियत होने से जैसे ये लौकिक प्रयोग अनर्थक नहीं होते हैं, इसी तरह वैदिक मंत्र भी अनर्थक नहीं हो सकते हैं।

कौत्स की दूसरी युक्ति का खण्डन करते हुए कहते हैं—'अथो एतत् इत्यादि।

इसका अभिप्राय यह है कि उन स्थलों में वास्तविक अर्थ का प्रतिपादन तो वस्तुतः मूल वेदमंत्र ही करता है। ब्राह्मण-वाक्य तो उस वेद द्वारा प्रतिपादित अर्थ का अनुवाद मात्र करता है। अनुवाद की प्रक्रिया लोक में भी पायी जाती है। उससे मूल ग्रंथ का आनर्थक्य नहीं माना जाता है। इसी प्रकार ब्राह्मण द्वारा अनूदित होने से वेदमंत्र को अनर्थक नहीं कहा जा सकता है।

कौत्स की तीसरी युक्ति का उत्तर देते हुए लिखते हैं—'अथो एतत् इत्यादि।

इसका अभिप्राय यह है कि जब वेदमंत्र काटे जाने वाले वृक्ष के लिए यह कहता है कि 'ओषधे त्रायस्व' 'स्वधिते मैनं हिंसीः' तो इस वेद-वचन से यह प्रतीत होता है कि वृक्ष के काटे जाने पर भी यह उसकी हिंसा नहीं। इससे उसका अपकर्ष नहीं, अपितु उत्कर्ष ही होता है। बहुजनहिताय-बहुजनसुखाय किये जाने वाले किसी महत् कार्य में व्यक्ति का आत्मोत्सर्ग भी उसके गौरव का कारण माना जाता है। इसी प्रकार यज्ञ के निमित्त होने वाले इस वृक्षच्छेदन को उसके उत्कर्ष का हेतु मानकर ही उस कर्तन को भी त्राणरूप मानकर वेद ने 'ओषधे त्रायस्व' आदि कहा है। उसी प्रकार 'स्वधिते मैनं हिंसीः' से उसकी हिंसा का अभाव अर्थात् जीवन की सार्थकता सूचित होती है। इसलिए इस युक्ति के द्वारा कौत्स जो मंत्रों का विरोध दिखलाकर उनको अनर्थक सिद्ध करना चाहते हैं, वह उचित नहीं है।

कौत्स की चौथी युक्ति का उत्तर देते हुए लिखते हैं—'अथो एतत् इत्यादि।

इसका अभिप्राय यह है कि इस प्रकार के प्रयोग प्रशंसा-परक लाक्षणिक प्रयोग होते हैं। लोक में भी उनको विरोधी प्रयोग नहीं माना जाता है। जैसे रामचन्द्र, युधिष्ठिर आदि के लिए 'अजातशत्रु' विशेषण का प्रयोग किया जाता है। पर रावण, दुर्योधन आदि उनके शत्रु तो विद्यमान थे। तब ये लाक्षणिक प्रयोग शत्रुओं की विरलता एवं नगण्यता का सूचन करने के लिए आते हैं। इसी प्रकार वेद में जो इन्द्र को कहीं अशत्रु और कहीं सैकड़ों सेनाओं का विजेता कहा गया है। तथा रुद्र को कहीं एक और कहीं असंख्य कहा गया है वे उनके अपूर्व-महत्त्व के अभिव्यंजक लाक्षणिक प्रयोग हैं। उनसे न परस्पर-विरोध सिद्ध होता है और न मंत्रों का अनर्थक्य सिद्ध होता है।

कौत्स की अगली युक्ति का उत्तर देते हुए लिखते हैं—'अथो एतत्' इत्यादि।

इसका अभिप्राय यह है कि प्राचीन काल की शिष्टाचार-व्यवस्था में गुरु आदि को जब शिष्य आदि अभिवादन करते हैं तो उसके साथ सदा अपना नाम लेकर ही अभिवादन करते हैं। इसका कारण यह है कि शिष्य-बाहुल्य के कारण कदाचित् गुरु को उसका नाम विस्मृत हो गया हो, इसलिए शिष्य अभिवादन के समय अपना नाम लेकर ही नमस्कार करता है। इसी प्रकार जिसको मधुपर्क दिया जाता है, वह जानता है कि यह मधुपर्क दिया जा रहा है फिर भी विधान के अनुसार 'मधुपर्को मधुपर्को मधुपर्कः प्रतिगृह्यताम्' तीन बार मधुपर्क पद का उच्चारण करके मधुपर्क दिया जाता है। यह उसकी ओर विशेष रूप से ध्यान आकृष्ट करने के लिए किया जाता है। इसी प्रकार अपने कर्तव्य को जानने वाले 'होता' को 'जो अग्नये समिध्यमानायानुब्रूहि' आदि सम्प्रेष या प्रेरणा की जाती है, उसका आशय यह है कि यदि मन के किसी अन्य ओर चले जाने से उसको अपने कार्य का ध्यान न रहे तो उसकी ओर उसका ध्यान दिला दिया जाय। इस आधार पर मंत्रों को अनर्थक नहीं कहा सकता है।

कौत्स की अगली युक्ति का उत्तर देते हुए ग्रंथकार लिखते हैं—'अथो एतत्' इत्यादि।

इसका अभिप्राय यह है कि रसों का एकमात्र या मुख्य आधार जल ही है— इस बात के सूचन के लिए 'सर्वे रसाः पानीयमनुप्राताः' इस प्रकार का प्रयोग होता है। इसी प्रकार अदिति की प्रधानता के सूचन के लिए 'अदितिर्द्यौः' आदि कहा गया है। इसी प्रकार का लौकिक श्लोक भी अत्यन्त प्रसिद्ध पाया जाता है:—

त्वमेव माता च पिता त्वमेव, त्वमेव बन्धुश्च सखा त्वमेव।

त्वमेव विद्या द्रविणं त्वमेव, त्वमेव सर्वं मम देवदेव॥ (भागवत)

इसका आशय यह है कि अन्धे को स्थाणु दिखलायी नहीं देता है तो यह स्थाणु का दोष नहीं है, अपितु पुरुष का दोष है। इसी प्रकार मंत्रों में विद्यमान अर्थ जिसको दिखलायी नहीं देता है, उस पुरुष का दोष है।

4.5.2.8 निघण्टु की उत्पत्ति

साक्षात्कृतधर्माण ऋषयो बभूवुः, तेऽवरेभ्यो असाक्षात्कृत-धर्मभ्य उपदेशेन मन्त्रान् सम्प्रादुः। उपदेशाय ग्लायन्तोऽवरे बिल्मग्रहणाय इमं ग्रन्थं समाम्नासिषुः। वेदं च वेदांगानि च। बिल्मं भिल्मं भासनमिति वा।।

(हिन्दी अर्थ—) (प्रारम्भ में 'साक्षात्कृतधर्माणः' अर्थात्) वेदार्थ को स्वयं समझ लेने वाले ऋषिगण होते थे। (जब आगे के लोगों में यह सामर्थ्य कम हो गयी तो) उन (साक्षात्कृतधर्मा ऋषियों) ने धर्म का साक्षात्कार करने में असमर्थ अपने से बाद के अथवा अपने से छोटे लोगों को उपदेश द्वारा मंत्रों को प्रदान किया (अर्थात् मंत्रों के अर्थों का उपदेश दिया उसके बाद उस) उपदेश से ग्रहण करने में भी असमर्थ बाद के लोगों ने (वेद के अर्थों के) स्पष्ट रूप से ग्रहण कर सकने के लिए इस ग्रंथ (अर्थात् 'निघण्टु' रूप वैदिक-कोश) की रचना की। (उन्होंने केवल इस वैदिक कोश रूप निघण्टु की ही रचना नहीं की, अपितु उसके साथ) वेद और वेदांगों को भी (लिपिबद्ध किया)।

बिल्म-भिल्म-अर्थात् स्पष्ट अथवा प्रतीत कराने के लिए निघण्टु की रचना की, यह अभिप्राय है।

4.5.3 विशिष्ट शब्दों का निर्वचन

4.5.3.1 निर्वचन की दृष्टि

निरुक्त शास्त्र का पहला सिद्धान्त अर्थप्राधान्यवाद है। किसी भी शब्द का निर्वचन करते समय निरुक्त शास्त्र के आचार्य शब्द के अर्थ पर ध्यान देते हैं। जिस ढंग से शब्द के अर्थ का प्रकाशन अधिक से अधिक सुन्दरता और पूर्णता के साथ हो सके, उसी ढंग से उस शब्द का निर्वचन करना चाहिये, यह उनके 'अर्थ-प्राधान्यवाद' का अभिप्राय है। अर्थाभिव्यक्ति के सामने वे व्याकरण के संस्कार को विशेष महत्त्व नहीं देते हैं। आगे जहां से निर्वचन की प्रक्रिया का वर्णन करेंगे, वहां यास्काचार्य स्वयं इस बात को लिखेंगे कि—

‘अर्थनित्यः परीक्षेत’, ‘न संस्कारमाद्रियेत।’

4.5.3.2 विशिष्ट शब्द-निर्वचन

निरुक्तकार ने प्रासंगिक रूप से अनेक शब्दों का निर्वचन भी किया है। उनमें से कुछ का चयन कर यहां प्रस्तुत किया जा रहा है—

(1) निघण्टु

निघण्टवः कस्मात्?

निगमा इमे भवन्ति। छन्दोभ्यः समाहृत्य समाहृत्य समाम्नाताः। त इमे निगन्तव एव सन्तो निगमनान्निघण्टव उच्यन्त इत्यौपमन्यवः। अपि वा आहननादेव स्युः, समाहता भवन्ति। यद्वा समाहता भवन्ति।

(हिन्दी अर्थ—)

(प्रश्न-) निघण्टु क्या (कहलाता है)?

(उत्तर-) क्योंकि ये निश्चित रूप से (वेदार्थ के) बोधक होते हैं (अतः 'निश्चयेन वेदार्थं गमयन्ति' इस निर्वचन के अनुसार निगन्तवः या निघण्टवः अर्थात् 'निघण्टु' नाम से कहे जाते हैं)।

(निघण्टु में संगृहीत) ये प्रसिद्ध (वैदिकशब्दाः निश्चयेन वेदार्थं गमयन्ति-इस व्युत्पत्ति के अनुसार निश्चय-पूर्वक वेदार्थ के) बोधक होने के कारण (पहिले) 'निगन्तु' होकर ही 'निघण्टु' कहलाते हैं। यह (निघण्टु के प्राचीन व्याख्याकार) उपमन्यु के अनुयायी मानते हैं।

अथवा आङ्-पूर्वक हन-धातु से ही (निघण्टु शब्द सिद्ध होता है), क्योंकि (निघण्टु में वैदिक शब्द) भली प्रकार से (चुनकर) पठित हैं।

अथवा (निघण्टु के शब्द वेदों में से या मंत्रों में से) चुने हुए हैं (इसलिए सम् आङ् उपसर्ग-पूर्वक ह-धातु से उपसर्गों तथा वर्णों का विपर्यय होकर निघण्टु-शब्द बनता है)।

(सारांश-)

निघण्टु पद की तीन निरुक्तियां (निर्वचन) यहां प्रस्तुत हैं। पहली निरुक्ति में निगन्तु से निघण्टु बना है। नि उपसर्ग-पूर्वक गम् धातु से 'सि-त-नि-गमि-मसि-सचि-अवि-धाञ्क्रुशिभ्यस्तुन्। उणादि (1-72) इस सूत्र से तुन् प्रत्यय होकर ग के स्थान पर घ तथा त्-के स्थान पर ट रूप वर्णविकार के बाद 'निघण्टु' शब्द बनता है।

दूसरी निरुक्ति 'आहन्तु' से की गई है। आङ्पूर्वक हन धातु का प्रयोग पाठ अर्थ में होता है। महाभाष्यकार ने लिखा है कि 'प्रसिद्धश्च पाठार्थं हन्तेः प्रयोगः। ब्राह्मणे इदमाहतम्, सूत्रे इदमाहतम्।' इस 'हन' धातु से व्युत्पत्ति करने का अभिप्राय यह है कि निघण्टुके शब्द मर्यादा-पूर्वक अर्थात् एक विशेष क्रम और विशेष नियम के अनुसार 'आहत' या पठित हैं। इस अवस्था में आङ् उपसर्गपूर्वक अथवा सम्-आङ् उपसर्ग-पूर्वक हन्-धातु से औणादिक तुन्-प्रत्यय करने पर 'आहन्तु' अथवा 'समाहन्तु' रूप बनता है। उस दशा में सम् आङ् उपसर्गों के स्थान पर नि उपसर्ग का और हके स्थान पर घ तथा त के स्थान पर ट का आदेश करके निघण्टु-शब्द बनता है। इस व्युत्पत्ति के अनुसार पदों के मर्यादा-पूर्वक पठित होने के कारण वैदिक-कोश का नाम 'निघण्टु' रखा गया है, यह अर्थ निकलता है।

तीसरी निरुक्ति 'समाहर्तु' से की गई है सम्-आङ्-पूर्वक ह-धातु से औणादिक तुन्-प्रत्यय करके 'समाहर्तु' रूप बनाकर सम् और आङ् उपसर्गों के स्थान पर नि उपसर्ग का तथा ह-के स्थान पर घ, त-के स्थान पर ट और र-के स्थान पर ण् का आदेश करके निघण्टु-शब्द बनाया जाता है। इस व्युत्पत्ति के अनुसार वेदों से अथवा मंत्रों में से चुन-चुनकर शब्दों का संग्रह किये जाने के कारण इस वैदिक-कोश का नाम 'निघण्टु' रखा गया है।

(2) आचार्य

आचार्यः कस्मात्! आचारं ग्राहयति। आचिनोति बुद्धिमिति वा।

(हिन्दी अर्थ—) आचार्य क्यों कहा जाता है? (उत्तर—) वह आचार का ग्रहण कराता है। (आचार की शिक्षा देता है।) अथवा (जानने योग्य) अर्थों का संग्रह करता है। अथवा (शिष्य की) बुद्धि का विकास कराता है।

(सार—) आचार्य पद की निरुक्ति दो तरह से की गई है—1. आचारं ग्राहयति, और 2. आचिनोति बुद्धिम्। वह आचार की शिक्षा देता है, ज्ञेय पदार्थों का चयन शिष्य के लिए करता है, और वह शिष्य की बुद्धि का विकास (आचयन) भी करता है, इसलिए उसे आचार्य कहते हैं।

यहां विशेष ज्ञातव्य यह है कि निरुक्त-कृत शब्द-निर्वचनों में व्याकरण का नियम सामान्यतः लागू नहीं होता। तथापि इन निर्वचनों में पाणिनि-स्वीकृत उणादि-विशेषतः पृषोदरादि गण को आधार मानना चाहिए। जो शब्द उणादि-नियमों से भी सिद्ध न हों, तो उन्हें पृषोदरादि गण सम्बन्धी नियम से सिद्ध किया जा सकता है।

पाणिनि ने ऐसे शब्दों को 'पृषोदरादि' के क्षेत्र में रखा है और उनमें प्रकृति-प्रत्यय आदि की चिन्ता किये बिना 'पृषोदरादीनि यथोपदिष्टम्' (6-1-109) सूत्र लिखकर, वे जिस रूप में लोक में प्रयुक्त होते हैं, उसी रूप में ज्यों-का-त्यों उनको सिद्ध मान लिया है। इस प्रकार के पदों में अर्थ की प्रधानता को ध्यान में रखकर आवश्यकता के अनुसार वर्ण का आगम, वर्ण का विपर्यय, अर्थात् पौर्वापर्य रूप क्रम का परिवर्तन, वर्ण का लोप और वर्ण का विकार अर्थात् किसी वर्ण के स्थान पर अन्य वर्ण का आदेश आदि अनेक प्रकार के परिवर्तन हो जाते हैं। जैसे मेघ का वाचक 'बलाहक' शब्द लोक में प्रचलित है। इस शब्द में प्रकृति-प्रत्यय का कोई विभाग प्रतीत नहीं होता है। इसलिए वह 'अतिपरोक्षवृत्ति' शब्द है। वह न अष्टाध्यायी के नियमों के बन्धन में आता है और न उणादि के क्षेत्र में आता है। वह इस 'पृषोदरादिगण' के क्षेत्र से सम्बन्ध रखता है। इसलिए उसके अर्थ की प्रधानता का ध्यान रखकर 'वारिवाहक' शब्द से उसके 'बलाहक' रूप की सिद्धि की जाती है। इसमें पूर्वपद 'वारि' के स्थान पर 'ब' और उत्तरपद के 'वा' के स्थान पर 'ला' आदेश होकर 'वारिवाहकः' से 'बलाहकः' रूप बन जाता है।

'पृषोदरादिगण' आकृतिगण है। पृषोदर-शब्द के समान सभी अतिपरोक्षवृत्ति शब्दों का उसमें अन्तर्भाव हो जाता है। पृषोदरादिगण में किस प्रकार के शब्दों को लिया जाना चाहिए, इसका प्रतिपादन करते हुए महाभाष्यकार ने लिखा है—

“येषु लोपागमवर्णविकाराः श्रूयन्ते न चोच्यन्ते तानि पृषोदरादिप्रकाराणि।”

अर्थात् जिनमें लोप, आगम, वर्णविकार अर्थात् आदेश और क्रम-विपर्यय आदि सुनाई देते हैं, किन्तु किसी सूत्र के द्वारा उनका विधान नहीं किया जाता है, वे शब्द 'पृषोदरादि' के समान अर्थात् 'पृषोदरादिगण' के अन्तर्गत समझे जाते हैं।

“भवेद् वर्णागमाद्धंसः सिंहो वर्णविपर्ययात्।

गूढोत्मा वर्णविकृतेर्वर्णनाशात् पृषोदरम् ।।” (गणवार्तिकम्)

ठीक यही पद्धति निरुक्त की है। निर्वचन-प्रक्रिया का प्रतिपादन करते हुए लिखा गया है—

“वर्णागमो वर्णविपर्ययश्च द्वौ चापरौ वर्णविकार-नाशौ ।

धातोस्तदर्थान्तिशयेन योगः तदुच्यते पञ्चविधं निरुक्तम् ।।” (दुर्गाचार्यवृत्ति)

पृषोदरादि-प्रक्रिया और निरुक्त-प्रक्रिया के प्रतिपादक इन दोनों श्लोकों की तुलना करने से स्पष्ट हो जाता है कि वे दोनों प्रक्रियाएं एक ही हैं। पृषोदरादि-प्रक्रिया को पाणिनि-मुनि ने अपने शास्त्र के अन्तर्गत रखने का यत्न किया है, परन्तु वस्तुतः वह उनका अपना क्षेत्र नहीं है, निरुक्त का क्षेत्र है। उसे हम व्याकरण का सीमा-प्रान्त कह सकते हैं, जहां राजा का अपना प्रभाव समाप्त हो जाता है। वह प्रदेश नाम को भले ही उस राजा के राज्य में हो, पर उस पर राज्य का यथार्थ नियन्त्रण नहीं रहता है। इसी प्रकार पृषोदरादिरूप ‘अतिपरोक्षवृत्ति’ शब्दों को पाणिनि भले ही अपने क्षेत्र में रखने का यत्न करें, पर वहां उनका कोई नियंत्रण नहीं है। अष्टाध्यायी से सिद्ध शब्द पाणिनि के नियंत्रण में चलते हैं, पर पृषोदरादि शब्दों में पाणिनि, शब्दों के प्रयोगों के नियंत्रण में, बंध गये हैं—

“लौकिकानां हि साधूनामर्थं वागनुवर्तते ।

ऋषीणां पुनराद्यानां वाचमर्थोऽनुधावति ।।” (उत्त. रा. च.)

इसलिए हम कह सकते हैं कि जहां व्याकरण की सीमा समाप्त होती है, वहां से निरुक्त का क्षेत्र प्रारंभ होता है। अतः निरुक्तकार द्वारा निघण्टु शब्द की तीन निरुक्तियां की गई हैं, वे व्याकरणविरुद्ध व अटपटी सी प्रतीत होने पर भी युक्तिसंगत हैं।

(कुछ अन्य निर्युक्तियां)

(3) धातु-धातुर्दधातेः। धातु शब्द ‘दध धारणे’ धातु से बनता है। जो अर्थ को धारण करता है, वह धातु है। दधाति अर्थान् इति धातुः।

(4) पर्वत-पर्ववान् इति पर्वतः। (पर्वो अर्थात् पत्थरों के जोड़ों से युक्त होता है।)

(5) पर्व=सन्धिस्थल,

पर्व शब्द ‘पृण प्रीणने’ (तुदादि), ‘प्रीञ् तर्पणे कान्तौ च’ क्र्यादि.) पृ-धातु से अथवा प्री-धातु से बनता है। मास के अर्ध भाग (अर्थात् पूर्णिमा तथा अमावस्या) को ‘पर्व’ कहते हैं, क्योंकि इनमें (दर्श पौर्णमास यागों के द्वारा) देवताओं को तृप्त करते हैं। इसी के आधार पर सन्धि की समानता के कारण अन्य (अर्थात् बांस की या गन्ने की गांठ आदि को भी ‘पर्व’ कहते हैं। क्योंकि जैसे पूर्णिमा तथा अमावस दो पक्षों की सन्धि पर होती है, इसी प्रकार बांस की गांठ आदि सन्धि-स्थल पर होती है।)

4.5.4 अध्याय-सारांश

निरुक्त के प्रथमाध्याय में निरुक्ति-विषयक सिद्धान्तों का निर्देश किया गया है। पदों के प्रमुखतः चार भाग बताये गये—नाम, आख्यात, उपसर्ग व निपात। इन चारों के स्वरूप भी सोदाहरण स्पष्ट किये गये। क्रिया के 6 भेद (भाव विकार) भी बताये गये। शब्दों की नित्यता-अनित्यता का विचार कर, सयुक्तिक शब्द की नित्यता का निरूपण किया गया है। उपसर्ग द्योतक हैं या वाचक—इस पर भी विचार किया गया है। निपातों के तीन वर्ग बताये गये—उपमार्थक, कर्मोपसंग्रहार्थक, और पादपूरक। नाम आख्यातज हैं—इसका सविस्तार विवेचन भी किया गया। वहां पूर्वपक्ष की सभी युक्तियों का निस्तारण किया गया। निरुक्त का एक प्रयोजन—मंत्रार्थ ज्ञान भी बताया गया। मंत्र सार्थक हैं या अनर्थक, इस विषय पर विस्तार से ऊहापोह किया गया है और सिद्धान्ततः मंत्रों की सार्थकता का प्रतिपादन किया गया। निघण्टु की रचना की पृष्ठभूमि पर भी प्रकाश डाला गया।

कुछ विशिष्ट शब्दों—निघण्टु, आचार्य आदि शब्दों की निरुक्ति की गई है, जिससे वैदिक शब्दों के निर्वचन की शैली व विधि का संकेत किया गया है।

4.5.5 अभ्यास प्रश्नावली

लघूत्तरात्मक प्रश्न

- प्रश्न-1. नाम व आख्यात के स्वरूप को स्पष्ट करें।
- प्रश्न-2. षड् भावविकाराः भवन्ति—इस उक्ति को स्पष्ट करें।
- प्रश्न-3. पदों के चार प्रमुख विभागों के स्वरूप पर प्रकाश डालें।
- प्रश्न-4. शब्द की अनित्यता किसका मत है? उसके समर्थन में क्या युक्तियां हैं?
- प्रश्न-5. निपातों के तीन वर्गों का परिचय दें।
- प्रश्न-6. निरुक्त के प्रयोजन पर प्रकाश डालें।
- प्रश्न-7. निघण्टु पद का निर्वचन करें।
- प्रश्न-8. आचार्य पद का निर्वचन करें।

निबन्धात्मक प्रश्न

- प्रश्न-1. शब्द की नित्यता-अनित्यता के विषय में सयुक्तिक विचार-विमर्श कर सिद्धान्त पक्ष को प्रस्तुत करें।

प्रश्न-2. नाम आख्यातज हैं या नहीं, इस विषय में निरुक्तकार के अभिमत की सयुक्तिक विवेचना करें।

प्रश्न-3. मंत्रों की सार्थकता-अनर्थकता के विषय में निरुक्तकार के मत का सयुक्तिक समर्थन करें।

प्रश्न-4. शब्दों के निर्वचन में निरुक्तकार की दृष्टि पर एक लघु निबन्ध लिखें।

4.6 निरुक्त-मूल (द्वितीयाध्याय)

इस अध्याय में निरुक्तकार निर्वचन-विधि का निरूपण कर रहे हैं, इसलिए प्रारम्भ में ही कहा-अथ निर्वचनम्। निर्वचन-विधि के दौरान किन-किन बातों का ध्यान रखा जाना चाहिए, वे यहां बतायी जा रही हैं।

4.6.1 निर्वचन-विधि के सूत्र

अथ निर्वचनम्।

1. तद्येषु पदेषु स्वर-संस्कारौ समर्थौ प्रादेशिकेन गुणेनान्वितौ स्यातां तथा तानि निर्ब्रूयात्।
2. अथ अनन्वितेऽर्थे अप्रादेशिके विकारे अर्थनित्यः परीक्षेत केनचिद् वृत्तिसामान्येन।
3. अविद्यमाने सामान्येऽप्यक्षरवर्णसामान्यान्निर्ब्रूयात्।
4. न त्वेव न निर्ब्रूयात्।
5. न संस्कारमाद्रियेत। विशयवत्यो हि वृत्तयो भवन्ति।
6. यथार्थं विभक्तीः सन्नमयेत्।

(हिन्दी अर्थ-)

अब निर्वचन (विधि का प्रतिपादन किया जाता) है।

1. जिन पदों में स्वर (उदात्त, अनुदात्त आदि) तथा संस्कार (अर्थात् प्रकृति-प्रत्यय का विभाग और संश्लेषण, समर्थ (अर्थात् व्याकरण के नियमों से समर्थित और अर्थानुगामी) हों उन (प्रत्यक्षवृत्ति शब्दों) का उसी प्रकार से (व्याकरण की प्रक्रिया के अनुसार) निर्वचन करना चाहिये।
2. जहां (किसी धातु-प्रत्यय के साथ स्पष्ट रूप से) अर्थ का सम्बन्ध न प्रतीत हो और (प्रादेशिक विकार अर्थात्) व्याकरणानुकूल परिवर्तन व (प्रदिश्यन्ते साध्यन्ते शब्दा अनेन इति प्रदेशो व्याकरणम्, उससे प्रतिपादित लोप, आगम, आदेश आदि रूप परिवर्तन विकार स्पष्ट रूप से) न पाये जाते हों वहां (अर्थनित्यः अथ नियतः) अर्थ को प्रधान मानकर (निर्वचन की) परीक्षा करे। (अर्थात् निर्वचन करे)। किसी भी प्रकार की वृत्ति (लोप, आगम, आदेश आदि) की समानता से (निर्वचन करे)।

3. (प्रकृति-प्रत्यय-लोप, आगमज आदेश आदि की) कोई भी समानता रहने पर (अक्षर और वर्ण अर्थात्) स्वर या व्यंजन की समानता से ही निर्वचन करें।
4. निर्वचन न करे ऐसा (कभी भी) नहीं कहना चाहिये। निर्वचन अवश्य ही करना चाहिए।
5. और उसमें (व्याकरण के अनुसार होने वाले) संस्कार की चिन्ता न करे। क्योंकि (व्याकरण के अनुसार होने वाले प्रकृति-प्रत्यय लोप, आगम आदि रूप) वृत्तियाँ भी (अनेक स्थलों पर अत्यन्त) सन्देहजनक होती हैं।
6. अर्थ के अनुसार विभक्तियों में परिवर्तन (व्यत्यय भी) कर लेना चाहिये।

(विशेषार्थ—) यहां निर्वचन-सम्बन्धी आधारभूत कुछ महत्त्वपूर्ण नियमों या सिद्धान्तों को प्रस्तुत किया गया है। अतः यह निरूपण अध्येता के लिए विशेषतः पठनीय-मननीय है। पाद के प्रथम वाक्य 'अथ निर्वचनम्' में निर्वचन के आधारभूत सिद्धान्तों के प्रतिपादन की प्रतिज्ञा की गई है। उसके बाद निर्वचन के 6 मौलिक सिद्धान्त इस पाद में दिखलाये गये हैं। इनमें से पांचवां सिद्धान्त 'न संस्कारमाद्रियेत' है। इसका भाव यह है कि निर्वचन करते समय व्याकरण के द्वारा होने वाले शब्द-संस्कार की चिन्ता न करें। यह न सोचे कि यह शब्द व्याकरण से कैसे बनेगा? बनेगा भी या नहीं। इस बात की चिन्ता किये बिना 'अर्थनित्यः परीक्षेत' अर्थ को प्रधान मानकर निर्वचन का मार्ग निकाले। व्याकरण द्वारा होने वाले शब्द-संस्कार की चिन्ता न करने की जो बात यहां कही है, वह अनर्गल बात नहीं है। उसका शास्त्रीय आधार है। इसी बात का समर्थन करने के लिए ग्रंथकार ने अगली पंक्ति 'विशयवत्यो हि वृत्तयो भवन्ति' लिखी है। इसमें 'हि' पद हेत्वर्थक है। क्योंकि व्याकरण की वृत्तियाँ भी नाना प्रकार की और संशयजनक होती हैं, इसलिए निर्वचन करते समय व्याकरण के बन्धनों से भयभीत नहीं होना चाहिये। इसी बात के समर्थन के लिए ग्रंथकार ने इस पाद में व्याकरण के नियमों के अनुसार होने वाले लोप, आगम, वर्णविकार, आद्यन्त विपर्यय आदि सम्बन्धी 11 प्रकार की वृत्तियों का प्रदर्शन उदाहरणों द्वारा कराया है। उनके द्वारा यास्क ने यह सिद्ध करने का यत्न किया है कि जब व्याकरण के क्षेत्र में आनेवाले 'प्रत्यक्षवृत्ति' शब्दों में इस प्रकार के यथेष्ट परिवर्तन हो सकते हैं तो निरुक्त के क्षेत्र में आने वाले 'अतिपरोक्षवृत्ति' शब्दों के निर्वचन में यदि उनका अवलम्बन किया जाय तो वह सर्वथा उचित ही होगा। यहां दिखलाये हुए नियमों को ही संक्षेप में संग्रह करके निरुक्त या निर्वचन शैली का स्वरूप प्रतिपादन करने वाले निम्न श्लोक की रचना की गयी है।

“वर्णागमो वर्णविपर्ययश्च द्वौ चापसौ वर्णविकारनाशौ।

धातोस्तदर्थतिशयेन योगस्तदुच्यते पंचविधं निरुक्तम्।।”

4.6.2 निरुक्त के अधिकारी

नावैयाकरणाय, नानुपसन्नाय अनिदंविदे वा। नित्यं हि अविज्ञातुर्विज्ञाने असूया। उपसन्नाय तु निर्बूयात्। यो वा अलं विज्ञातुं स्यात्। मेधाविने तपस्विने वा।

विद्या ह वै ब्राह्मणमाजगाम गोपाय मा शेवधिष्टेऽहमस्मि ।
असूयकायानृजवेऽयताय न मा ब्रू या वीर्यवती तथा स्याम् ।।1।।

य आतृणत्त्यवितथेन कर्णावदुःखं कुर्वन्नमृतं सं प्रयच्छन् ।
तं मन्येत पितरं मातरं च तस्मै न द्रुह्येत् कतमच्चनाह ।।2।।

अध्यापिता ये गुरुं नाद्रियन्ते विप्रा वाचा मनसा कर्मणा वा ।
यथैव ते न गुरो भोजनीयाः, तथैव तान्न भुनक्ति श्रुतं तत् ।।3।।

यमेव विद्याः शुचिमप्रमत्तं मेधाविनं ब्रह्मचर्योपपन्नम् ।
यस्ते न द्रुह्येत् कतमच्चनाह तस्मै मा ब्रूया निधिपाय ब्रह्मन् ।।4।।
निधिः शेवधिरिति ।।

(हिन्दी अर्थ—)

1. अवैयाकरण को, 2. जो शिष्य भाव से न आया हो उसको (अनुपसन्नाय), अथवा 3. जो इस (निरुक्त-प्रक्रिया) को न जानता हो, उसको (निर्वचन) न बतलावे। क्योंकि न जानने वाले (इस प्रकार के) ज्ञान में सदा दोष निकालते हैं (गुणेषु दोषाविष्करणम् असूया)। 'शिष्य भाव से' श्रद्धाभाव से आये हुए को तो निर्वचन बतलावे। या जो इसको समझने में समर्थ हो (उसको निरुक्त का उपदेश करे)। मेधावी और तपस्वी को (निरुक्त का उपदेश करे)। इसी का समर्थन निम्न श्लोकों से करते हैं—

विद्या (ह एक बार) ब्राह्मण के पास आयी (और बोली कि हे ब्राह्मण! मेरी रक्षा कर, क्योंकि मैं तेरी निधि हूँ। तू निन्दा करने वाले कुटिल और लम्पट (विद्यार्थी) को मेरा उपदेश मत कर, जिससे मैं वीर्यवती बनी रहूँ।।1।।

जो (गुरु वैदिक) सत्य (के उपदेश) से दुःख का नाश करते और (ज्ञान का) अमृत-प्रदान करते हुए कानों को पूर्ण करता है। उसको (शिष्य अपना) पिता और माता समझे। और उसका द्रोह किसी प्रकार भी न करे।।2।।

पढ़ाये हुए जो शिष्य (पढ़ने के बाद) मन से वाणी से, अथवा कर्म से (किसी प्रकार भी) गुरु का अनादर करते हैं, जैसे वे (गुरोर्न भोजनीयाः) गुरु को आनन्द-प्रदान करने वाले नहीं होते हैं इसी प्रकार (तान् न भुनक्ति श्रुतं तत्) उनकी वह विद्या उनको (समय पर यथेष्ट) भोग नहीं देती है।।3।।

(हे ब्रह्मन्! आप) जिस किसी को पवित्र, अप्रमादी, मेधावी, और ब्रह्मचर्य का पालन करने वाला (जितेन्द्रिय) समझें और जो किसी भी दशा में आपका विरोध न करे, उस अपनी निधि (अर्थात् विद्या) की रक्षा करने वाले (विनीत शिष्य) को मेरा उपदेश करो।।4।।

ये (वचन विद्या के योग्य अधिकारी का प्रतिपादन करते हैं) 'शेवधि:' (का अर्थ) निधि है।

4.6.3 विशिष्ट शब्द-निर्वचन

द्वितीय अध्याय में अनेक शब्दों का निर्वचन किया गया है। उनमें से कुछ विशिष्ट (चयनित) शब्द यहां प्रस्तुत हैं।

1. गौ (पृथिवीवाचक)

गौरिति पृथिव्या नामधेयम्, यद्दूरं गता भवति। यच्चास्यां भूतानि गच्छन्ति। गातेवौकारो नामकरणः।
(हिन्दी अर्थ—) गौ यह (पद) पृथिवी का वाचक (नाम) है, क्योंकि वह दूर तक फैली है। और क्योंकि उस पर प्राणी चलते हैं। (इसलिए गत्यर्थक गम धातु से गौ-शब्द बनता है। और उसकी दो प्रकार की निरुक्ति हो सकती है। 1. दूरं गच्छतीति गौः, 2. गच्छन्ति भूतानि यस्यां सा गौः)। अथवा गा-धातु से ('गाङ् गतौ' धातु से) औ-प्रत्यय (नामकरणः) होकर गौ (शब्द बनता) है।

2. गौ (सूर्यवाचक)

'गौः' आदित्यो भवति। गमयति रसान्, गच्छत्यन्तरिक्षे। अथ द्यौर्यत् पृथिव्या अधिदूरं गता भवति, यच्चास्यां ज्योतींषि गच्छन्ति।

(हिन्दी अर्थ—) 'गौः' आदित्य (सूर्य का नाम) होता है। क्योंकि रसों को पहुंचाता है। अथवा अन्तरिक्ष में चलता है ('गम' धातु से 'डो' प्रत्यय करके 'गौ' शब्द बनता है)

(3) पय

पयः पिबतेर्वा प्यायतेर्वा।

(हिन्दी अर्थ—) 'पयस्' (शब्द) पिब-धातु से (अर्थात् 'पा पाने' धातु से 'सर्वधातुभ्योऽसुन्' (उणादि 5-638) सूत्र से 'असुन्प्रत्यय' करके बनता) है। अथवा 'ओप्यायी वृद्धौ' (धातु) से (बनता) है। (अर्थात् पीयते यत् तत् पयः, अथवा 'आप्यायन्ते जना येन तत् पयः' ये दो प्रकार की 'पयस्' शब्द की व्युत्पत्तियां हो सकती हैं।

(4) चर्म

चर्म चरतेर्वा, उच्चृतं भवतीति वा।

(हिन्दी अर्थ—) 'चर्म' (शब्द) 'चर' धातु से (बनता है, क्योंकि 'सर्वस्मिन् शरीरे चरति' सारे शरीर में फैला होने से चर्म कहलाता) है। अथवा ('चृती हिंसायाम्' धातु से बनता है। क्योंकि शरीर के ऊपर से) उतारा जाता है (इसलिए चर्म कहलाता है)।

(चर्म-शब्द की इन दोनों व्युत्पत्तियों के पक्ष में 'चर गतौ' धातु से अथवा 'चृती हिंसायाम्' धातु से 'सर्वधातुभ्यो मनिन्' (उणादि 5-594) सूत्र से मनिन्-प्रत्यय होकर 'चर्म' शब्द की सिद्धि होती है।)

(5) निऋति (पृथ्वी, कष्ट-प्राप्ति)

निऋतिः निरमणात्। ऋच्छतेः कृच्छापत्तिरितरा।

(हिन्दी अर्थ-) उनमें से 'निऋति' (यह पृथिवी का नाम) नितान्त रमण (योग्य होने) से है। दूसरी (निऋति अर्थात् निऋति शब्द का दूसरा अर्थ) कष्ट-प्राप्ति है। वह ऋच्छ-धातु से (बना) है।

'निऋति' के दो अर्थ हैं-1. पृथिवी और 2. कष्ट। यास्क ने इसकी व्युत्पत्ति 'नि' उपसर्ग-पूर्वक 'रमु क्रीडायाम्' धातु से मानकर 'निरमणात् निऋतिः' इस प्रकार का उसका निर्वचन किया है। यही निर्वचन दोनों अर्थों में लग जायगा। पृथिवी पक्ष में उसका अर्थ 'नितरां रमणात् निऋतिः' प्राणियों के लिए अतिशय आह्लाददायक होने से 'निऋति' शब्द का प्रयोग होता है, यह अर्थ होगा और दूसरे 'कष्टार्थक पक्ष में 'निर्गता रमणात्' सुख से रहित होने से 'निऋति' शब्द का प्रयोग दुःख के लिए होता है यह अर्थ होगा।

(6) हिरण्य

हिरण्यं कस्मात्, ध्रियते आयम्यमानमिति वा, ह्रियते जनाज्जनमिति वा, हितरमणं भवतीति वा, हृदयरमणं भवतीति वा। हर्यतेर्वा स्यात् प्रेप्साकर्मणः।

(हिन्दी अर्थ-) 'हिरण्य' (शब्द) किस (कारण अथवा किस धातु) से (बनता है)। इसका उत्तर देने के लिए 'हिरण्य' शब्द का निर्वचन करते हैं) 1(सोने का तार खींचते समय) विस्तारित किया जाता हुआ (दूर तक) ले जाया जाता है, अथवा 2 (व्यवहार में) एक आदमी से दूसरे आदमी के पास ले जाया जाता है (इन दोनों अर्थों में 'हृज् हरणे' धातु से हिरण्य शब्द सिद्ध होता है) 'ह्रियते यत्-हिरण्यम्'। अथवा 3 हितकर तथा रमणीय होता है। अथवा 4 हृदय को लुभानेवाला होता है (इन अर्थों में हितपूर्वक 'रम्' अथवा हृदयपूर्वक रम् धातु से लोप, आगम, वर्णविकार आदि द्वारा 'हिरण्य' शब्द की सिद्धि होती है)। हितं रमयति-हिरण्यम्। अथवा 5 ('हर्य गतिकान्त्योः' धातु को अनेकार्थ-सिद्धान्त के अनुसार) इच्छार्थक (मानकर) 'हर्य' धातु से) 'हर्यतेः कन्यन् हिरच' उणादि 5-732 सूत्र से 'कन्यन्'-प्रत्यय तथा धातु को 'हिरच्' आदेश होकर 'हिरण्य' शब्द सिद्ध होता है (हर्यते इति हिरण्यम्)।

(7) समुद्र

तत्र समुद्र इत्येतत् पार्थिवेण सन्दिह्यते। समुद्रः कस्मात्, समभिद्रवन्त्येनमापः, सम्मोदन्तेऽस्मिन् भूतानि, समुद्रको भवति, समुनत्तीति वा। तयोर्विभागः।

(हिन्दी अर्थ-) समुद्र (शब्द कैसे) बनता या क्या प्रयुक्त होता है। इसका उत्तर निर्वचन द्वारा करते हैं) क्योंकि 1 इसकी ओर (अर्थात् पार्थिव समुद्र की ओर) जल बहकर (अथवा अन्तरिक्ष की ओर वाष्प बनकर

आते हैं) अथवा 2 इसके भीतर (अर्थात् पार्थिव समुद्र के भीतर जलचर तथा अन्तरिक्ष के भीतर नभश्चर) प्राणी आह्लादित होते हैं। (सम् अभिपूर्वक द्रु धातु से 'उ' प्रत्यय करके और अभि के स्थान पर 'उत्' का प्रयोग करके 'समुद्र' शब्द प्रथम निर्वचन के पक्ष में बनता है। सम्पूर्वक मुद्-धातु से उणादि (2-170) सूत्र से रक्-प्रत्यय करके 'समुद्र' शब्द दूसरे निर्वचन के पक्ष में बनता है)। अथवा 3 प्रचुर जलवाला होता है (सम्पूर्वक उदक से 'ऊष-सुषि-मुष्क-मधो करः' (अष्टा. 5-2-107) से विहित 'र' प्रत्यय, बाहुलक विधि द्वारा करके 'समुद्र' शब्द बनता है) अथवा 4 (दोनों ही जलों से) भिगोते हैं (इसलिए सम+उन्द+र= 'समुद्र' पद बनता है)। (इस प्रकार 'समुद्र' शब्द अन्तरिक्ष तथा सागर दोनों का वाचक होता है, इसलिए) उन दोनों का विभाग (समझ लेना चाहिए)।

(उपर्युक्त चार अर्थों की वाचक चार निर्युक्तियां कही गई हैं—1. समभिद्रवन्ति एनम् आपः, 2. सम्मोदन्ते अस्मिन् भूतानि 3. समुद्रको भवति 4. सम्-उनत्ति वा।

(8) आदित्य

आदित्यः कस्मात्। आदत्ते रसान्, आदत्ते भासं ज्योतिषाम्।

आदीप्तो भासा इति वा, अदितेः पुत्र इति वा।

(हिन्दी अर्थ—) 'आदित्य' कैसे? (बनता है या यह नाम क्यों पड़ा है? इसके दिखलाने के लिए 'आदित्य' शब्द का निर्वचन करते हैं) रसों का ग्रहण (शोषण) करता है, अथवा (चन्द्र, तारामण्डल आदि) ज्योतिर्मण्डल की कान्ति का हरण करता है (अर्थात् आङ्पूर्वक दा धातु से यक्-प्रत्यय करके 'आदित्य' शब्द बनता है)। अथवा कान्ति से दीप्त होता है (इसलिए आ+दीप+यक्=आदीप्य=आदित्य) अथवा 'अदिति' का पुत्र होने से (आदित्य) कहलाता है।

(यहां आदित्य की चार निर्युक्तियां हुई— 1. आदत्ते रसान् इति, 2. आदत्ते भासं ज्योतिषाम्। 3. आदीप्तो भासा, 4. अदितेः पुत्रः इति वा।)

(9) वृत्र

वृत्रो वृणोतेर्वा, वर्ततेर्वा वर्धतेर्वा। 'यदवृणोत् तद् वृत्रस्य वृत्रत्वम्' इति विज्ञायते। 'यदवर्तत तद् वृत्रस्य वृत्रत्वम्' इति विज्ञायते। 'यदवर्धत तद् वृत्रस्य वृत्रत्वम्' इति विज्ञायते।

(हिन्दी अर्थ—) वृत्र (शब्द 'वृञ् आवरणे' इस) वृ-धातु से ('सर्वधातुभ्यः ष्ट्रन् उणादि 4-608 सूत्र से ष्ट्रन् प्रत्यय करके) अथवा वृतु-धातु से (उणादि 2-178 सूत्र से रक् प्रत्यय करके) अथवा वृधु-धातु से (रक् प्रत्यय करके बनता) है। (क्योंकि ब्राह्मण ग्रंथों में इन तीनों धातुओं से वृत्र शब्द का निर्वचन किया गया है) क्योंकि (वह जल को) आच्छादित करता है। यही वृत्र का वृत्रत्व है' यह (तैत्तिरीयसंहिता) 2-5-2-2 में पाया जाता है। 'जो (आकाश में) वर्तमान रहता है (अथवा गति करता है) यही वृत्र का वृत्रत्व है' यह (उसी तै.सं. में) पाया जाता है और 'जो (आकाश में अवर्धत) फैलता है वही वृत्र का वृत्रत्व है' यह भी

(उसी तै. सं. में) पाया जाता है। (यहां तीन निरुक्तियां की गई हैं—अवृणोत्, अवर्तत और अवर्धत यद्, तद् वृत्रम्।)

(10) रात्रि

रात्रि: कस्मात्? 1. प्ररमयति भूतानि नक्तंचारीणि, 2. उपरमयति इतराणि, ध्रुवीकरोति। 3. रातेर्वा स्याद् दानकर्मणः, प्रदीयन्ते अस्यामवश्यायाः।

(हिन्दी अर्थ—) रात्रि (नाम) क्यों है? क्योंकि रात्रि में विचरण करनेवाले प्राणियों को आनन्दित करती है और अन्यो को (अर्थात् दिवाचर प्राणियों को) विश्राम प्रदान करती है। अर्थात् (निद्रा के द्वारा) स्थिर (निर्व्यापार) करती है। ('रम' धातु से 'त्रिन्' प्रत्यय तथा 'म' के स्थान पर आकार करके रात्रि शब्द बनता है)। अथवा दानार्थक रा-धातु से ('रा-शदिभ्यां त्रिप्' उणादि 4-516 सूत्र से त्रिप्प्रत्यय होकर रात्रि पद बनता है), क्योंकि इसमें ओस प्रदान की जाती (अर्थात् गिरती) है।

(11) अहः

अहः कस्मात्? उपाहरन्त्यस्मिन् कर्माणि।

(हिन्दी अर्थ—) अहः (नाम दिन का) क्यों है? क्योंकि इस (दिन) में (सब लोग) कर्मों को करते हैं।

(अर्थात् अहः शब्द आङ्पूर्वक 'ह' धातु से कनिन्-प्रत्यय करके आहन्==अहन् इस प्रकार 'अहः' शब्द सिद्ध होता है। वैसे उणादि में 'नञि जहातेः' उणादि. (1-156) सूत्र से 'नञ्' उपपद रहते 'ओहाक् त्यागे' धातु से कनिन् प्रत्यय तथा 'आतो लोप इटि च' (अष्टा. 6-4-64) सूत्र से 'आ' का लोप होकर 'अहः' शब्द सिद्ध किया गया है।)

(12) मेघ

मेघः कस्मात्? मेहतीति सतः।

(हिन्दी अर्थ—) मेघ (नाम) क्यों (रखा गया है)? यह प्रश्न है। इसका उत्तर निर्वचन दिखलाकर करते हैं) सिंचन का कर्ता होने से। (अर्थात् 'मिह सेचने' धातु से धञ्-प्रत्यय कर से मेघ शब्द सिद्ध होता है। तदनुसार 'मेहति सिंचति जलम् इति मेघः' यह मेघ शब्द का निर्वचन होता है।

(13) वाक्

वाक् कस्मात्? वचेः।

(हिन्दी अर्थ—) वाक् (शब्द) किस (धातु) से (बनता) है? (उत्तर) वच-धातु से (किब्वचि-प्रच्छि-श्रि-सु-द्रु-पुवां दीर्घोऽसम्प्रसारणं च' उणादि 2-115 सूत्र से क्विप् प्रत्यय, दीर्घ तथा असम्प्रसारण द्वारा बनता है) अर्थात् वक्ति इति वाक्-यह निरुक्ति है।

(14) उदक

उदकं कस्मात् उनतीति सतः ।

(हिन्दी अर्थ—) उदक (शब्द) कैसे? गीला करने वाला होने से ('उन्दी क्लेदने' धातु से 'उदकं च' उणादि 2-206 सूत्र से क्युन् प्रत्यय करके सिद्ध होता है)। अर्थात् उनत्ति इति उदकम्—यह निर्युक्ति समझनी चाहिए ।

(15) अश्व

अश्वः कस्मात्? अश्नुते अध्वानम् । महाशनो भवतीति वा ।

(हिन्दी अर्थ—) (शब्द) कैसे (बनता है)? यह प्रश्न है। उसका उत्तर देते हैं—क्योंकि वह) मार्ग को व्याप्त करता (पार करता) है। अर्थात् 'अशूङ्' व्याप्तौ धातु से 'अशू-पुषि-लटि-कणि-खटि-विशिभ्यः क्वन्' उणादि. 1.157 सूत्र से 'क्वन्' प्रत्यय करके 'अश्व' शब्द सिद्ध होता है। अथवा वह बहुत खाने वाला होता है (अर्थात् 'अश भोजने' धातु से क्वन् प्रत्यय होता है) अर्थात्—अश्नुते अध्वानम् इति अश्वः। अथवा अशनो भवति—इति अश्वः ।

(16) पथिन्

पन्थाः पततेर्वा, पद्यतेर्वा, पन्थतेर्वा ।

(हिन्दी अर्थ—) पथ (शब्द गत्यर्थक) पत-धातु से या पद-धातु से अथवा 'पथि' धातु से 'पतः स्थ च' उणादि 4-4.2 सूत्र से 'इनि' -प्रत्यय और अन्त को थकार आदेश होकर 'पथिन्' शब्द बनता) है। अर्थात् पतति, पत्यते यत्र वा इति पन्थाः। पद्यते यत्र स पन्थाः इत्यादि निरुक्ति समझनी चाहिए ।

4.6.4 अध्याय—सारांश

निरुक्त का दूसरा अध्याय प्रमुखतया 'शब्दों के निर्वचन' का निरूपक है। इसका प्रारम्भ ही होता है—'अथ निर्वचनम्' से। प्रारम्भ में निर्वचन-विधि के प्रमुख छः सूत्रों का निरूपण किया गया है। यदि इन्हें आत्मसात् कर लिया जाये तो शब्दों के निर्वचन में कुशलता स्वतः प्राप्त हो जाएगी। अर्थ की प्रधानता रखकर, धातु से प्रत्ययादि लगाकर निर्वचन किया जा सकता है, वहां व्याकरण के नियमों की शिथिलता भी रहे, तो भी स्वीकार्य है। आवश्यकतानुसार वर्णागम, वर्णविकार, वर्णविपर्यय आदि की व्यवस्था कर लेनी चाहिए। इसे निरुक्तकार ने समझाने हेतु कुछ विशिष्ट शब्दों का निर्वचन भी किया है।

निरुक्तकार ने सावधान भी किया है कि यह निरुक्त शास्त्र योग्य अधिकारी को ही समर्पित/अध्यापित करना चाहिए।

4.6.5 अभ्यास प्रश्नावली

वस्तुनिष्ठ प्रश्न

- प्रश्न-1. निरुक्त-अध्ययन का अधिकारी है—
 (अ) अवैयाकरण (ब) रागद्वेषी
 (स) शिष्य भाव से उपस्थित (द) निरुक्त से अनभिज्ञ
- प्रश्न-2. संमोदते अस्मिन्-भूतानि-इस निरुक्ति से सम्बन्धित शब्द है—
 (अ) मोदक (ब) मेघ
 (स) समुद्र (द) गौ
- प्रश्न-3. 'अवर्धत' — इस निरुक्ति से सम्बन्धित शब्द है—
 (अ) विद्युत् (ब) वृत्र
 (स) मेघ (द) अश्व

लघूत्तरात्मक प्रश्न

- प्रश्न-1. अर्थनित्यः परीक्षेत केनचित् वृत्तिसमवायेन— इस उक्ति का विशद विवेचन करें।
- प्रश्न-2. निरुक्त के अधिकारी-अनधिकारी कौन हैं? प्रकाश डालें।
- प्रश्न-3. निर्वर्धति शब्द का निर्वचन करें।

निबन्धात्मक प्रश्न

- प्रश्न-1. निरुक्तकार द्वारा प्रतिपादित निर्वचन-विधि को सोदाहरण स्पष्ट करें।
- प्रश्न-2. विशयवत्यो हि वृत्तयो भवन्ति— इस कथन का विशद विवेचन करें।

 इकाई-5 (वैदिक साहित्य का इतिहास)

संरचना

- 5.0 प्रस्तावना
- 5.1 उद्देश्य
- 5.2 संहिता-साहित्य
 - 5.2.1 संहिता-विभाजन की पृष्ठभूमि
 - 5.2.2 वैदिक शाखाएं आदि
 - 5.2.3 ऋग्वेद साहित्य
 - 5.2.4 यजुर्वेद संहिता
- 5.3 ब्राह्मण साहित्य
- 5.4 आरण्यक साहित्य
- 5.5 उपनिषत्साहित्य
- 5.6 वेदाङ्ग साहित्य
 - 5.6.1 शिक्षा
 - 5.6.2 कल्प
 - 5.6.3 व्याकरण
 - 5.6.4 निरुक्त
 - 5.6.5 छन्द
 - 5.6.6 ज्योतिष
- 5.7 सारांश
- 5.8 अभ्यासप्रश्नावली

 5.0 प्रस्तावना

वेद शब्द का अर्थ 'ज्ञान' (विद् ज्ञाने) है। वेद ईश्वरीय ज्ञान है। ईश्वर ने स्वयं ब्रह्मा को इसका ज्ञान कराया। प्राचीनतम ऋषियों ने भी अपनी प्राचीन ज्ञान से उसके मंत्रों का साक्षात्कार किया और शब्दराशि के रूप में उसे प्रकट किया। श्रुति-परंपरा से अधावधि यह सुरक्षित है। प्राचीन भारतीय

संस्कृति व सभ्यता के ज्ञान का आदि स्रोत 'वेद' ही है। समस्त भारतीय विद्या के 'उत्स' के रूप में यह 'वेद' भारतीय भाषा की प्राचीनतम ज्ञान-विधि है। परवर्ती काव्य, धर्मशास्त्र, व्याकरण आदि विद्याओं की तथा उत्तरवर्ती दार्शनिक विचारधारा व (ज्ञान-कर्म-भक्ति-इन) साधना-विधियों का मूल स्रोत भी वेद ही है। भारतीय आस्तिक दर्शनों द्वारा यही वेद परमप्रमाण (आगम या शब्द प्रमाण) के रूप में मान्य है। सभी हिन्दू धार्मिक विधियों में वैदिक मंत्रों का प्रयोग होता आया है। इष्ट-प्राप्ति व अनिष्ट परिहार के लौकिक उपायों का ज्ञान वेद से ही प्राप्त होता है। कालान्तर में 'वेद' के चार विभाजन किये गये, जिन्हें 'संहिताएं' कहा गया।

कालक्रम से याज्ञिक विधि में सहायतार्थ ब्राह्मण व आरण्यक साहित्य की रचना हुई। यज्ञ के क्रियाकलाप एवं उसके प्रयोजनों की व्याख्या करने वाले वैदिक भाग को 'ब्राह्मण' कहा गया। विद्वानों ने वैदिक मंत्रों व ब्राह्मण, इन दोनों को 'वेद' कहा (मंत्र ब्राह्मणयोर्वेदनामधेयम्) इस प्रकार दोनों को एक दृष्टि से वेद रूप में मान्यता दी गई।

आरण्यक ग्रन्थों में वानप्रस्थ जीवन व्यतीत करने वाले वीतरागी मनस्वियों के क्रियाकाण्ड प्रतिपादित हैं। वेद का अंतिम भाग उपनिषद् है, इसलिए इसे 'वेदान्त' भी कहा गया। वैदिक युग की दार्शनिक निधि उपनिषदों में निहित है। प्राचीन विद्वानों ने इन चारों को ही 'वेद' संज्ञा दी है। निष्कर्षतः संहिता, ब्राह्मण, आरण्यक व उपनिषद्—ये चारों वैदिक साहित्य के अंगभूत हैं।

वैदिक साहित्य के विकास के अंतिम चरण में ऐसे साहित्य का विकास हुआ, जो वेदों की अविकल रक्षा करते हुए, उन्हें यथार्थ रूप से समझने एवं तदनुकूल क्रियाओं के अनुष्ठान में हो, उन्हें वेदाङ्ग कहा गया। यहां अंग शब्द लाक्षणिक शक्ति से उपकरण अर्थ में प्रयुक्त है। मुण्डकोपनिषद् में चारों वेदों के साथ छः वेदाङ्गों की गणना करते हुए, उन्हें 'अपरा विद्या' के अन्तर्गत रखा गया है—तत्रापरा ऋग्वेदो यजुर्वेदः सामवेदोऽथर्ववेदः, शिक्षा कल्पो व्याकरणं निरुक्तं छन्दो ज्योतिषमिति। यहां छः वेदाङ्गों के नाम हैं—शिक्षा, कल्प, व्याकरण, निरुक्त, छन्द व ज्योतिष।

इस प्रकार वैदिक साहित्य के अन्तर्गत, संहिता, ब्राह्मण, आरण्यक, उपनिषद् एवं छः वेदाङ्गों का परिगणन होता है। वेद के अध्येता को इन सभी का परिचयात्मक इतिहास जानना अपेक्षित है। यहां आगे संहिता आदि का क्रमशः वर्णन प्रस्तुत किया जा रहा है।

5.1 उद्देश्य

1. अध्येता को वैदिक साहित्य के इतिहास का सामान्य परिचय कराना और उसके अन्तर्गत वैदिक संहिता, ब्राह्मण, आरण्यक, उपनिषद्—साहित्य के विशेष स्वरूप का ज्ञान कराना।
2. छहों वेदाङ्गों—शिक्षा, कल्प, व्याकरण, निरुक्त, छन्द व ज्योतिष—इनसे अध्येता को सामान्यतः परिचित कराना।

5.2 वैदिक संहिता साहित्य

वेद मूल में एक ही था। कालान्तर में आवश्यकतानुरूप कृष्ण द्वैपायन व्यास द्वारा इसके चार भाग किये गये, जिन्हें संहिता कहा गया। इन संहिताओं का परस्पर पार्थक्य था—यज्ञों में उपयोग के लिए संकलित मंत्रों का परस्पर-भेद। एक जैसे उपयोग में आने वाले मंत्रों को एक-एक संहिता में संकलित किया गया। संहिताएं चार हैं—ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद व अथर्ववेद। संहिता-विभाजन में जो दृष्टि रही है, उसे यहां स्पष्ट किया जा रहा है—

5.2.1 संहिता-विभाजन की पृष्ठभूमि

सामान्य वैदिक यज्ञ (श्रौतायाग) में जो व्यक्ति पुरोहित के रूप में अनुष्ठान कराते थे, उन्हें 'ऋत्विक्' कहा जाता था (ऋतु+यज्+क्विन्)। इस शब्द का निर्वचन है—ऋतौ याजयति इति ऋत्विक्। अर्थात् जो यज्ञकाल में अनुष्ठान कराये। यह वैदिक युग के पुरोहितों की संस्था के रूप में प्रसिद्ध था, जिसके चार वर्ग थे—होता, उद्गाता, अध्वर्यु और ब्रह्मा। इन चारों द्वारा पृथक्-पृथक् उपयोग में आने वाले मंत्रों को चार रूपों में संकलित किया गया। उदाहरणार्थ— होता का काम यज्ञों में देवताओं का आवाहन करना था, जिससे वे प्रतीकात्मक रूप से आकर यज्ञ में अर्पित हव्य का ग्रहण करें (होता आहवयति देवान्—हेव+तृच)। ऋचाओं के छोटे-बड़े संग्रह (शस्त्र) बनाकर वह इस आवाहन-कार्य को सम्पन्न करता था। ऋचाओं में सम्बद्ध देवता की प्रशंसा, गुणों का वर्णन तथा यज्ञ में उपस्थित होने की याचना सामान्यतः होती थी। ऋचाएँ देवताओं के अर्चन का साधन थीं (ऋक् अर्चनी—अर्च—क्विन्)। होता के उपयोग के लिए उपलब्ध समस्त ऋचाओं का संकलन करके "ऋग्वेद-संहिता" बनी, इसीलिए ऋग्वेद को 'होतृवेद' भी कहा गया है।

इसी प्रकार उद्गाता का काम यज्ञों में संगीतात्मक ऋचाओं का विशेष पद्धति से गान करके देवताओं को प्रसन्न करना था। उसके उपयोग के लिए कतिपय उत्कृष्ट ऋचाओं का संकलन करके "सामवेद-संहिता" बनी। 'साम' का अर्थ है ऋचा और गान का समन्वय। ऐसा प्रसादन के लिए होता था, इसीलिए कालान्तर में प्रसादन, सान्त्वना, अपनी ओर मिलाना इत्यादि अर्थों में 'साम' शब्द का प्रयोग होने लगा। उद्गाता (उत्+गै+तृच्=जोर से गानेवाला) के उपयोग के लिए संकलित किये गये संकलन को सामवेद कहा गया। इसे 'उद्गात-वेद' (या औद्गात्रवेद) भी कहते हैं।

इसी प्रकार अध्वर्यु—नामक ऋत्विक् अध्वर अर्थात् यज्ञ के अनुष्ठान का पूरा भार सँभालता था—अध्वरं युनक्ति इत्यध्वर्युः (अध्वर+युज्), अध्वरं कामयते वा (अध्वर+क्यच्+उ=अध्वरयुः अध्वर्युः)। इस प्रकार निरुक्त में 'अध्वर्यु' का शब्द—निर्वचन किया गया है। स्पष्टतः यह सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण ऋत्विक् था, क्योंकि यज्ञ के उपक्रम (आरंभ) से लेकर परिचालन और समाप्ति तक सभी क्रिया-कलापों का संघटन-संयोजन इसी का कार्य था। यज्ञ-संचालन के लिए उपयोगी मंत्रों को उस युग में 'यजुस्' (यज्+उसि) कहते थे। इसीलिए अध्वर्यु के उपयोग के लिए आवश्यक सभी मंत्रों को संकलित करके

“यजुर्वेद-संहिता” बनी। अध्वर्यु का महत्त्व इसी से ज्ञात हो सकता है कि इसी के कार्य में प्रवृत्त होने पर अन्य ऋत्विजों का कार्य आरंभ होता है। यजुर्वेद को अध्वर्युवेद या आध्यवर्यव वेद कहा गया है।

इसी प्रकार, ब्रह्मा कहा जाने वाला ऋत्विक् यज्ञ का निरीक्षण करता है। सभी क्रियाओं के साक्षी के रूप में अनुमति देता है। वह अशुद्धियों का संशोधन, संकट का निवारण, भ्रम का समाधान आदि अनेक कार्य करता है। उसे तीनों वेदों में निपुण कहा गया है (सर्वविद्)। फिर भी उसकी अपनी क्रिया से सम्बद्ध मंत्रों को संकलित करके “अथर्ववेद-संहिता” बनायी गयी, जिसे अन्वर्थतः ‘ब्रह्मवेद’ भी कहा गया है।

5.2.2 वेद की शाखाएं आदि

इस प्रकार संहिताओं के वर्गीकरण के मूल में उपर्युक्त ऋत्विजों के कार्यों का विभाजन ही था। इन संहिताओं की कालान्तर में अनेक शाखाएँ बन गयीं, क्योंकि मंत्रों के संकलन, ग्रहणाग्रहण तथा उच्चारण से सम्बद्ध भेदों का आविर्भाव हुआ। धार्मिक उपयोग के कारण बहुत दिनों तक शाखाएँ सुरक्षित रहीं, किंतु क्रमशः अनेक शाखाएँ लुप्त हो गयीं। वैदिक शाखाओं की अधिकतम संख्या का निर्देश पतंजलि (150 ई. पू.) ने अपने महाभाष्य के प्रथम आह्निक में इस प्रकार किया है—**चत्वारो वेदाः साङ्गा सरहस्या बहुधा भिन्नाः—एकशतमध्वर्युशाखाः, सहस्रवर्त्मा सामवेदः, एकविंशतिधा बाह्वृच्यम्, नवधाथर्वणो वेदः।** अर्थात्

चार वेद अपने अंगों (वेदाङ्गों) तथा उपनिषदों के साथ अनेक प्रकार से पार्थक्य-युक्त हैं, यजुर्वेद की 101 शाखाएँ हैं, सामवेद एक सहस्र शाखाओं में विभक्त है, ऋग्वेद की 21 शाखाएँ हैं और अथर्ववेद नौ प्रकार का है।

इससे स्पष्ट है कि प्रत्येक वैदिक शाखा का अपना ब्राह्मण-ग्रन्थ, आरण्यक, उपनिषद् तथा वेदाङ्ग-साहित्य भी था। आज कुछ वैदिक शाखाओं के संहिता-ग्रंथ नहीं मिलते किन्तु ब्राह्मण-ग्रन्थ उपलब्ध हैं, किसी का कोई वेदाङ्ग-ग्रन्थ ही है, शेष साहित्य नहीं। शाखा के लुप्त होने की कोई व्यवस्था नहीं कि सबके सब ग्रन्थ समाप्त ही हो गये। फिर भी अधिकसंख्यक शाखाएँ सर्वथा लुप्त हो गयी हैं, जिनके नाम भर रह गये हैं।

5.2.3 ऋग्वेद संहिता

चारों वेदों में महत्त्व की दृष्टि से ‘ऋग्वेद’ का नाम प्रथम लिया जाता है, यह सभी वेदों में अभ्यर्हित है। आकार-प्रकार में अन्य संहिताओं की अपेक्षा ऋग्वेद-संहिता बड़ी है, इसकी ऋचाओं का संकलन अन्य वैदिक संहिताओं में प्रचुर रूप से हुआ है जिनमें सामवेद तो प्रायः पूर्णतः ऋगाश्रित ही है। यज्ञ की पूर्णता की दृष्टि से ऋग्वेद की ऋचाओं का महत्त्व माना गया है।

(शाखाएँ)—महाभाष्य में इस वेद की 21 शाखाओं का उल्लेख है किंतु चरणव्यूह के अनुसार पाँच शाखाएँ मुख्य हैं—शाकल, बाष्कल, आश्वलायन, शांखायन तथा माण्डूकायन। सम्प्रति शाकलशाखा

की ही संहिता उपलब्ध है। आश्वलायन शाखा के श्रौतसूत्र और गृह्यसूत्र ही मिलते हैं, शांखायन शाखा के ब्राह्मण और आरण्यक प्राप्य हैं। अन्य शाखाएँ नामशेष हैं।

(विभाजन)— ऋग्वेद का विभाजन दो प्रकार से किया गया है—(1) ऐतिहासिक विभाजन और (2) पाठपरक विभाजन। प्रथम विभाजन को **मण्डल-क्रम** कहते हैं जिससे ऋग्वेद दस मण्डलों में विभक्त है, प्रत्येक मण्डल अनुवाकों में और अनुवाक पुनः सूक्तों में विभक्त है। सूक्तों में ऋचाएँ या मंत्र हैं। इस प्रकार यह क्रम 'मण्डल-अनुवाक-सूक्त-मंत्र' के रूप में विभक्त है। यह क्रम अधिक प्रचलित और उपयुक्त है, देवताओं के अनुसार सूक्तों का वर्गीकरण इसमें हुआ है। ऋग्वेद के मंत्र का निर्देश करने के लिए क्रमशः मण्डल/सूक्त/मंत्र की संख्या दी जाती है, इसी विभाजन-पद्धति का आश्रय लिया जाता है।

दूसरा विभाजन **अष्टक-क्रम** कहलाता है, जिसके अनुसार सम्पूर्ण ग्रन्थ आठ अष्टकों में विभक्त है। प्रत्येक अष्टक में आठ-आठ अध्याय हैं। प्रत्येक अध्याय को अध्ययन की सुविधा की दृष्टि से वर्गों में विभक्त किया गया है। एक-एक वर्ग में मंत्र-समूह हैं। ऋग्वेद में कुल वर्गों की संख्या 2024 है। यह विभाजन ऋग्वेद के पारायण की दृष्टि से किया गया था। इसमें ऋषि या देवता की समानता पर विचार नहीं किया गया है। इस क्रम का निर्देश आधुनिक वैदिक विद्वान् नहीं करते, क्योंकि यह आकृतिमूलक है, ऐतिहासिक नहीं।

मण्डल-क्रम ऐतिहासिक एवं वैज्ञानिक विभाजन है। आधुनिक विद्वानों का मत है कि द्वितीय से सप्तम मण्डल तक का भाग ऋग्वेद का प्राचीनतम अंश है जिसमें प्रत्येक मण्डल किसी ऋषि या उसके वंश से सम्बद्ध मंत्रों का संग्रह है। ये ऋषि क्रमशः इस प्रकार हैं—गृत्समद (द्वि.मण्डल), विश्वामित्र (तृ.म.), वामदेव (च.म.), अत्रि (प.म.), भरद्वाज (ष.म.) तथा वसिष्ठ (स.म.)। वंश विशेष से सम्बद्ध होने के कारण इन मण्डलों को 'वंश-मण्डल' कहते हैं। अष्टम मण्डल में संकलित मंत्रों के ऋषि कण्व और अङ्गिरस् के वंशज हैं। नवम मण्डल की विशिष्टता केवल सोम-देवता की स्तुति है। सोम का एक नाम 'पवमान' होने से इस मण्डल का नाम '**पवमान-मण्डल**' भी है। इन मण्डलों के संकलित हो जाने पर इनके आदि और अन्त में एक-एक मण्डल (प्रत्येक में 191 सूक्त) जोड़ दिये गये जिससे ऋग्वेद 10 मण्डलों का (दशतयी श्रुतिः) बन गया। भाषा, छन्द, नवीन देवताओं तथा नव्य दार्शनिक कल्पनाओं के कारण दशम मण्डल अन्य मण्डलों की अपेक्षा अर्वाचीन है। यही मण्डल-क्रम की ऐतिहासिकता है।

(महत्त्व)— ऋग्वेद का महत्त्व इसकी विषय-वस्तु के अनुशीलन में निहित है। तदनुसार इसमें धर्म, संस्कृति, समाज, राजनीति अर्थ, दर्शन और काव्य का अद्भुत समन्वय है। भारतीय साहित्य के चतुर्विध विकास का उत्स ऋग्वेद में ही है। धर्म की दृष्टि से देवताओं की आराधना यज्ञों का अनुष्ठान, पाप-पुण्य और स्वर्ग-नरक की कल्पना इत्यादि है। संस्कृति की दृष्टि से आचार के नियम, कर्म, हिंसा-अहिंसा, शिष्टाचार और जीवन का लक्ष्य निरूपित है। समाज का निरूपण करते हुए

वर्ण-व्यवस्था, विवाह आदि का वर्णन, नगर-ग्राम की योजना, आहार, परिधान आदि बातें दी गयी हैं। इतिहास से सम्बद्ध ऋषि-वंश, देवासुर-युद्ध और विविध आख्यान दिये गये हैं। राजनीतिक दृष्टि से राजा और उसके कर्तव्य, शासन-तन्त्र, राष्ट्र की कल्पना, प्रजा के अधिकार आदि की चर्चा है। अर्थ की दृष्टि से कृषि-व्यवस्था, जीविका के साधन, व्यापार, विविध वृत्तियों का ग्रहण, मुद्रा, पशु-पालन आदि इसमें चित्रित हैं। दार्शनिक दृष्टि से पुरुष-सूक्त, नासदीय सूक्त आदि से सृष्टि के विकास, एकेश्वरवाद, मोक्ष आदि का वर्णन है। ऋग्वेद में काव्यत्व निर्विवाद है। उषा-देवता के वर्णन में तथा अन्यत्र भी शैली, अलंकार, छन्द आदि की दृष्टि से यहाँ काव्य का विकसित रूप मिलता है। काव्य-शास्त्र, नाटक और आख्यान के उद्गम के रूप में ऋग्वेद को सर्वत्र मान्यता मिली है। संसार के प्रथम ग्रन्थ के रूप में होने पर भी इसका रूप 'विश्वकोश' का है, जिसमें ज्ञान और मेधा के सभी पक्षों का चित्रण है।

ऋग्वेद के देवताओं में मित्र, वरुण, इन्द्र और नासत्या (अश्विना) का उल्लेख तुर्की में स्थित बोगाजकोई के लेखों में (1400 ई. पू.) प्राप्त हुआ है, जो सांस्कृतिक आदान-प्रदान का प्राचीनतम उदाहरण है। ऋग्वेद में विश्व-इतिहास के वे पृष्ठ मिलते हैं, जहाँ से ऐतिहासिक युग का आरंभ होता है।

5.2.4 यजुर्वेद संहिता

यजुर्वेद कर्मकाण्ड का वेद है जिसका संकलन अध्वर्यु-नामक ऋत्विक् के उपयोग के लिए किया गया था। यज्ञ के साधक मन्त्र 'यजुष्' (यज् + उसि-प्रत्यय) कहलाते हैं। यजुष् गद्य-पद्यात्मक है, इसीलिए कहा गया है-अनियताक्षरावसानं यजुः (जिसमें पद्यों के समान अक्षरों की संख्या निश्चित नहीं होती)।

इसके दो सम्प्रदाय हैं-ब्रह्म-सम्प्रदाय तथा आदित्य-सम्प्रदाय। ब्रह्म-सम्प्रदाय का वेद 'कृष्ण यजुर्वेद' है और आदित्य-सम्प्रदाय का वेद 'शुक्ल यजुर्वेद' है। कृष्ण यजुर्वेद की संहिताओं में मन्त्रों के साथ उनकी व्याख्या, विवरण एवं विनियोग भी मिश्रित है। मिश्रण या अस्वच्छता के कारण वह 'कृष्ण' है (विनियोगमिश्रित्वं कृष्णत्वम्)। दूसरी ओर शुक्लयजुर्वेद की संहिताओं में शुद्ध मन्त्र हैं, विनियोगों का मिश्रण नहीं है। यही इसका शुक्लत्व है (विनियोगामिश्रितत्वं शुक्लत्वम्)।

यद्यपि प्राचीनकाल में यजुर्वेद की 101 या 100 शाखाएँ थीं, जैसी कि पतजंलि के महाभाष्य (एकाशतमध्वर्युशाखाः), सर्वानुक्रमणी (यजुरेकशताध्वरम्) तथा कूर्मपुराण (49/51 शाखानां तु शतेनाथ यजुर्वेदमथाकरोत्) में उल्लेख है, किंतु कालक्रम से इसकी शाखाएँ लुप्त होने लगीं। आज केवल छह शाखाएँ ही सुरक्षित हैं-शुक्ल यजुर्वेद की दो तथा कृष्ण यजुर्वेद की चार।

5.2.4.1 शुक्ल यजुर्वेद की संहिताएँ

शुक्ल यजुर्वेद की संहिता का नाम वाजसनेयि-संहिता है जिसकी दो शाखाएँ हैं-माध्यन्दिन तथा काण्व। वस्तुतः एक ही मूल संहिता दो रूपों या संस्करणों में उपलब्ध है। दोनों में अध्यायों की संख्या

चालीस ही है, किन्तु मंत्रों की संख्या में भेद है—माध्यन्दिनसंहिता में 1975 मंत्र हैं, जबकि काण्व संहिता में मंत्रों की संख्या 2086 है। विषयवस्तु दोनों की समान ही है। माध्यन्दिन का प्रचार उत्तर भारत में तथा काण्व का प्रचार महाराष्ट्र में है। इसीलिए उत्तरभारत में 'यजुर्वेद' कहने से उसी प्रकार केवल माध्यन्दिन (वाजसनेयि) संहिता का बोध होता है, जिस प्रकार 'वेदान्त' कहने से केवल शांकर-दर्शन समझा जाता है यद्यपि यह अदूरदृष्टि है। ग्रिफिथ ने भी यजुर्वेद के रूप में इसी संहिता का अंग्रेजी अनुवाद प्रस्तुत किया है।

प्रतिपाद्य विषय (शुक्लयजुर्वेद)—शुक्लयजुर्वेद की माध्यन्दिन-वाजसनेयि-संहिता का प्रतिपाद्य ही यजुर्वेद की सभी संहिताओं में प्रायः निर्दिष्ट है। इसीलिए 'प्रकृति'—रूप में इसी की विषय-वस्तु का निर्देश किया जाता है। अध्वर्यु के लिए संकलित होने से यजुर्वेद में मुख्यतः कर्मकाण्ड का निरूपण है। अध्वर्यु यज्ञ के परिमाण का नियामक होता है—यज्ञस्य मात्रां विमिमीत उत्त्वः (ऋ.10/71/11)। वह अध्वर का संयोजक-सम्पादक (Organiser) होता है (अध्वरं युनक्ति अध्वरस्य नेता)। यज्ञ के मुख्य कार्य—कलाप यजुर्वेद के प्रतिपाद्य हैं।

इसमें दर्शपौर्णमास यज्ञ, सोमयाग, अग्निष्टोम यज्ञ, सौत्रामणि यज्ञ, अश्वमेघ यज्ञ आदि यज्ञों की विधियों के मंत्र हैं।

यजुर्वेद का 40 वाँ अध्याय विशुद्ध ज्ञानकाण्डात्मक है जो ईशावास्योपनिषद् के रूप में आगे चलकर प्रसिद्ध हुआ। इसमें 27 मंत्र हैं। इसका अंतिम मंत्र इस वेद को आदित्य सम्प्रदाय के अन्तर्गत निर्दिष्ट करता है—

हिरण्मयेन पात्रेण सत्यस्यापिहितं मुखम्।

योऽसावादित्ये पुरुषः सोऽसावहम्॥

इस प्रकार यजुर्वेद में कर्मकाण्ड की परिणति ज्ञानकाण्ड के रूप में दिखायी गयी है।

5.2.4.2 (कृष्णयजुर्वेद की संहिताएँ)

इस वेद की चार शाखाओं की चार संहिताएँ उपलब्ध हैं—तैत्तिरीय, मैत्रायणी, काठक (या कठ) एवं कपिष्ठल-कठ। इनका परिचय दिया जाता है—

- (1) **तैत्तिरीय संहिता**— यह कृष्ण यजुर्वेद की उपलब्ध संहिताओं में महत्त्व तथा प्रचार की दृष्टि से प्रमुख है। इसमें 7 काण्ड, 44 प्रपाठक 631 अनुवाक तथा 2198 मंत्र हैं। इसका विशेष प्रचार महाराष्ट्र, आन्ध्र तथा दक्षिण भारत के राज्यों में हैं। सायणाचार्य ने वेदभाष्यों का आरंभ इसी पर भाष्य लिखकर किया था। वे इसी शाखा के थे। तैत्तिरीय शाखा सर्वाङ्गपूर्ण है, क्योंकि इसकी संहिता, ब्राह्मण, आरण्यक, उपनिषद् तथा सूत्रग्रन्थ (श्रौत, गृह्य, धर्म तथा शुल्ब भी) ये सभी

उपलब्ध हैं। कृष्णयजुर्वेद से सम्बद्ध होने के कारण तैत्तिरीय संहिता में मंत्रों के साथ विनियोग (व्याख्या) भी मिश्रित हैं। शुक्ल यजुर्वेद के समान इसमें भी विविध यज्ञों का वर्णन है।

- (2) **मैत्रायणी-संहिता**— यह कृष्णयजुर्वेद की मैत्रायणीय शाखा की संहिता है। इसमें भी तैत्तिरीय संहिता के समान मंत्र और विनियोग (व्याख्या) परस्पर संयुक्त हैं। इसमें मंत्रों का स्वराङ्कन नहीं है, यद्यपि ये मंत्र ऋग्वेद के प्रथम, षष्ठ और दशम मण्डलों से मुख्यतः संकलित हैं। इस संहिता में 4 काण्ड, 54 प्रपाठक तथा 2144 मंत्र हैं। इस शाखा को ही कलाप या कालापक भी कहते थे। इसके प्रथम काण्ड के 11 प्रपाठकों में दर्श-पौर्णमास, सोमयाग, अध्वर, आधान, पुनराधान, चातुर्मास्य और वाजपेय का वर्णन है। द्वितीय काण्ड के तेरह प्रपाठकों में काम्य इष्टि, राजसूय तथा अग्निचिति का विवेचन है। तृतीय काण्ड (16 प्रपाठक) में अग्निचिति, अध्वरविधि, सौत्रामणी तथा अश्वमेध का विवरण है। खिल अर्थात् परिशिष्ट के रूप में प्रसिद्ध चौदह प्रपाठकों वाले चतुर्थ काण्ड में राजसूय आदि यज्ञों से सम्बद्ध सामग्री संकलित है। इसका सम्पादन श्रोडर ने चार खण्डों में किया था (1881-6ई.)। इसके पूर्व वेबर ने 1847 ई. में इसका संस्करण प्रकाशित किया था।
- (3) **कठ-संहिता**— पतंजलि के अनुसार इसका प्रचार गाँव-गाँव में था, किंतु आज इसका प्रचार लुप्तप्राय है। यह 40 स्थानकों में विभक्त है, जिनमें 843 अनुवाक और 3091 मंत्र हैं। मंत्रों और ब्राह्मणों की सम्मिलित संख्या अठारह सहस्र कही गयी है। इस संहिता का मैत्रायणी-संहिता से बहुत साम्य है, दोनों के अन्त में अश्वमेध-याग का वर्णन है। किंतु कठ-संहिता में स्वराङ्कन मिलता है, मैत्रायणी में नहीं। इस संहिता में भी पुरोडाश, अध्वर, राजसूय, वाजपेय आदि का विवेचन है।
- (4) **कपिष्ठल-कठ-संहिता**— यह संहिता अपूर्ण रूप से मिली है। ऋग्वेद के समान इसका विभाजन भी अष्टकों और अध्यायों में है। इसके छह अष्टकों में 48 अध्याय हैं, किंतु अध्याय 9 से 24, 32, 33 तथा 43 सर्वथा खण्डित हैं। डॉ. रघुवीर ने 1932 ई. में इसे लाहौर से प्रकाशित कराया था।

5.2.5 सामवेदसंहिता

सामन्-अर्थात् गान का वेद सामवेद है। गानयोग्य मंत्रों का इस में संकलन है। ऋचा व गान का समन्वय ही साम है। यज्ञ में उद्गाता के उपयोग के लिए इन मंत्रों का संकलन हुआ था। इसलिए इसे औद्गात्रवेद भी कहा जाता है। उद्गाता ऋचाओं का शास्त्रीय तथा परम्परागत गान करता है। सामवेद में ऋग्वेद के अष्टम-नवम मण्डलों से ही ऋचाएँ संकलित हैं जो सोमयाग के अवसर पर गेय हैं।

गान की पृथक् परंपराओं के कारण किसी समय इस वेद की एक सहस्र शाखाएँ थीं (सहस्रवर्त्मा सामवेदः-महाभाष्य)। यही बात चरणव्यूह तथा पुराणों में भी कही गयी है। शौनक से कहा है कि अनेक शाखाओं का नाश इन्द्र ने इसलिए वज्र-प्रहार द्वारा कर दिया कि अनध्याय के दिनों में इनका पाठ होने

लगा था (अनध्यायदिवसेष्वधीयानास्ते शतक्रतुवज्रेणाभिहताः)। आज सामवेद की केवल तीन शाखाएँ उपलब्ध हैं—कौथुमीय, राणायणीय एवं जैमिनीय (या तलवकार)। ये तीनों शाखाएँ क्रमशः गुजरात, महाराष्ट्र एवं कर्णाटक में प्रचलित हैं। इनमें कौथुमीय शाखा सर्वाधिक लोकप्रिय है, राणायणीय शाखा से भी यह मिलती-जुलती है। मंत्रों का क्रम दोनों में समान है, केवल गणना-पद्धति में भेद है। कौथुमीय शाखा में जहाँ अध्याय, खण्ड और मंत्र के रूप में विभाजन है, वहाँ राणायणीय शाखा में प्रपाठक, अर्धप्रपाठक, दशति के रूप में विभाजन मिलता है।

सामवेद की कुल मंत्र संख्या 1875 हैं जो पूर्वार्चिक (650 मंत्र) तथा उत्तरार्चिक (1225 मंत्र)—इन भागों में विभक्त है। सामवेद के पूर्वार्चिक में 4 काण्ड हैं—आग्नेय, ऐन्द्र, पवमान तथा आरण्यकाण्ड (महानाम्नी के साथ)। इसे छह अध्यायों के रूप में भी वर्गीकृत किया गया है। उत्तरार्चिक 21 अध्यायों या नौ प्रपाठकों में विभक्त है। पूरे सामवेद में 1771 ऋचाएँ ली गयी हैं अर्थात् 104 मंत्र इसके अपने हैं। ऋग्वेद के 1771 मंत्रों में 267 पुनरुक्त हैं, सामवेद के मंत्रों में भी पाँच की पुनरुक्ति है।

विषयवस्तु—सामवेद मुख्यतः उपासना से सम्बद्ध है, सोमयाग में आवाहन के योग्य देवताओं की स्तुतियाँ इससे प्राप्त होती हैं। ऋग्वेद की धर्मविषयक सामग्री से पृथक् यहाँ कुछ नहीं है। पूर्वार्चिक में अग्नि, इन्द्र और पवमान सोम से सम्बद्ध मंत्र दिये गये हैं। इन मंत्रों में सामगान की दृष्टि से प्रत्येक मंत्र के लय का स्मरण रखना होता है क्योंकि इनका प्रयोग उत्तरार्चिक में होता है। इस प्रकार पूर्वार्चिक में मूलभूत ऋचाएँ संकलित हैं, उत्तरार्चिक में उन्हीं के लयों (धुनों) पर गाने योग्य (धुनों) पर गाने योग्य तृच (तीन ऋचाओं का समूह) तथा प्रगाथों का संग्रह है। उत्तरार्चिक पूरक के रूप में है।

यज्ञों के समय उद्गाता इन मंत्रों का गान करता था। पूरे सामवेद में सोमरस, सोम-देवता, सोमयाग और सोमपान का महत्त्व अंकित है, इसलिए इसे सोम-प्रधान वेद कह सकते हैं। अध्यात्मवादियों की दृष्टि में सोम ब्रह्म या शिव है, जिसकी प्राप्ति का साधन उपासना है—सामवेदीय संगीत एवं भक्ति के रूप में यह उपासना होती है।

5.2.6 अथर्ववेद संहिता

लौकिक सामग्री का प्राचुर्य होने के कारण अथर्ववेद अन्य वैदिक संहिताओं से विलक्षण है। अन्य वेदों में जहाँ धर्म और यज्ञानुष्ठान को महत्त्व मिला है, वहाँ अथर्ववेद यज्ञेतर विषयों का बहुल रूप से वर्णन करता है। फिर भी यज्ञ के सम्पादक ऋत्विजों में 'ब्रह्मा' के कार्य से इसके मंत्र सम्बद्ध हैं। ब्रह्मा यज्ञ का निरीक्षण करता है तथा विभिन्न क्रियाओं की अनुमति देता है।

इसीलिए इस वेद को 'ब्रह्मवेद' भी कहा गया है। ब्रह्मा ही यज्ञ की विघ्न-बाधाओं का भी निवारण करता है। अथर्ववेद में ऐसे मंत्रों का भी संग्रह है, जो भौतिक बाधाओं को दूर करते हैं।

(शाखाएँ)— महाभाष्य में अथर्ववेद की 9 शाखाओं का निर्देश है (नवधाथर्वणो वेदः)। इनके नाम क्रमशः इस प्रकार हैं—पैप्पलाद, तौद, मौद, शौनकीय, जाजल, जलद, ब्रह्मवेद, देवदर्श तथा चारणवैद्य। अभी केवल दो शाखाओं (पैप्पलाद एवं शौनकीय) की संहिताएँ मिलती हैं। शौनकीय या शौनक शाखा का अथर्ववेद अधिक लोकप्रिय है। इसमें बीस काण्ड, 730 सूक्त और 5987 मंत्र हैं। इनमें षष्ठ काण्ड (454 मंत्र), एकोनविंश काण्ड (453 मंत्र) तथा विंशकाण्ड (958 मंत्र) बड़े हैं। सबसे छोटे काण्ड (सप्तदश काण्ड) में केवल 30 मंत्र हैं। अथर्ववेद में 50 से अधिक सूक्त गद्यात्मक मंत्रों से पूर्ण हैं।

काण्डों के अनुसार अथर्ववेद में इस प्रकार की विषय-वस्तु है—प्रथम काण्ड में विविध रोगों की निवृत्ति, बन्धन से मुक्ति, राक्षसों का विनाश, सुख प्राप्ति आदि का निरूपण है। द्वितीय काण्ड में रोग, शत्रु एवं कृमि के नाश का वर्णन तथा दीर्घायुष्य की प्रार्थना है। तृतीय काण्ड में शत्रुसेना का सम्मोहन, राजा का निर्वाचन, शाला—निर्माण, कृषि तथा पशुपालन का विवरण है। चतुर्थ काण्ड में ब्रह्मविद्या, विषनाशन, राज्याभिषेक, वृष्टि, पापमोचन तथा ब्रह्मौदन का वर्णन है। पंचम काण्ड में मुख्यतः ब्रह्मविद्या और कृत्या (राक्षसी) के परिहार से सम्बद्ध मंत्र हैं। षष्ठ काण्ड में दुःस्वप्न—नाशन और अन्न—समृद्धि के मंत्र हैं। सप्तम काण्ड आत्मा का वर्णन करता है। अष्टम काण्ड में मुख्यतः विराट् ब्रह्म का वर्णन है। नवम काण्ड में मधुविद्या, पंचौदन अज, अतिथिसत्कार, गोमहिमा एवं यक्ष का नाश—ये विषय हैं। दशम काण्ड में कृत्या—निवारण, ब्रह्मविद्या, शत्रुनाश के लिए वरण मणि, सर्पविषनाशन एवं ज्येष्ठ ब्रह्म का वर्णन है।

एकादश काण्ड में ब्रह्मौदन, रुद्र तथा ब्रह्मचर्य का वर्णन है। द्वादश काण्ड में प्रसिद्ध पृथ्वी सूक्त है, जिसमें भूमि का महत्त्व वर्णित है। त्रयोदश काण्ड में पूर्णतः अध्यात्म—प्रकरण है। चतुर्दश काण्ड विवाह—संस्कार से सम्बद्ध हैं, पंचदश काण्ड में ब्रात्य—ब्रह्म का गद्य में वर्णन है। षोडश काण्ड में दुःखमोचन के लिए गद्यात्मक मंत्र हैं। सप्तदश काण्ड में अभ्युदय के लिए प्रार्थना है, इसमें एक सूक्त और कुल तीस मंत्र हैं। अष्टादश काण्ड पितृमेध से सम्बद्ध है। एकोनविंश काण्ड में विविध विषय हैं—यज्ञ, नक्षत्र, विविध मणियाँ, छन्दों के नाम, राष्ट्र का वर्णन, काल का महत्त्व। विंश काण्ड में सोमयाग का वर्णन तथा इन्द्र की स्तुति है। इसके अन्त में 10 सूक्त 'कुन्ताप—सूक्त' के नाम से प्रसिद्ध हैं (20/127-36), जिनमें देवता, ऋषि, छन्द या विनियोग किसी का निर्देश नहीं है, इनका पद—पाठ भी नहीं है। ये खिल—सूक्त हैं।

(विषय—विभाजन)— काण्डों की उपर्युक्त विषय—सूची के आधार पर अथर्ववेद के सूक्तों में प्रतिपादित विषयों को तीन वर्गों में रखा गया है—1. अध्यात्म प्रकरण—इसमें शुद्ध दर्शन के साथ ब्रह्मचर्य, गृहस्थ, वानप्रस्थ—संन्यास (ब्रात्य), आयुर्वेद, ओषधि—भेषज्य, रोगादिनिवारण, कृमिनाशन, विषनाशन तथा अरिष्टनाशन का विवेचन है। 2. अधिभूतप्रकरण—इसके अन्तर्गत राज्यशासन, विजयसाधन, राष्ट्र का वर्णन, संग्राम और सेना—संयोजन, शत्रुनाशन, मणिधारण, पापादिनाशन, अन्न—समृद्धि तथा सुख—सम्पत्प्राप्ति का वर्णन है। 3. अधिदैवतप्रकरण—इसके अन्तर्गत विविध देवताओं की स्तुतियाँ

(जैसे-अग्नि, आदित्य, इन्द्र, उषा, विष्णु, सूर्य आदि), कुन्ताप सूक्त, यज्ञादि, काल, पशु-पालन एवं वैश्यव्यवसाय का निरूपण रखा गया है। इसे भी सूक्ष्म रूप से अनेक प्रकारों में विभक्त किया गया है—

5.3 ब्राह्मण साहित्य

आपस्तम्ब ने यज्ञ-परिभाषा (परि.सं.31) में कहा है—**मन्त्रब्राह्मणयोर्वेदनामधेयम्**। अर्थात् मन्त्र-भाग तथा ब्राह्मण-भाग दोनों को 'वेद' कहते हैं। मन्त्रों के अनन्तर ब्राह्मण-भाग का विकास मन्त्रों के उपयोग की व्याख्या के लिए हुआ है। वेद के भाग-विशेष का सूचक 'ब्राह्मण' शब्द नपुंसकलिंग होता है—ब्राह्मणम्। यद्यपि आरण्यक तथा उपनिषद् के नाम से प्रसिद्ध ग्रन्थ भी ब्राह्मण के ही अंग हैं, तथापि इन ग्रंथों को मन्त्रव्याख्यानात्मक वेद-भाग (ब्राह्मण) से पृथक् मानकर यहाँ केवल विशेष अर्थ में ही ब्राह्मण-ग्रंथों का विवेचन वांछनीय है।

'ब्राह्मण' शब्द 'ब्रह्मन्' से निष्पन्न है। यह ब्रह्मन्-शब्द भी अनेकार्थक है—मन्त्र, यज्ञ, रहस्य तथा परमसत्ता। मन्त्रों की व्याख्या और विनियोग का वर्णन ब्राह्मण-ग्रंथों में मिलता है। इसी प्रकार वैदिक युग में प्रचलित यज्ञों का भी विवरण इनके वाक्यों में प्राप्त होता है। रहस्य के अर्थ में 'ब्रह्मन्' शब्द का ग्रहण करने पर 'ब्राह्मण' का अर्थ होता है—यज्ञकर्म का भौतिक रूप बतलाने के साथ उसका आध्यात्मिक एवं वैज्ञानिक रहस्य उद्घाटित करने वाला ग्रंथ। वैसे भट्टभास्कर ने तैत्तिरीय-संहिता (1/5/1) के भाष्य में 'ब्राह्मण' शब्द का निर्वचन इस प्रकार दिया है—ब्राह्मणं नाम कर्मणस्तन्मन्त्राणां च व्याख्यानग्रन्थः। यज्ञ के विविध कर्म अपने विस्तार के कारण 'ब्रह्म' कहलाते थे, उनमें संहितागत मन्त्रों का उपयोग होता था। इसलिए उन कर्मों तथा उनमें प्रयुक्त मन्त्रों की व्याख्या करने के कारण ऐतरेय, शतपथ आदि ग्रंथों को 'ब्राह्मण' कहा गया।

'ब्राह्मण' शब्द का व्युत्पत्तिलभ्य अर्थ इसके विषय का निरूपण करता है कि मन्त्र-भाग तथा उससे सम्बद्ध क्रियाओं का प्रतिपादन इन ग्रंथों में हुआ है। ब्राह्मणों की विषय-वस्तु के निरूपण के प्रसंग में दस प्रकारों की चर्चा शबरस्वामी ने की है—

हेतुर्निर्वचनं निन्दा प्रशंसा संशयो विधिः।

परक्रिया पुराकल्पो व्यवधारण-कल्पना।

उपमानं दशैते तु विधयो ब्राह्मणस्य तु।।

(मीमांसासूत्रभाष्य 2/1/33)

तदनुसार ब्राह्मण-ग्रन्थों में हेतु-विचार, निर्वचन (शब्दों में निहित क्रिया के आधार पर अर्थ-प्रकाशन), निन्दा, प्रशंसा, संशय विधि (कर्म की प्रेरणा देने वाले वाक्य), परक्रिया (एक व्यक्ति की कथा), पुराकल्प (प्राचीन कथाएँ), व्यवधारण (संदेह की स्थिति में समुचित निर्णय लेना) तथा उपमान (समान दृष्टान्त द्वारा विषय को स्पष्ट करना)—ये ही दस बातें पायी जाती हैं। इनमें निन्दा और प्रशंसा

का समावेश 'अर्थवाद' (स्तुतिनिन्दापरं वाक्यमर्थवादः) में हो जाता है। परक्रिया और पुराकल्प वस्तुतः आख्यान-रूप हैं जिसमें प्राचीन कथाओं को प्रकाशित किया जाता है। ये आख्यान किसी कर्म के विधान या निन्दा के क्रम में दिये गये हैं।

मीमांसकों ने विधि और अर्थवाद के रूप में दो ही विषयों के अन्तर्गत ब्राह्मण-ग्रन्थों की समस्त सामग्री का विवेचन किया है। तदनुसार कर्म की प्रेरणा देनेवाले वाक्य विधि हैं और विधि के अतिरिक्त जो कुछ भी है वह अर्थवाद है (विधिशेषोऽर्थवादः)। किंतु अर्थवाद को इतना व्यापक परिवेश देना उचित नहीं है। 'अर्थवाद' का उद्देश्य केवल इतना ही है कि विधि-वाक्य में विहित कर्म की प्रशंसा या समर्थन करे और अविहित कर्म की निन्दा करे (विधिना त्वेकवाक्यत्वात् स्तुत्यर्थेन विधीनां स्युः, मीमांसासूत्र 1/2/27)। विनियोग, निर्वचन, हेतु आदि का विवेचन अर्थवाद से पृथक् रूप में करने से ही ब्राह्मण-ग्रन्थों का वास्तविक रूप प्रकट होता है।

विभिन्न वेदों की पृथक्पृथक् शाखाओं में ब्राह्मण-ग्रन्थों का स्वतंत्र रूप से विकास हुआ था। इस दृष्टि से संहिताओं के समान ब्राह्मण भी संकलित हुए, किंतु जिस प्रकार संहिताएँ नष्ट हुईं, उसी प्रकार अनेक ब्राह्मण-ग्रंथ भी नष्ट हो गये। आज जिन ब्राह्मणों की प्राप्ति हुई है वे इस प्रकार हैं—

- (क) ऋग्वेद के ब्राह्मण—1. ऐतरेय ब्राह्मण तथा 2. कौषीतकि (या शाङ्खायन) ब्राह्मण।
- (ख) शुक्लयजुर्वेद का ब्राह्मण—1. शतपथ ब्राह्मण (माध्यन्दिन तथा काण्व शाखा)
- (ग) कृष्णयजुर्वेद का ब्राह्मण—1. तैत्तिरीय ब्राह्मण। इसके अतिरिक्त तैत्तिरीय, मैत्रायणी आदि संहिताओं के ब्राह्मण-भाग भी ग्राह्य हैं।
- (घ) सामवेद के ब्राह्मण—1. पंचविंश (या ताण्ड्य), 2. षड्विंश, 3. सामविधान, 4. आर्षेय 5. दैवत, 6. उपनिषद्-ब्राह्मण, 7. संहितोपनिषद्, 8. वंशब्राह्मण, 9. जैमिनीय (तलवकार)।
- (ङ) अथर्ववेद का ब्राह्मण—1. गोपथ-ब्राह्मण (शौनक शाखा से सम्बद्ध)।

5.4 आरण्यक साहित्य

संहिताएँ, ब्राह्मण, आरण्यक और उपनिषद् वैदिक साहित्य के मुख्य अंग हैं। ये सब परस्पर सम्बन्धित हैं, अन्योन्याश्रित हैं, और एक दूसरे पूरक हैं। इस दृष्टि से ब्राह्मण ग्रन्थों के बाद आरण्यक ग्रन्थों का स्थान आता है। ये इस दृष्टि से ब्राह्मण ग्रन्थों और उपनिषदों के बीच की कड़ी हैं। कर्मकाण्ड की दृष्टि से ब्राह्मण ग्रंथ एवं आरण्यक ग्रंथ परस्पर सम्बन्धित हैं तो ज्ञानकाण्ड की दृष्टि से आरण्यक ग्रंथ एवं उपनिषद् परस्पर सम्बन्धित हैं। ये ब्राह्मण ग्रन्थों के अंतिम रूप हैं तो उपनिषदों के पूर्वरूप। यही कारण है कि कुछ आरण्यक ग्रंथ या तो ब्राह्मण ग्रन्थों से संयुक्त हैं या फिर उपनिषदों से।

ब्राह्मण ग्रन्थों में यज्ञ की प्रायः कर्मकाण्डपरक व्याख्या की गई है, लेकिन आरण्यक ग्रन्थों में यज्ञ का आध्यात्मिक व्याख्या दी गई है। इस प्रकार ये ग्रंथ कर्म मार्ग और ज्ञान मार्ग का समन्वय करते हैं।

ब्राह्मण ग्रंथों के यज्ञ सम्बन्धी विस्तार से ऊब कर कुछ विद्वान् आध्यात्मिकता की तरफ अग्रसर हुए। उन्होंने यज्ञ की व उससे सम्बन्धित सभी वस्तुओं की आध्यात्मिक दृष्टि से व्याख्या करनी प्रारंभ कर दी। यह उनका आध्यात्मिकता की तरफ अग्रसर होने का पहला कदम था। इस प्रकार ये ग्रंथ एक परिवर्तनशील युग का प्रतिनिधित्व करते हैं। इन ग्रंथों ने ब्राह्मण ग्रंथों में प्रतिपाद्य विषय की उपनिषदों की शैली में व्याख्या की है।

आरण्यक ग्रंथों को आरण्यक इसीलिए कहा जाता है, क्योंकि इनका पठन पाठन नगरों तथा ग्रामों में न होकर अरण्यों (वनों) में होता था। सायणाचार्य ने इन ग्रंथों के नामकरण के सम्बन्ध में स्पष्ट किया है कि अरण्यों अर्थात् वनों में पढ़ाए जाने के कारण इनका नाम आरण्यक पड़ा 'अरण्य एव पाठ्यत्वादारण्यकमितीर्यते'। सुप्रसिद्ध विद्वान् एस. बी. आप्टे ने अपने सुप्रसिद्ध 'संस्कृत अंग्रेजी कोष' में आरण्यक शब्द की व्याकरणसम्मत व्याख्या करके यह स्पष्ट किया है कि आरण्यक ग्रंथ एक प्रकार से धार्मिक एवं दार्शनिक लेख हैं, जो ब्राह्मण ग्रंथों से सम्बन्धित हैं और जिनका निर्माण या तो अरण्यों में हुआ या जो वनों में पढ़ाए जाने के लिए रचे गए। 'अरण्येऽनूच्यमानत्वात् आरण्यकम्' एवं 'अरण्येऽध्ययनादेव आरण्यकमुदाहृतम्'।

ब्राह्मण और उपनिषदों की भांति आरण्यक ग्रंथों की संख्या भी बहुत थी, परंतु जिस प्रकार आजकल कुछ ही ब्राह्मण और उपनिषद् ग्रंथ प्राप्त होते हैं, उसी प्रकार आजकल केवल आठ ही आरण्यक ग्रंथ उपलब्ध हैं। ऐतरेय और सांख्यारण्यक ऋग्वेद के हैं, जैमिनीयोपनिषदारण्यक एवं छान्दोग्यारण्यक सामवेदके आरण्यक ग्रंथ हैं, बृहदारण्यक, काण्व बृहदारण्यक और माध्यन्दिन बृहदारण्यक शुक्ल यजुर्वेद के एवं तैत्तिरीयारण्यक कृष्ण यजुर्वेद का आरण्यक ग्रंथ है। अथर्ववेद का कोई भी आरण्यक ग्रंथ नहीं है। सम्भवतः अथर्ववेद के लिए किसी आरण्यक ग्रंथ की आवश्यकता ही अनुभव नहीं की गई, क्योंकि अथर्ववेद मुख्य रूप से आधिभौतिक विषयों से सम्बन्धित है।

आरण्यक ग्रंथों में वह ज्ञान था जिसे अदीक्षितों के लिए हानिप्रद तथा अप्रदेय समझा जाता था। इनका अध्ययन अरण्यवासी महर्षियों के द्वारा किया जाता था। जिस प्रकार ब्राह्मणग्रंथों में गृहस्थाश्रम के यज्ञ विधानों और दूसरे कुछ कर्मों का वर्णन है, उसी प्रकार आरण्यक ग्रंथों में वानप्रस्थ आश्रम के जितने भी यज्ञ, महाव्रत तथा होत्रादि कर्म हैं, उनकी विधियाँ और व्याख्याएँ दी गई हैं। वानप्रस्थियों के कर्मकाण्ड सम्बन्धी ग्रंथ होने के कारण उनमें यज्ञ की आध्यात्मिक व्याख्या का प्रतिपादन भी बड़े सुरुचिपूर्ण ढंग से किया गया है। इनमें यज्ञों के रहस्य का विवेचन किया गया है तथा पुरोहितों के कार्यों पर भी प्रकाश डाला गया है। शुक्ल यजुर्वेद की माध्यन्दिन एवं काण्व शाखाओं के आरण्यकों में आत्मतत्त्व के ज्ञान का उपदेश बड़े सरल और सहज ढंग से दिया गया है। कभी-कभी तो आरण्यक और उपनिषदों में इतनी समानता हो जाती है कि उन्हें पृथक् करना कठिन हो जाता है।

निष्कर्ष रूप में यह कहा जा सकता है कि उपनिषद् ग्रंथों में जिस विस्तृत ब्रह्मज्ञान तथा अद्वैतवाद का प्रतिपादन है, उसका मूलाधार ये आरण्यक ग्रंथ ही हैं। अतः वैदिक साहित्य में इनका बहुत महत्त्वपूर्ण स्थान है।

5.5 उपनिषद्-साहित्य

ब्राह्मण-ग्रंथ जिस प्रकार वैदिक कर्मकाण्ड के शिखर-ग्रंथ हैं, उसी प्रकार वैदिक ज्ञानकाण्ड का उत्कर्ष उपनिषद्-ग्रंथों में प्राप्त होता है। वे वैदिक संहिताओं, ब्राह्मणों तथा आरण्यकों के अंग हैं—इन सभी रूपों की उपनिषदें हैं। वैदिक वाङ्मय के अंतिम भाग में निबद्ध होने तथा उनके सारभूत सिद्धान्तों का निरूपण करने के कारण उन्हें 'वेदान्त' भी कहा जाता है। प्रचार की दृष्टि से सम्पूर्ण वैदिक साहित्य में उपनिषद् अग्रणी हैं। देश-विदेश के असंख्य विद्वानों तथा दार्शनिकों ने उपनिषदों के प्रति आदर-भाव प्रकट किया है।

(व्युत्पत्ति तथा अर्थ)—'उप' तथा 'नि' इन दो उपसर्गों के बाद सद्-धातु से क्विप् प्रत्यय लगकर 'उपनिषद्' शब्द निष्पन्न होता है। साधारणतः इसका अर्थ होता है—गुरु के समीप (उप) बैठकर (निषद्य) प्राप्त किया गया ज्ञान। फिर भी सद्-धातु के तीन अर्थों से आध्यात्मिक उत्कर्ष वाले निर्वचन किये गये हैं। सद्-धातु के तीन अर्थ हैं—विशरण (नाश), गति (ज्ञान या प्राप्ति) तथा अवसादन (शिथिल करना)। इसीलिए शंकराचार्य ने कहा है—उपनिषादयति सर्वानर्थकरं संसारं विनाशयति, संसारकारणभूतामविद्यां च शिथिलयति, ब्रह्म च गमयति (ईशावास्योपनिषद्भाष्य का आरंभ)। अर्थात् सभी अनर्थों को उत्पन्न करनेवाले संसार (जीव का बार-बार जन्म-मरण होना) का यह विनाश करती है, संसार के हेतु स्वरूप अविद्या को शिथिल करती है और ब्रह्म की प्राप्ति (अवगति-ज्ञान) कराती है।

उपनिषदों का अध्ययन एकान्त में गुरु के प्रसार से होता रहा है, अतः उन्हें 'रहस्यविद्या' भी कहते हैं। उनमें मुख्य रूप से ब्रह्म, सृष्टि, जीव, आत्मा, प्राण, पुनर्जन्म, कर्म तथा नैतिकता का विवेचन है। उनमें उपदेश की अनेक विधियों का प्रयोग मिलता है—कहीं प्रतीक रूप में, कहीं आख्यान के द्वारा और कहीं युक्तियों से दर्शन (अध्यात्म-विद्या) के गूढ़ रहस्यों को स्पष्ट किया गया है। आधुनिक इतिहासकार उपनिषदों को वैदिक कर्मकाण्ड की जटिलता के विरुद्ध ज्ञानमार्गियों की प्रतिक्रिया मानते हैं, किंतु आरण्यकों के माध्यम से कर्म और ज्ञान का सामंजस्य, सातत्य तथा पारस्परिक पूरकत्व देखकर ऐसा समझना भ्रम है। वस्तुतः कर्मकाण्ड की परिणति ज्ञानकाण्ड में ही संभव है। प्रवृत्ति और निवृत्ति भारतीय जीवन-दर्शन के दो अविच्छेद्य पक्ष माने गये हैं। प्रवृत्तिमार्ग ब्राह्मण-ग्रंथों में तथा आश्रम-व्यवस्था के अंतर्गत गृहस्थाश्रम में संतुष्टि पाता है, जबकि निवृत्तिमार्ग उन्हीं वेदों से सम्बद्ध उपनिषदों में एवम् उसी मानव से सम्बद्ध संन्यासाश्रम में पुष्ट होता है।

(संख्या)—'उपनिषद्' के नाम से पर्याप्त साहित्य विकसित हुआ है। वैदिक युग से लेकर बहुत बाद तक ऐसी रचनाएं होती रही हैं। इसीलिए प्राचीन (विशुद्ध या असली) और अर्वाचीन (परवर्ती) के

रूप में इनका अंतर करना आवश्यक है। प्राचीन उपनिषदें संख्या की दृष्टि से अधिकतम 14 हैं, इनका सम्बन्ध वैदिक ग्रंथों और शखाओं से है। इन प्राचीन उपनिषदों की पवित्रता एवं गूढात्मकता की दृष्टि से बाद में भी कई रचनाएँ उनका अनुकरण करने के क्रम में विकसित हुईं। मुक्तिकोपनिषद् के अनुसार इनकी संख्या 108 हैं जिन्हें वेदों से जोड़ने का प्रयास हुआ है—ऋग्वेद की 10, शुक्लयजुर्वेद की 19, कृष्णयजुर्वेद की 32, सामवेद की 16 तथा अथर्ववेद की 31 उपनिषदें हैं।

जिन प्राचीन 14 उपनिषदों की चर्चा होती है, उनमें दस महत्त्वपूर्ण हैं, उन पर शंकराचार्य ने भाष्य लिखा था। उनके विषय में यह प्रसिद्ध श्लोक है—

ईश-केन-कठ-प्रश्न-मुण्ड-माण्डूक्य-तित्तिरिः।

ऐतरेयं च छान्दोग्यं बृहदारण्यकं तथा ॥

इनमें (1) ईशोपनिषद्, (2) केनोपनिषद्, (3) कठोपनिषद्, (4) प्रश्नोपनिषद्, (5) मुण्डकोपनिषद्, (6) माण्डूक्योपनिषद्, (7) तैत्तिरीयोपनिषद्, (8) ऐतरेयोपनिषद्, (9) छान्दोग्योपनिषद् तथा (10) बृहदारण्यकोपनिषद् निर्दिष्ट हैं।

उपनिषदों में मुख्य रूप से गूढ़ अध्यात्मविद्या का निरूपण है। ऋषियों ने भौतिक जगत् के पीछे छिपे हुए परमतत्त्व का अन्वेषण करने के क्रम में अनेक दार्शनिक विषयों की मीमांसा की है। उनमें ब्रह्म और आत्मा के अन्तर्गत सम्पूर्ण जगत् का निरूपण है।

विशेषतः— ब्रह्मतत्त्व, आत्मतत्त्व, अद्वैततत्त्व, प्राणसिद्धान्त, सृष्टिविज्ञान, कर्म-सिद्धान्त, नैतिक सिद्धान्त आदि अनेक गूढ़ आध्यात्मिक विषयों का इनमें निरूपण है।

उपनिषदों का सम्बन्ध वेदों से है। प्राचीन, प्रामाणिक तथा प्रमुख उपनिषदों की संख्या 14 है, जिनका निम्नलिखित रूप में वेदों से सम्बन्ध है—

(क) ऋग्वेदीय उपनिषदें—ऐतरेय तथा कौषीतकि।

(ख) शुक्लयजुर्वेदीय उपनिषदें—ईश तथा बृहदारण्यक।

(ग) कृष्णयजुर्वेदीय उपनिषदें—तैत्तिरीय, कठ, श्वेताश्वतर, मैत्रायणी तथा महानारायण।

(घ) सामवेदीय उपनिषदें—केन तथा छान्दोग्य।

(ङ) अथर्ववेदीय उपनिषदें—मुण्डक, माण्डूक्य तथा प्रश्न।

इनमें बृहदारण्यक और छान्दोग्य विशालकाय हैं, जबकि ईश, केन और माण्डूक्य अल्पकाय हैं। कुछ उपनिषदें पद्यात्मक हैं, कुछ गद्यात्मक और कुछ मिश्र हैं। यहाँ उपर्युक्त उपनिषदों का संक्षिप्त परिचय प्रस्तुत है—

- (1) **ऐतरेयोपनिषद्**— यह ऋग्वेद से सम्बद्ध ऐतरेयारण्यक के द्वितीय आरण्यक (खण्ड) के अन्तर्गत चतुर्थ से षष्ठ अध्याय पर्यन्त अंश के रूप में है। इसलिए इस उपनिषद् में तीन अध्याय हैं। ऋषि महिदास ऐतरेय के नाम पर इसका यह नाम दिया गया है। प्रथम अध्याय तीन खण्डों में और शेष दोनों एक-एक खण्ड के हैं, इस प्रकार कुल पाँच खण्ड हैं। इसमें विश्व की उत्पत्ति का विवेचन है, आत्मा ने ईक्षण किया कि सृष्टि करूँ (स ईक्षत लोकान्नु सृजा इति)। पुरुषसूक्त के आधार पर सृष्टि का क्रम यहाँ निरूपित है। द्वितीय अध्याय में जन्म, जीवन और मरण का निरूपण करते हुए पुरुष के तीन जन्मों का निर्देश किया गया है। तृतीय अध्याय में आत्मा के स्वरूप का स्पष्ट वर्णन है और अन्त में 'प्रज्ञान' को ब्रह्म कहा गया है—प्रज्ञानं ब्रह्म।
- (2) **कौषीतक्युपनिषद्**— यह ऋग्वेद के कौषीतकि आरण्यक के तृतीय से षष्ठ अध्याय तक का भाग है। इसे 'कौषीतकिब्राह्मणोपनिषद्' भी कहते हैं। इसमें चार अध्याय हैं जो क्रमशः 7,15,9 तथा 20 खण्डों में विभक्त हैं। पूरी उपनिषद् गद्यात्मक है। प्रथम अध्याय में देवयान और पितृयान (मृत्यु के बाद के मार्ग) का वर्णन है। द्वितीय अध्याय में आत्मा के प्रतीक 'प्राण' का विवेचन है (प्राणो ब्रह्मेति ह स्माह कौषीतकिः) जिससे सम्बद्ध विषयों का विश्लेषण किया गया है। तृतीय अध्याय में प्रतर्दन इन्द्र से ब्रह्मविद्या सीखते हैं, यहाँ भी प्राण-सिद्धान्त का निरूपण है। चतुर्थ अध्याय में अजातशत्रु और बालाकि के आख्यान के प्रसंग में परब्रह्म का विवेचन है।
- (3) **ईशोपनिषद्**— यह शुक्लयजुर्वेद संहिता (काण्व तथा वाजसनेयी) के चालीसवें अध्याय के रूप में है। अतएव यह अत्यन्त प्राचीन उपनिषद् है। इसमें केवल अठारह पद्यात्मक मंत्र हैं। प्रथम मंत्र 'ईशावास्यमिदं सर्वम्' से आरंभ होता है अतएव इसका नाम ईशोपनिषद् या ईशावास्योपनिषद् है। इस लघुकाय उपनिषद् में त्यागपूर्वक भोग, कर्म की निष्कामता, आत्मा का महत्त्व, एकत्व-भावना का फल, विद्या और अविद्या का सम्बन्ध एवं परमात्मा का स्वरूप—ये विषय वर्णित हैं। आत्म-कल्याण के लिए ज्ञान और कर्म दोनों के अनुष्ठान को आवश्यक कहा गया है।
- (4) **बृहदारण्यकोपनिषद्**— शुक्लयजुर्वेद से सम्बद्ध शतपथ ब्राह्मण के अन्तिम छः अध्यायों को बृहदारण्यकोपनिषद् कहते हैं। आरण्यक तथा उपनिषद् दोनों के मिश्रण के कारण इसका यह नाम पड़ा है। यह विशालकाय गद्यात्मक उपनिषद् है। आधुनिक विद्वानों के अनुसार यह प्राचीनतम पाँच उपनिषदों में है, जिनमें गद्यात्मक ब्राह्मण-शैली है। इसे दो-दो अध्यायों के तीन काण्डों में विभक्त किया गया है। इन काण्डों को क्रमशः मधुकाण्ड, याज्ञवल्क्य काण्ड और खिल काण्ड कहते हैं। अध्यायों का ब्राह्मणों में अवान्तर विभाग किया गया है, पुनः ब्राह्मण भी खण्डों में विभक्त हैं। पूरे ग्रंथ में 47 ब्राह्मण हैं। प्रथमाध्याय (छः ब्राह्मण) में अश्वमेध-यज्ञ, आत्मा (ब्रह्म) से जगत् की उत्पत्ति, प्राण की श्रेष्ठता और आत्मा की व्यापकता का विवेचन है। **द्वितीयाध्याय** (छह ब्राह्मण) में दो प्रमुख संवाद हैं। गार्ग्य (बालाकि) काशिराज अजातशत्रु को ब्रह्म का स्वरूप समझाते हैं, किंतु अजातशत्रु इस विषय को स्पष्टतर करते हैं। यहीं याज्ञवल्क्य और उनकी पत्नी मैत्रेयी का भी

संवाद है, जहाँ याज्ञवल्क्य मैत्रेयी को आत्मा का स्वरूप रोचक ढंग से समझाते हैं—न वा अरे पत्युः कामाय पतिः प्रियो भवति, आत्मनस्तु कामाय पतिः प्रियो भवति (2/4/5)। इसके पंचम ब्राह्मण में 'मधु-विद्या' का विवेचन है जिसमें ब्रह्म की व्यापकता का उपदेश 'मधु' शब्द के द्वारा हुआ है (अयमात्मा सर्वेषां भूतानां मधु, आत्मनः सर्वाणि भूतानि मधु 2/5/14)।

इसके तृतीयाध्याय (9 ब्राह्मण) में अत्यधिक रोचक शास्त्रार्थ का वर्णन है, जो विदेहराज जनक की राजसभा में याज्ञवल्क्य तथा अन्य दार्शनिकों के बीच होता है। उनमें वाचकनवी गार्गी के साथ भी याज्ञवल्क्य का प्रश्नोत्तर निरूपित है, जिसमें गार्गी को डाँटकर चुप कराया जाता है।

चतुर्थाध्याय (छः ब्राह्मण) में याज्ञवल्क्य द्वारा जनक को ब्रह्म-विषयक उपदेश दिये जाने के अनन्तर उनका अपनी पत्नी मैत्रेयी से प्रश्नोत्तर पुनः निरूपित हैं (जैसा अध्याय-2 में है)। पंचमाध्याय (15 ब्राह्मण) में ब्रह्म, प्रजापति, गायत्री, परलोक आदि के विषय में विचार किया गया है। षष्ठाध्याय (पाँच ब्राह्मण) में श्वेतकेतु आरुणेय तथा प्रवाहण जैवलि (कुरुनरेश) के मध्य संवाद प्रस्तुत है, जिसमें इन्द्रियों की श्रेष्ठता का विवाद तथा जीवात्मा के परलोक-गमन (देवयान तथा पितृयान) का वर्णन है। ये दोनों विषय छान्दोग्योपनिषद् में भी हैं।

इस उपनिषद् के प्रमुख ऋषि याज्ञवल्क्य हैं, जो अपने युग के श्रेष्ठ तत्त्वज्ञानी थे। अश्वमेधयज्ञ के रहस्य-निरूपण से आरंभ होना इसके ब्राह्मण-परिशिष्ट होने का प्रबल प्रमाण है।

(5) तैत्तिरीयोपनिषद्—कृष्णयजुर्वेद की तैत्तिरीयशाखा के तैत्तिरीयारण्यक के दस प्रपाठकों में से सप्तम से नवम तक को तैत्तिरीयोपनिषद् कहते हैं। ये प्रपाठक इसमें अध्याय कहे गये हैं अर्थात् इस उपनिषद् में तीन अध्याय हैं, जिन्हें क्रमशः शिक्षावल्ली, ब्रह्मानन्दवल्ली एवं भृगुवल्ली कहते हैं। इन वल्लियों का अवान्तर विभाजन अनुवाकों में हुआ है, जिनकी संख्या क्रमशः 12, 9 तथा 10 है। शिक्षावल्ली में सामान्यतः प्राचीनकाल की शिक्षा-पद्धति तथा शिक्षणीय उच्चारण-विधि का निरूपण है, कुछ दार्शनिक विचार भी दिये गये हैं। इसी के ग्यारहवें अनुवाक में आचार्य द्वारा स्नातक को दिये गये उपदेश हैं—“सत्यं वद, धर्मं चर, स्वाध्यायान्मा प्रमदः, आचार्याय प्रियं धनमाहृत्य प्रजातन्तुं मा व्यवच्छेत्सीः, सत्यान्न प्रमदितव्यम्, धर्मान्न प्रमदितव्यम्” इत्यादि। इस उपदेश का सार्वकालिक महत्त्व है। माता, आचार्य और अतिथि को देवता मानकर केवल अनवद्य (अनिन्दनीय) कर्म करने का यहाँ उपदेश है। ब्रह्मानन्दवल्ली में ब्रह्म को आनन्द, सत्य, ज्ञान और अनन्त कहकर उससे क्रमशः आकाश, वायु, अग्नि, जल, पृथिवी, वनस्पति, अन्न और पुरुष की उत्पत्ति कही गयी है। ब्रह्म रस या आनन्द के रूप में ही है। भृगुवल्ली में अपने पिता वरुण से भृगु की ज्ञान-प्राप्ति के आख्यान के क्रम में ब्रह्म की जिज्ञासा का निरूपण है। क्रमशः अन्न, प्राण, मन, विज्ञान तथा आनन्द से संसार की उत्पत्ति, स्थिति और विलय का निरूपण करते हुए ब्रह्म को समझाया गया है। इसी प्रकरण से बादरायण ने ब्रह्मसूत्र का आरंभ किया है, अतः इसका दार्शनिक महत्त्व अधिक है।

- (6) **कठोपनिषद्**— यह कृष्णयजुर्वेद की कठशाखा में विकसित उपनिषद् है। आरंभ के कुछ मंत्रों को छोड़कर यह पूर्णतः पद्यात्मक है। इसमें दो अध्याय हैं, जो तीन-तीन वल्लियों में विभक्त हैं। ऐसा माना जाता है कि द्वितीयाध्याय बाद में जोड़ा गया है क्योंकि उसमें योग-विषयक तथा भौतिक पदार्थों की असत्यता से सम्बद्ध परवर्ती विचार दिये गये हैं। प्रथमाध्याय में नचिकेता की कथा है। उसे पिता ने क्रोध में यमलोक जाने की बात कह दी (मृत्यवे त्वा ददामीति)। नचिकेता यम के गृह में पहुँचकर उनसे तीन वर पाता है। प्रथम वर में पिता की कोपशान्ति, द्वितीयवर में स्वर्गप्रद अग्निविद्या और तृतीयवर में आत्मतत्त्व का ज्ञान पाता है। आत्मतत्त्व का ज्ञान देने के पूर्व यम नचिकेता को अनेक प्रलोभन देकर उसे अपने निश्चय से विरत करना चाहते हैं, किंतु इसमें असफल होने पर उसे श्रेय और प्रेय का अन्तर समझाते हैं। प्रेय भौतिक सुख है और श्रेय आध्यात्मिक उपलब्धि (ज्ञान, वैराग्य आदि) है। नचिकेता ने श्रेय का चुनाव करके आत्मज्ञान का अधिकार पा लिया। यम ने आत्मा को दुर्ज्ञेय कहते हुए उसे अजन्मा, अमर, नित्य, शाश्वत तथा शरीर के नष्ट होने पर भी अक्षुण्ण रहने वाला तत्त्व बतलाया। इस प्रसंग में यम ने रथ का रूपक देकर शरीरादि के साथ आत्मा का व्यावहारिक सम्बन्ध निरूपित किया (1/3/3-4)। आत्मज्ञान का मार्ग भी छुरे की धार के समान तीक्ष्ण और दुरतिगम है (क्षुरस्य धारा निशिता दुरत्यया)। पुरुष (परमात्मा) ज्ञान की अंतिम सीमा है (पुरुषान्न परं किञ्चित्सा काष्ठा सा परा गतिः)।

द्वितीयाध्याय में आत्मा की व्यापकता (तस्मिँल्लोकाः श्रिताः सर्वे) एवं विविध रूपों में अभिव्यक्ति (एकं रूपं बहुधा यः करोति) का वर्णन करते हुए अन्त में योग द्वारा उत्क्रमण का निरूपण किया गया है (योगविधिं च कृत्स्नम्)। इस अध्याय की विषय-वस्तु को भी यम द्वारा प्रोक्त कहा गया है। इसके कई मंत्र अन्य उपनिषदों में भी हैं।

- (7) **श्वेताश्वतरोपनिषद्**— कृष्णयजुर्वेद से सम्बद्ध इस उपनिषद् को परवर्ती माना जाता है, इसमें सांख्यदर्शन के मौलिक सिद्धान्त प्रतिपादित हैं तथा कठोपनिषद् के अनेक मंत्र अविकल रूप से संकलित हैं। सांख्य और वेदान्त का पार्थक्य इसमें नहीं है। इसमें छः अध्याय हैं। प्रथम अध्याय में ब्रह्म की व्यापकता और उनके साक्षात्कार का उपाय वर्णित है (ध्याननिर्मथनाभ्यासाद् देवं पश्येन्निगूढवत्, मंत्र-14)। द्वितीयध्याय में योग का विस्तृत वर्णन है। तृतीयाध्याय में ईश्वर की स्तुति रुद्र के रूप में है (सर्वव्यापी स भगवान् तस्मात्सर्वगतः शिवः, मंत्र-11)। चतुर्थाध्याय में एकात्मक ब्रह्म की माया का वर्णन है जिससे त्रिगुणात्मक सृष्टि होती है। इसी प्रसंग में पुरुष-प्रकृति के द्वैतवादी सांख्य-सिद्धान्त को प्रकट किया गया है (अजामेकां लोहित-शुक्ल-कृष्णाम् तथा द्वा सुपर्णा सयुजा सखायाः, मंत्र 5-6)। पंचमाध्याय में परमात्मा के जीवरूप में शरीरधारण का वर्णन है—

स्थूलानि सूक्ष्माणि बहूनि चैव रूपाणि देही स्वगुणैर्वृणोति। (92)

षष्ठाध्याय में एकरूप ब्रह्म का वर्णन 'देव' के रूप में किया गया है जो व्यापक, ईशित, कर्माध्यक्ष, सभी प्राणियों में अवस्थित इत्यादि विशेषताओं से युक्त होकर भी निर्गुण है। उसे ही स्वभाव या काल भी कहा गया है। पूरी उपनिषद् पद्यात्मक है।

- (8) **मैत्रायणी उपनिषद्**— यह कृष्णयजुर्वेद की मैत्रायणी शाखा से सम्बद्ध है। इसका विभाजन सात प्रपाठकों में है। ग्रंथ गद्यात्मक है, किंतु कहीं-कहीं पद्य भी हैं। इसके कई मंत्र अन्य उपनिषदों से संकलित हैं, यह सबसे अर्वाचीन मानी जाती है। इसमें सांख्य-सिद्धांत, योग के छः अंग तथा हठयोग के सिद्धांत भी निर्दिष्ट हैं। इसमें राजा बृहद्रथ और ऋषि शाकायन का संवाद है। ऋषि राजा को मैत्री द्वारा प्रोक्त ब्रह्म-विचार समझाते हैं। आत्मा का भौतिक शरीर में प्रवेश, परमात्मा का भूतात्मा में परिणमन और मुक्ति का उपाय—इन तीन प्रमुख प्रश्नों को समझाने का यहाँ प्रयास है। प्रकृति के तीन गुणों का उद्भव ब्रह्मा, विष्णु तथा रुद्र से बताया गया है। ब्रह्म की जागृत आदि चार अवस्थाएँ भी यहाँ निरूपित हैं।
- (9) **महानारायणोपनिषद्**— कृष्णयजुर्वेद के तैत्तिरीयारण्यक का दशम प्रपाठक ही महानारायणीयोपनिषद् के नाम से प्रसिद्ध है। इस आरण्यक पर सायण ने भाष्य की रचना की है। अतः यह सभाष्य प्रकाशित है। इसे परिशिष्ट के रूप में रचा गया था। इसका विभाजन अस्त-व्यस्त है, पृथक् संस्करणों में पृथक्-पृथक् है। यह बहुत लम्बी उपनिषद् है। इसमें सामान्यतः नारायण को परमतत्त्व के रूप में वर्णित किया गया है, किंतु कहीं-कहीं रुद्र की भी स्तुति है। इसका स्वरूप कर्मकाण्डीय भी प्रतीत होता है।
- (10) **छान्दोग्योपनिषद्**— यह सामवेदीय उपनिषद् अत्यन्त प्राचीन है। यह तलवकार शाखा के छान्दोग्य ब्राह्मण के अंतिम आठ अध्यायों के रूप में है। इस प्रकार इसमें आठ अध्याय हैं जो 154 खण्डों में विभक्त हैं। यह विशालकाय गद्यात्मक उपनिषद् है। प्रथमाध्याय में साम और उद्गीथ की महत्ता का वर्णन करते हुए सामगान में कुशल आचार्यों की कथाएँ दी गयी हैं। द्वितीयाध्याय में ओम् की उत्पत्ति का तथा अन्त में सामगान का वास्तविक स्वरूप प्रकट किया गया है। साम के भेदों को भी इसमें दिखाया गया है। साम को 'हिंकार' कहते हुए समस्त जगत् इसी का रूप निर्दिष्ट हुआ है। तृतीयाध्याय में ब्रह्म के व्यक्त रूप सूर्य की उपासना का, गायत्री का आंगिरस द्वारा देवकीपुत्र कृष्ण को दी गयी अध्यात्मशिक्षा का तथा अण्ड से सूर्योत्पत्ति का वर्णन है। चतुर्थाध्याय में सत्यकाम जाबाल, रैक्व आदि के आख्यान हैं, जिनमें ब्रह्म का स्वरूप बतलाते हुए उसकी प्राप्ति के उपाय निरूपित हैं।

पंचमाध्याय में बृहदारण्यक (अध्याय-6) की कथाएँ दुहरायी गयी हैं। इसमें इन्द्रियों की श्रेष्ठता की कथा, श्वेतकेतु आरुणेय एवं पंचालराज प्रवाहण जैवलि का संवाद (आत्मा का परलोक-गमन) तथा छः दार्शनिकों के आत्म-विषयक चिंतन का चित्रण है। षष्ठाध्याय में श्वेतकेतु

को उसके पिता उद्दालक आरुणि ब्रह्मविद्या का उपदेश देते हैं। 'तत्त्वमसि' का उपदेश यहीं दिया गया है। "जल में जिस प्रकार घुला हुआ लवण अदृश्य होता है, उसी प्रकार आत्मा संसार में होकर भी अदृश्य है"। सप्तमाध्याय में नारद और सनत्कुमार का वृत्तान्त है। नारद को ब्रह्मविद्या का उपदेश देते हुए सनत्कुमार 'भूमन्' के रूप में ब्रह्म का अंतिम रूप बताते हैं—**यो वै भूमा तदमृतम्, अथ यदल्पं तन्मर्त्यम्** (छान्दोग्य 7/24/1)। ब्रह्म असीम है। अष्टमाध्याय में दहर-विद्या का वर्णन करके प्रजापति और उनके दो शिष्यों (इन्द्र और विरोचन) का आख्यान दिया गया है जिसमें आत्म-साक्षात्कार के व्यावहारिक उपाय निर्दिष्ट हैं। आत्मा की चार अवस्थाओं का भी यहाँ विवेचन है।

- (11) **केनोपनिषद्**— यह सामवेद की जैमिनीय शाखा से सम्बद्ध है, इसे तलवकार या जैमिनीय उपनिषद् भी कहते हैं। 'केनेषितं' पतति प्रेषितं मनः' इत्यादि प्रथम मंत्र के प्रथम पद के आधार पर इसका नाम पड़ा है। यह अत्यन्त लघुकाय उपनिषद् है, 4 खण्डों में विभक्त है जिसमें कुल 34 मंत्र हैं। दो खण्ड (13 मंत्र) पद्यात्मक और दो खण्ड गद्यात्मक हैं। इसके प्रथम खण्ड में उपास्य ब्रह्म का निर्गुण ब्रह्म से अन्तर कहा गया है। द्वितीय खण्ड में ब्रह्म के रहस्यमय स्वरूप का वर्णन है। इस प्रसंग में कहा गया है—

यस्यामतं तस्य मतं मतं यस्य न वेद सः।

अविज्ञातं विजानतां विज्ञातमविजानताम्॥ (2/3)

तृतीय खण्ड में हैमवत उमा (ब्रह्म की शक्ति) के आख्यान में ब्रह्म की परम शक्ति का निरूपण है। चतुर्थ खण्ड में उमा कहती है कि वही ब्रह्म निर्गुण और सगुण भी है। सगुण ब्रह्म उपास्य है, उससे परे निर्गुण ब्रह्म है।

- (12) **प्रश्नोपनिषद्**— अथर्ववेद के पैप्पलाद शाखा से सम्बद्ध इस उपनिषद् में महर्षि पिप्पलाद से छः ऋषि अध्यात्म-विषयक प्रश्न पूछते हैं। उपनिषद् के एक-एक खण्ड में उनका उत्तर पिप्पलाद देते हैं। इस प्रकार यह उपनिषद् छः खण्डों में विभक्त है। इन खण्डों को 'प्रश्न' कहा गया है। यही इसके नामकरण का कारण है। प्रथम प्रश्न कबन्धी कात्यायन का है कि सृष्टि कैसे हुई है (कुतो ह वा इमाः प्रजाः प्रजायन्ते)। द्वितीय प्रश्न विदर्भपुत्र भार्गव का है कि कितने देवता प्रजा (सृष्टि) को धारण करते हैं, कौन उन्हें प्रकाशित करता है तथा उनमें श्रेष्ठ कौन है। तृतीय प्रश्न आश्वलायन का है कि प्राण की उत्पत्ति कहाँ से होती है, शरीर में उसका प्रवेश और उत्क्रमण कैसे होता है? चतुर्थ प्रश्न गार्ग्य का है कि आत्मा की जाग्रत्, स्वप्न और सुषुप्ति इन तीन अवस्थाओं का रहस्य क्या है? पंचम प्रश्न सत्यकाम का है कि ओंकार की उपासना से किस लोक पर विजय होती है? षष्ठ प्रश्न सुकेशा भारद्वाज का है कि षोडशकला-सम्पन्न पुरुष का स्वरूप क्या है? महर्षि पिप्पलाद इन प्रश्नों का उत्तर उन शिष्यों को तत्काल देते हैं। इन उत्तरों में अध्यात्म-विद्या की

उत्कृष्ट व्याख्या है। पूरी उपनिषद् गद्य में है। अन्य उपनिषदों की सामग्री भी इसमें यत्र-तत्र मिलती हैं। पिप्पलाद को उन शिष्यों ने संतुष्ट होकर कहा—त्वं हि नः पिता योऽस्माकमविद्यायाः परं पारं तारयसीति।

- (13) **मुण्डकोपनिषद्**— यह अथर्ववेद की शौनकशाखा की उपनिषद् है। इसके नामकरण (मुण्डक) का कारण कहा गया है कि मुण्डित सिर वाले शिष्यों के द्वारा अध्ययन किये जाने से त्याग की पराकाष्ठा का यहाँ उपदेश है। इसके अध्ययन का अधिकार उसे ही दिया गया है, जिसने शिरोव्रत लिया हो—शिरोव्रतं विधिवद् यैस्तु चीर्णम् (3/2/10)। इसे तीन मुण्डकों में विभक्त किया गया है, प्रत्येक मुण्डक में दो-दो खण्ड हैं। यह पद्यप्राय उपनिषद् है। इसमें ब्रह्मा अपने ज्येष्ठ पुत्र अथर्वा को अध्यात्मशास्त्र का उपदेश देते हैं। प्रथम मुण्डक में परा और अपरा के रूप में विद्या के दो भेद किये गये हैं—वेद-वेदांग अपरा विद्या है, परा विद्या ब्रह्मज्ञान है (अथ परा यया तदक्षरमधिगम्यते 1/1/5)। इसे जानने के लिए ब्रह्मनिष्ठ गुरु के पास जाना चाहिए (तद्विज्ञानार्थं स गुरुमेवाभिगच्छेत् समित्पाणिः श्रोत्रियं ब्रह्मनिष्ठम् 1/2/12)। द्वितीय मुण्डक में ब्रह्म के व्यक्त रूपों का वर्णन है। ब्रह्मसाक्षात्कार होते ही हृदय-ग्रंथि भिन्न हो जाती है, सभी संशय दूर हो जाते हैं और समस्त कर्म का कोश क्षीण हो जाता है (2/2/8)। तृतीय मुण्डक में 'द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया' इत्यादि मंत्र में द्वैतवाद (पुरुष-प्रकृति) का निर्देश है। यहीं यह प्रसिद्ध वचन भी है—सत्यमेव जयते नानृतं सत्येन पन्था विततो देवयानः (3/1/6)। कामना रखने वाले का पुनर्जन्म और निष्काम व्यक्ति का मोक्ष होता है। (3/2/2)। 'ब्रह्म वेद ब्रह्मैव भवति' (3/2/9) का अमृतमय उपदेश भी इसमें है।

- (14) **माण्डूक्योपनिषद्**— अथर्ववेद से सम्बद्ध यह लघुकाय उपनिषद् है, जिसमें केवल 12 गद्यात्मक मंत्र या वाक्य हैं। इसमें ओंकार की महत्ता वर्णित है (सर्वमोंकार एव)। तीनों काल और त्रिकालातीत सबकुछ ओम् ही है। यह आत्मा ही ब्रह्म है, जिसके चार पाद हैं (अयमात्मा ब्रह्म, सोऽयमात्मा चतुष्पात्, मंत्र-2)। इस प्रकार जाग्रत, स्वप्न, सुषुप्ति तथा तुरीय (शिव, अद्वैत) को इस उपनिषद् में समझाया गया है। ओम् के तीन अक्षर अ, उ, म क्रमशः तीन अवस्थाओं के और पूरा 'ओम्' तुरीय (चतुर्थ) अवस्था का प्रतीक है। इस उपनिषद् पर गौड़पाद ने चार खण्डों में विभक्त 'माण्डूक्य-कारिका' नामक ग्रंथ लिखा, जिसमें 215 पद्य हैं। वह अद्वैत वेदान्त का प्रतिष्ठापक ग्रंथ है। इसके प्रथम खण्ड में माण्डूक्योपनिषद् की व्याख्या है।

(उपनिषदों का महत्त्व)

उपनिषदों का सर्वाधिक महत्त्व **दार्शनिक दृष्टि** से है। वेदों में निहित ज्ञान की अंतिम सीमा उपनिषदों में ही है। इसलिए संहिता-युग से ही इनका निर्माण आरंभ हो गया था। परम तत्त्व के रूप में ब्रह्म या आत्मा को विभिन्न प्रकार से यहाँ समझाया गया है। ब्रह्म के व्यक्त रूप में संसार है, जो उसकी

व्यवस्थित रचना है। आधुनिक विद्वानों ने प्रमाणित किया है कि परवर्ती समस्त दार्शनिक चिंतन का उत्स उपनिषदों के वाक्यों में है। ब्रह्मसूत्र और गीता जैसे ग्रंथ तथा स्पष्टतः इन्हीं पर आश्रित हैं। भागवतपुराण—जैसा वैष्णव पुराण भी अपने सिद्धान्तों के लिए उपनिषदों पर आश्रित है।

इनमें विभिन्न ऋषियों की **नैतिक दृष्टि** प्रकट हुई है। सामान्यतः उपनिषदें भौतिक वस्तुओं की क्षणभङ्गुरता और ज्ञान की अमरता में विश्वास दिलाती हैं। जीवन के क्रिया—कलापों को श्रेय तथा प्रेय में, निष्काम और सकाम में विभक्त करके स्पष्टतः हमें भोग में त्याग का उपदेश देती हैं (तेन त्यक्तेन भुंजीथाः) श्रेष्ठ पुरुषों का सत्संग कल्याणकारी है—इस पर ये बल देती हैं (प्राप्य वरान्निबोधत)।

भाषा—शैली की दृष्टि से ये वैदिक तथा लौकिक संस्कृत के बीच की कड़ी वस्तुतः करती हैं। इनके सरल वाक्य और नाद—सौन्दर्यमय पद्य लालित्य के निधान हैं। कठिन से कठिन दार्शनिक तत्त्व—चिंतन को आख्यान से बाँधकर, समुचित दृष्टान्तों का प्रयोग करके स्पष्ट करने में उपनिषदों की समता विश्व का कोई भी समानान्तर साहित्य नहीं कर सकता। विन्टरनिट्स ने उपनिषदों के लिए 'दार्शनिक कविता' विशेषण दिया है जिससे ये हृदय और बुद्धि दोनों के लिए उपादेय हैं।

उपनिषदों में मुख्यतः कर्मकाण्ड या धार्मिक कृत्यों के प्रति उदासीनता दिखायी गयी है, इसलिए अनेक ब्राह्मणेतर ऋषि इनके तत्त्व—विचारक हैं। उन्होंने जगत् के मूल प्रश्नों पर विचार किया है जो धर्म, जाति, लिंग आदि से निरपेक्ष मानव—मात्र के लिए जिज्ञास्य हैं। इनमें अभिभूत मुगल राजकुमार दाराशिकोह ने 1656—57 ई. में प्रायः पचास उपनिषदों का फारसी में अनुवाद कराया था। इसे फ्रेंच यात्री बर्नियर फ्रांस ले गया था, जहाँ उसका लातिन—भाषा में अनुवाद हुआ। वह 'औपनिखत' के नाम से 1801 ई. में प्रकाशित हुआ। यद्यपि यह अनुवाद अपूर्ण और अव्यवस्थित था, किंतु उसे ही पढ़कर जर्मन दार्शनिक शॉपेनहावर इतना अभिभूत हो गया था कि उपनिषदों को उसने 'विश्व की दार्शनिक विचारधारा का मार्गदर्शक' तो कहा ही, व्यक्तिगत प्रभाव के रूप में स्वीकार किया कि यह मेरे जीवन के लिए सान्त्वना है तो मृत्यु के अनन्तर भी सान्त्वना होगी (it has been the solace of my life and will be the solace of my death)। पाश्चात्य जगत् में पॉल डेउसन (Deussen) तथा आर. ह्यूम (Hume) ने उपनिषदों के अनुवाद किये एवम् उनके सिद्धान्तों पर प्रकाश डाला। यह विचार भी उनके महत्त्व का परिचायक है।

5.6 वेदांग साहित्य

सम्पूर्ण वैदिक साहित्य के विकास के अंतिम काल में ऐसे साहित्य का विकास हुआ, जो वेदों की अविकल रक्षा करते हुए उन्हें यथार्थ रूप से समझने एवं तदनुकूल क्रियाओं के अनुष्ठान में सहायक हो। इसे 'वेदांग' कहा गया। 'अंग' यहाँ लक्षणा से 'उपकारक' के अर्थ में है। मुण्डकोपनिषद् (1/1/5) में चारों वेदों के साथ उनके छहों वेदांगों की गणना कराकर उन्हें 'अपरा विद्या' कहा गया है—**तत्रापरा ऋग्वेदो यजुर्वेदः सामवेदोऽथर्ववेदः, शिक्षा कल्पो व्याकरणं निरुक्तं छन्दो ज्योतिषमिति**। इन छः वेदांगों के

तीन प्रमुख उद्देश्य हैं—वेदों का अर्थबोध (व्याकरण तथा निरुक्त), उनका सही उच्चारण (शिक्षा तथा छन्द) एवं वेदों का याज्ञिक प्रयोग (कल्प तथा ज्योतिष)

पाणिनीय शिक्षा (श्लोक 41-42) में इन वेदांगों को वेद-पुरुष के विविध अवयवों का रूपक दिया गया है—

छन्दः पादौ तु वेदस्य हस्तौ कल्पोऽथ पठ्यते ।

ज्योतिषामयनं चक्षुर्निरुक्तं श्रोत्रमुच्यते ॥

शिक्षा घ्राणं तु वेदस्य मुखं व्याकरणं स्मृतम् ।

तस्मात्साङ्गमधीत्यैव ब्रह्मलोके महीयते ॥

यह रूपक विचार का विषय है। वेदमन्त्र पादों में विभाजित हैं। जिस प्रकार पदक्रमों (पगों) से पुरुष की पहचान होती है, उसी प्रकार छन्दों से वेदमन्त्रों का वैशिष्ट्य जाना जाता है। छन्द से वेदमन्त्र के पादों की सीमा ज्ञात होती है। कल्प कर्मकाण्ड के विषय हैं। कर्मकाण्ड का अनुष्ठान हाथों में होता है, अतः कल्प को वेदपुरुष का हाथ कहा गया है। ज्योतिष के द्वारा कर्मानुष्ठान के काल पर दृष्टि रखी जाती है। निरुक्त अर्थज्ञान देता है जिसका साधन श्रोत्रेन्द्रिय है। इसीलिए निरुक्त को वेद-पुरुष का श्रोत्र कहा गया है कि शब्द सुनने के बाद ही अर्थबोध की प्रक्रिया आरंभ होती है। उच्चारण-विज्ञान (शिक्षा) को नासिका का रूप दिया गया है। व्याकरण उच्चरित शब्दों की शुद्धाशुद्धता का तथा उनकी व्युत्पत्ति का विचार करने से वेद-पुरुष का मुख है। मुख 'प्रधान' का बोधक होने से व्याकरण को सभी वेदांगों में प्रधान कहा गया है।

छहों वेदांग अपने-आप में पूर्ण शास्त्र या विज्ञान हैं, जिनका संस्थापन-विस्थापन विभिन्न युगों में अपने-अपने ढंग से लोगों ने किया है। वेदों के एक-एक मन्त्र के अनुशीलन में इनमें प्रत्येक की भूमिका है। इससे इनका महत्त्व है। यहाँ इनके स्वरूप, उपयोग तथा साहित्य का संक्षेप में परिचय दिया जाता है—

5.6.1 शिक्षा

जिस शास्त्र में वर्ण, स्वर, मात्रा, बल, साम तथा सन्तान—इन छः विषयों का उपदेश हो, उसे 'शिक्षा' कहते हैं (वर्णस्वराद्युच्चारणप्रकारो यत्रोपदिश्यते सा शिक्षा—ऋग्वेदभाष्यभूमिका, पृ. 39)। इन छहों विषयों का निर्देश तैत्तिरीयोपनिषद् की शिक्षावल्ली (1/2) में किया गया है—**वर्णः स्वरः मात्रा बलं साम सन्तानः इत्युक्तः शिक्षाध्यायः।**

वर्ण अकारादि अक्षरों को कहते हैं जो स्वर तथा व्यंजन के रूप में दो प्रकार के हैं। इनका पुनर्विभाजन उच्चारण-स्थान, प्रयत्न आदि के आधार पर किया गया है। पाणिनीय शिक्षा में शम्भु के मत से 63-64 वर्णों का उल्लेख है। इनमें इक्कीस स्वर, पच्चीस स्पर्शवर्ण (क् से म् तक), चार अन्तःस्थ,

चार ऊष्म, चार यम, अनुस्वार, विसर्ग, जिह्वामूलीय, उपध्मानीय तथा दो स्वरों के बीच का ल्-ये 63 वर्ण हैं। प्लुत लृ को मिलाने से यह संख्या 64 होती है।

स्वर का अभिप्राय स्वराघात (Accent) है, जो संख्या में तीन हैं—उदात्त, अनुदात्त और स्वरित। स्वरभेद से अर्थभेद होता है। स्वरों के उच्चारण को संहिताओं तथा कुछ ब्राह्मण-ग्रंथों में अंकित किया गया है।

मात्रा उच्चारण में लगने वाले काल को कहते हैं। इसके तीन भेद हैं—ह्रस्व, दीर्घ तथा प्लुत। ये मात्राएँ स्वरों (Vowels) में ही होती हैं। व्यंजनों की अर्धमात्रा मानी गयी है। (व्यंजनं चार्धमात्रिकम्)।

बल वर्णों के उच्चारण स्थान तथा उच्चारण में लगने वाले प्रयत्न को कहा जाता है (बलं स्थानप्रयत्नौ)। पाणिनीय शिक्षा के अनुसार कण्ठ, उरस्, तालु, मूर्धा, दन्त, ओष्ठ, नासिका और जिह्वामूल—ये आठ स्थान हैं। प्रयत्न दो प्रकार के हैं—आभ्यन्तर तथा बाह्य। उच्चारणस्थानों के भीतर होने वाले प्रयत्न 'आभ्यन्तर' हैं, जबकि मुख-विवर की सीमा से बाहर होने वाले प्रयत्न 'बाह्य' हैं। दोनों प्रयत्न क्रमशः चार और ग्यारह हैं।

साम (या सामन्) का अर्थ है—निर्दोष गुणयुक्त उच्चारण। उच्चारण में छः दोष होते हैं—गीतयुक्त, शीघ्रता सहित, सिर हिलाकर पढ़ना, यथालिखित (शुद्धाशुद्धि के विचार से रहित) उच्चारण, अर्थ न जानना, अल्पकण्ठता। इसी प्रकार पाठ के छः गुण हैं—माधुर्य, अक्षर व्यक्ति, पदच्छेद, सुस्वर, धैर्य एवं लयसमर्थ। इसके अन्तर्गत उच्चारण-प्रकार का विस्तृत विवेचन है।

सन्तान संधि या संहिता के नियमों के साथ वर्णोच्चारण को कहते हैं। वेदमंत्रों का मूल उच्चारण संहिता-पाठ है, किंतु उसके मूल में 'पद' ही है (पदप्रकृतिः संहिता-निरुक्त 1/17)। इन पदों का निकटतम आ जाना ही संहिता है (परः सन्निकर्षः संहिता-निरुक्त 1/17)। इस प्रकार वैदिक मंत्रों का शुद्धतम उच्चारण सन्तान है। संहिता-पाठ में भी पदज्ञान रखना अनिवार्य है, अन्यथा न पदच्छेद होगा, न अर्थज्ञान।

शिक्षा के नाम से जो पाणिनीय-शिक्षा आदि ग्रंथ मिलते हैं, वे बहुत बाद के हैं। इस वेदांग के प्राचीनतम ग्रंथ 'प्रातिशाख्य' हैं, जो पाणिनि से पहले के हैं। वेदों की प्रत्येक शाखा के उच्चारण की प्रक्रिया को पृथक्-पृथक् बतलाने के कारण ये प्रातिशाख्य कहलाते हैं (शाखां शाखां प्रति=प्रतिशाखम्। प्रतिशाखं भवम्=प्रातिशाख्यम्)। व्याकरण के इतिहास में भी इनका महत्वपूर्ण स्थान है। अभी उपलब्ध प्रातिशाख्य हैं—(1) ऋक्प्रातिशाख्य, (2) तैत्तिरीय प्रातिशाख्य, (3) वाजसनेयि प्रातिशाख्य, (4) सामप्रातिशाख्य (इसमें सामतन्त्र, पुष्पसूत्र तथा ऋक्तन्त्र—ये तीन स्वतन्त्र ग्रंथ हैं) तथा (5) अथर्वप्रातिशाख्य (अथर्वप्रातिशाख्य तथा शौनकीया चतुरध्यायी नामक दो पृथक् ग्रंथ)। ये ग्रंथ ध्वनिविज्ञान की प्राचीनता के परिचायक हैं।

5.6.2 कल्प

विभिन्न वैदिक शाखाओं के ब्राह्मण-ग्रंथों में विहित कर्मों का व्यवस्थित वर्णन करने वाला वेदांग 'कल्प' कहा गया है। ब्राह्मणों के विधि-वाक्यों में कर्मों का निरूपण है, ये कर्म श्रौत तथा गृहकर्म के रूप में थे। इनके अतिरिक्त मानव के आचार-व्यवहार से सम्बद्ध धर्म का भी इनमें विवेचन था। इस प्रकार के सभी कर्म 'कल्प' की परिधि में रखे गये। विष्णुमित्र ने कल्प का लक्षण दिया है—**कल्पो वेदविहितानां कर्मणामनुपूर्व्येण कल्पनाशास्त्रम्**। वेदों में विहित कर्म इतने व्यापक और विच्छिन्न थे कि उन्हें संक्षिप्त और व्यवस्थित करके कल्प-ग्रंथों में सूत्रबद्ध किया गया। सूत्र (अल्पाक्षरत्वे बह्वर्थबोधकत्वं सूत्रत्वम्) के रूप में होने के कारण पाश्चात्य इतिहासकार कल्पों का विवरण 'सूत्र साहित्य' के अन्तर्गत करते हैं। 'कल्प' का विवरण स्वतन्त्र अध्याय का विषय है। इसमें सभी वेदांगों से अधिक साहित्य का विकास हुआ है। यहाँ संक्षिप्त विवरण ही संभव है।

कल्प के चार भेद हैं—श्रौतसूत्र, गृह्यसूत्र, धर्मसूत्र तथा शुल्वसूत्र।

श्रौतसूत्र में वैदिक ब्राह्मणों में वर्णित यज्ञ-यागादि विधानों का संक्षिप्त विवरण मिलता है। वैदिक यागों को श्रौतयाग कहते हैं, जिनमें सात हविर्याग और सात सोमयाग हैं। हविर्यागों में घृत, पायस, दधि, पुरोडाश आदि हविष्यान्नों की आहुतियाँ दी जाती हैं। इनके सात प्रकार हैं—अग्न्याधान, अग्निहोत्र, दर्शपूर्णमास, आग्रहायण, चातुर्मास्य, निरुद्धपशुबन्ध और सौत्रामणी। सोमयागों में सोमरस की प्रस्तुति और देवताओं को समर्पण होता है। इनके सात भेद हैं—अग्निष्टोम, अत्यग्निष्टोम, उक्थ्य, षोडशी, वाजपेय, अतिरात्र और आप्तोर्याम। श्रौतयागों का वर्णन, उनकी जटिलताओं के साथ, श्रौतसूत्रों में है।

ऋग्वेद के दो श्रौतसूत्र हैं—आश्वलायन तथा शांखायन। शुक्लयजुर्वेद का एकमात्र कात्यायन श्रौतसूत्र है। कृष्णयजुर्वेद के छः श्रौतसूत्र हैं—बौधायन, आपस्तम्ब, हिरण्यकेशी, वैखानस, भारद्वाज और मानव। सामवेद के चार श्रौतसूत्र हैं—आर्षेय, लाट्यायन, द्राह्यायण तथा जैमिनीय। अथर्ववेद का एकमात्र वैतान श्रौतसूत्र है। सम्बद्ध वेदों के ब्राह्मण-ग्रंथों के कर्मों का इनमें शृंखलाबद्ध निरूपण है।

गृह्यसूत्र में गार्हस्थ्य-जीवन से सम्बद्ध धार्मिक अनुष्ठानों, संस्कारों, यज्ञों तथा अन्य कृत्यों का विवरण है। इनमें प्रतिपादित यज्ञ गृह्याग्नि में अनुष्ठित होते थे। इनमें ब्रह्मयज्ञ, देवयज्ञ, पितृयज्ञ, भूतयज्ञ और नृयज्ञ के नाम से पंचममहायज्ञों का भी वर्णन है, जो गृहस्थ के लिए दैनिक कृत्य हैं। इनके अतिरिक्त अपशकुन की शान्ति, गृहनिर्माण, कृषि, पशुपालन आदि का भी इनमें निरूपण है। यद्यपि इनमें सार्वजनिक रूप से कर्मानुष्ठान का विधान है, तथापि विभिन्न वैदिक शाखाओं में ही इनका उद्भव हुआ।

ऋग्वेद के दो गृह्यसूत्र हैं—आश्वलायन तथा शांखायन। शुक्लयजुर्वेद का एकमात्र पारस्कर गृह्यसूत्र है। कृष्णयजुर्वेद के नौ गृह्यसूत्र हैं—बौधायन, मानव, भारद्वाज, आपस्तम्ब, हिरण्यकेशी, वैखानस,

वाधूल, काठक तथा वाराहगृह्यसूत्र। सामवेद के तीन गृह्यसूत्र हैं—गोभिल, खादिर तथा जैमिनीय। अथर्ववेद का एक ही गृह्यसूत्र है—कौशिक।

धर्मसूत्र में सामाजिक जीवन के नियमों, विधि—निषधों, क्रिया—कलापों तथा आचार—विचार का वर्णन है। राजाओं के कर्तव्य का भी विवरण यहाँ मिलता है। वर्णाश्रम—धर्म, व्यवहार, दण्ड—विधान, प्रायश्चित्त, उत्तराधिकार, भक्ष्याभक्ष्य इत्यादि की विवेचना होने से ये 'धर्मशास्त्र' भी कहलाते हैं। श्रुति—प्रतिपादित धर्म के ये प्रतिनिधि—ग्रंथ हैं। मनुस्मृति आदि की रचना इन्हीं के आधार पर हुई है। सभी वैदिक शाखाओं के धर्मसूत्र नहीं मिलते। कुछ शाखाओं के (जैसे—आश्वलायन, शांखायन और मानव के) श्रौतसूत्र और गृह्यसूत्र उपलब्ध हैं, किंतु धर्मसूत्र नहीं हैं। केवल बौधायन, आपस्तम्ब और हिरण्यकेशी के सम्पूर्ण कल्पसूत्र (श्रौत, गृह्य, धर्म सभी) उपलब्ध हैं।

इस समय बौधायन, गौतम, आपस्तम्ब, हिरण्यकेशी, वसिष्ठ—ये ही मुख्य और प्राचीन धर्मसूत्र मिलते हैं। इनमें आपस्तम्ब और हिरण्यकेशी प्रायः समान हैं।

गौतमधर्मसूत्र को अधिसंख्यक विद्वानों ने प्राचीनतम धर्मसूत्र मानते हुए इसका काल 600 ई. पू. बताया है। कुमारिलभट्ट के अनुसार इसका सम्बन्ध सामवेद से है। गोभिलगृह्यसूत्र में इसका उद्धरण मिलता है। बौधायनधर्मसूत्र में भी इससे प्रायश्चित्त—विषयक सामग्री ली गयी है। गौतमधर्मसूत्र में 28 अध्याय हैं, जिनमें वर्णधर्म, राजधर्म, नित्यकर्म और प्रायश्चित्त का विवरण है। याज्ञवल्क्य, कुमारिल, शंकराचार्य तथा मेधातिथि ने इसकी चर्चा की है। इस पर आचार्य मस्करी तथा हरदत्त की व्याख्याएँ प्रकाशित हैं। बौधायनधर्मसूत्र कृष्णयजुर्वेद से सम्बद्ध है। इसका काल डॉ. जॉली ने 600 ई.पू. के अनन्तर तथा 500 ई.पू. के पहले माना है। यह चार खण्डों में विभक्त है, इन खण्डों को 'प्रश्न' कहते हैं। कुछ लोग इसे ही कल्पसाहित्य में प्राचीनतम मानते हैं। इसके प्रथम प्रश्न में ब्रह्मचर्य, शुद्धाशुद्धता, राजधर्म, विवाह—विधि आदि विवेचित हैं। द्वितीय प्रश्न में आश्रम, गृहस्थधर्म, स्त्रीधर्म, प्रायश्चित्त, उत्तराधिकार तथा श्राद्ध के विधान वर्णित हैं। तृतीय प्रश्न में संन्यास—धर्म, चान्द्रायण—व्रत आदि का वर्णन है। चतुर्थ प्रश्न में प्रायश्चित्त का वर्णन है, इस प्रश्न को संक्षिप्त माना जाता है। इसके प्रश्न अध्यायों में विभक्त हैं, जो संख्या में क्रमशः ग्यारह, दस, दस और आठ हैं। इस पर गोविन्दस्वामी का भाष्य प्रसिद्ध है। आपस्तम्बधर्मसूत्र का सम्बन्ध भी कृष्णयजुर्वेद से है। इसका काल जॉली ने 500 ई. पू. माना है। इस धर्मसूत्र में दो प्रश्न हैं प्रत्येक 11—11 पटलों में विभक्त है। इसके अधिकांश सूत्र गद्य में हैं, किंतु कहीं—कहीं पद्य भी हैं। इसके प्रथम प्रश्न में ब्रह्मचारी और स्नातक के नियम, प्रायश्चित्त आदि का वर्णन है। द्वितीय प्रश्न में गृहस्थ—धर्म, विवाह के भेद, पुत्र—भेद, दायभाग, श्राद्ध, वानप्रस्थ और संन्यास, राजधर्म इत्यादि का वर्णन है। इस धर्मसूत्र पर हरदत्त कृत उज्ज्वला व्याख्या मिलती है।

इनके अतिरिक्त हिरण्यकेशिधर्मसूत्र (आपस्तम्ब का ही एक संस्करण), वसिष्ठ धर्मसूत्र (कुमारिल के अनुसार ऋग्वेद से सम्बद्ध), विष्णुधर्मसूत्र (100 अध्यायों की परवर्ती रचना) हारीतधर्मसूत्र (यजुर्वेद से

सम्बद्ध) तथा शंखधर्मसूत्र (यजुर्वेद से सम्बद्ध परवर्ती रचना) भी प्राप्त हैं। धर्मशास्त्र के इतिहास के लिए इनका महत्त्व है।

शुल्वसूत्र में यज्ञवेदिका के निर्माण की विधियाँ वर्णित हैं। भारतीय ज्यामिति का आरंभ इन्हीं से होता है। सम्प्रति शुक्लयजुर्वेद से सम्बद्ध कात्यायनशुल्वसूत्र तथा कृष्णयजुर्वेद के छः शुल्वसूत्र मिलते हैं—बौधायन, आपस्तम्ब, मानव, मैत्रायणीय, वाराह तथा वाधूल। यजुर्वेद का यज्ञ से साक्षात्सम्बन्ध है अतएव इसी वेद से सम्बद्ध शुल्वसूत्र विकसित हुए थे। यदि अन्य वेदों के शुल्वसूत्र थे तो वे लुप्त हो गये। शुल्व का अर्थ है—नापने की रस्सी। रस्सी से नापकर ही वेदियों का निर्माण होता था। इसलिए इनका यह नाम पड़ा है।

5.6.3 व्याकरण

मूलतः वैदिक भाषा के पदों की रचना (व्युत्पत्ति) को स्पष्ट करने के लिए इस वेदांग का विकास हुआ था जो क्रमशः लौकिक संस्कृत की परिधि में आकर एक महत्त्वपूर्ण शास्त्र बन गया। तैत्तिरीय संहिता (6/4/7/3) में इन्द्र द्वारा वाक् को व्याकृत (व्युत्पन्न, विभाजित) किये जाने का आख्यान है। इसीलिए परंपरा से इन्द्र को प्रथम वैयाकरण कहा जाता है। यद्यपि अभी वैदिक भाषा का अनन्य रूप से विवेचन करने वाला कोई स्वतन्त्र व्याकरण—ग्रंथ नहीं मिलता, तथापि संहिताओं और ब्राह्मण—ग्रंथों में शब्द—विश्लेषण के अनेक संकेत मिलते हैं। यास्क ने भी अपने निरुक्त में (1/17) 'पदप्रकृतिः संहिता' कहकर पदों के अध्ययन का महत्त्व और प्राचीनत्व निर्दिष्ट किया है। संहिताओं का पद—पाठ करने वाले लोग ही प्रथम वैयाकरण थे जिन्होंने पदों के रूप में मंत्रों को रूपान्तरित करके पद—विज्ञान (व्याकरण) का मार्ग प्रशस्त किया। व्याकरण के पाँच प्रमुख उद्देश्य कहे गये हैं—वेदों की रक्षा (वेदों के मूल पदों को समझना), ऊह (यज्ञ में, आवश्यकतानुसार, प्रकृति रूप में पठित पदों का विकृति पाठ करना), आगम (प्राचीन उद्धरणों से व्याकरण का महत्त्व समझना), लघु (भाषा—शिक्षा के लिए लघुतम साधन होना) तथा असन्देह (किसी स्थल—विशेष में भाषागत सन्देह का निराकरण)। पतंजलि ने इनके अतिरिक्त वैदिक उद्धरणों के आधार पर व्याकरण की उपयोगिता पर प्रकाश डाला है।

ऐतिहासिक दृष्टि से व्याकरण का सर्वप्रथम पूर्णग्रन्थ पाणिनि की अष्टाध्यायी है, जिसके 4000 सूत्रों में प्रायः 700 वैदिक भाषा तथा उसमें निहित स्वर के विवेचन से सम्बद्ध हैं। वैदिक भाषा की तुलना संस्कृत से करते हुए पाणिनि ने तथाकथित 'वैदिकी प्रक्रिया' के सूत्रों की रचना की थी। पाणिनि के पूर्व भी आपिशलि, काश्यप, गार्ग्य, गालव, चाक्रवर्मण, भारद्वाज, शाकटायन, शाकल्य, सेनक तथा स्फोटायन—ये दस वैयाकरण हो चुके थे, जिनके नाम अष्टाध्यायी में आये हैं। इनके अतिरिक्त अन्य ग्रन्थों से 13 वैयाकरणों के नाम प्राप्त होते हैं, जो पाणिनि से पहले हो चुके थे। इनके ग्रन्थ अनुपलब्ध हैं।

5.6.4 निरुक्त

वैदिक शब्दों का निर्वचन अर्थात् अर्थ का निर्णय करने वाला वेदांग 'निरुक्त' (निस्+वच्+क्त) है। अभी एकमात्र यास्क-रचित निरुक्त उपलब्ध होता है, जो वैदिक शब्दों के एक पंचाध्यायात्मक संग्रह 'निघण्टु' की व्याख्या है। अनुमान होता है कि 'निघण्टु' के नाम से कई संग्रह हुए थे। तभी यास्क ने 'निघण्टवः' यह बहुवचन-प्रयोग किया है। यास्क ने एक विशेष निघण्टु का चुनाव करके उसी पर व्याख्या लिखी। यास्क का समय 800 ई. पू. से 700 ई. पू. के बीच रखा जाता है। कुछ लोग इस निघण्टु को भी यास्क-कृत मानते हैं किंतु महाभारत (मोक्षधर्मपर्व 342/86-7) के अनुसार प्रजापति कश्यप इसके लेखक (संग्रहकर्ता) हैं।

'निघण्टु' (जिस पर व्याख्या-रूप निरुक्त आश्रित है) पाँच अध्यायों का वैदिक शब्द-संग्रह है। यह तीन काण्डों में विभक्त है-नैघण्टुक काण्ड, नैगम काण्ड (या ऐकपदिक काण्ड) तथा दैवतकाण्ड। नैघण्टुक काण्ड में तीन अध्याय हैं, जिनमें पर्याय (समानार्थक) शब्दों का संग्रह है, जैसे-पृथ्वीवाचक 21 शब्द, मेघवाचक 30 शब्द इत्यादि। यास्क ने निरुक्त के प्रथम से तृतीय अध्याय तक इन संग्रहों के प्रतिनिधि शब्दों की व्याख्या सोदाहरण की है। इसीलिए निरुक्त के प्रथम तीन अध्यायों को भी 'नैघण्टुक काण्ड' कहा जात है। निरुक्त के प्रथम अध्याय में पदों के चार भेद (नाम, आख्यात, उपसर्ग, निपात), नामों का आख्यातज होना, निरुक्त के उद्देश्य (अर्थज्ञान, पदज्ञान इत्यादि), अर्थज्ञान की प्रशंसा आदि निर्दिष्ट करके निघण्टु की व्याख्या की भूमिका दी गयी। द्वितीयाध्याय के आरंभ में निर्वचन के सिद्धान्त तथा शास्त्र के अधिकारी का निरूपण करने के बाद ही निघण्टु के पदों की व्याख्या का उपक्रम हुआ है।

निघण्टु का चतुर्थ अध्याय 'नैगमकाण्ड' है जिसमें वेदों से संकलित क्लिष्ट एवं स्वतंत्र पदों का संग्रह तीन खण्डों में किया गया है। इन खण्डों की व्याख्या पूर्ववत् उदाहरण-सहित निरुक्त के चतुर्थ, पंचम और षष्ठ अध्यायों में क्रमशः हुई है। स्वभावतः निरुक्त के इस अंश को 'नैगमकाण्ड' कहा गया है। निघण्टु के पंचम अध्याय में देवता-वाचक शब्द छः खण्डों में संकलित हैं। इसे 'दैवतकाण्ड' के नाम से प्रसिद्ध है। यहाँ भी सप्तमाध्याय के आरंभ में देवताओं के विषय में विस्तृत जानकारी दी गयी है, तब व्याख्या का उपक्रम हुआ है। परवर्ती ग्रन्थ 'बृहद्देवता' पर यास्क का बहुत प्रभाव है। अध्याय 13-14 परिशिष्ट के रूप में हैं।

निरुक्त की रचना का मुख्य उद्देश्य वेदमंत्रों की निर्वचन-परक व्याख्या करना और देवताओं के स्वरूप को स्पष्ट करना था। यास्क ने इन उद्देश्यों का स्वयं निर्देश किया है—(1) अथापीदमन्तरेण मन्त्रेष्वर्थप्रत्ययो न विद्यते (1/15), (2) अथापि याज्ञे दैवतेन बहवः प्रदेशा भवन्ति, तदेतेनोपेक्षितव्यम् (1/17)। वेदों की प्रथम व्याख्या तथा देवता-विज्ञान को व्यवस्थित करने में यास्क का स्थान अप्रतिम है। निरुक्त के निर्वचन को विद्वानों ने वर्णागम, वर्ण-विपर्यय, वर्ण-विकार, वर्णनाश तथा धातु का शब्द के प्रधान अर्थ से सम्बन्ध बताना—इन पाँच रूपों में देखा है—

वर्णागमो वर्णविपर्ययश्च द्वौ चापरौ वर्णविकारनाशौ।

धातोस्तदर्थतिशयेन योगस्तदुच्यते पंचविधं निरुक्तम् ।।

निरुक्त भाषाशास्त्र, अर्थविज्ञान एवं निर्वचनशास्त्र (Etymology) की प्राचीनतम प्रामाणिक ग्रन्थ है।

निरुक्त एक कठिन ग्रंथ है, स्थान-स्थान पर उसके पाठ भी त्रुटिपूर्ण हैं। इसलिए इस पर प्राचीन काल से ही व्याख्याएँ लिखी गयी हैं। स्कन्दस्वामी (600 ई.) तथा दुर्गाचार्य (13 वीं शती ई.) की व्याख्याएँ प्रसिद्ध हैं। निघण्टु के प्रत्येक शब्द पर देवराज यज्वा की व्याख्या उपलब्ध है, इनका समय 1200 ई. माना गया है।

5.6.5 छन्द

वेदों के अधिसंख्यक मंत्र पद्य में हैं। प्राचीन काल में लेखन सामग्री के अभाव में स्मरण से ही रचनाएँ एक पीढ़ी से दूसरी पीढ़ी में संक्रमण करती थीं। स्मृति की दृष्टि से गद्य की अपेक्षा पद्य अधिक अनुकूल था। पद्यात्मक मंत्रों के सही उच्चारण, समुचित स्थान पर विराम इत्यादि के लिए छन्द (छन्दस्) का ज्ञान अनिवार्य है। वैदिक छन्दों में अक्षरों की गणना होती है। नियत अक्षरों (स्वर-वर्णों) से पाद बनते हैं। एक मंत्र का आंतरिक विभाजन पादों में ही होता है।

‘छन्दस्’ (छद् धातु+असुन् प्रत्यय) शब्द का व्युत्पत्तिलभ्य अर्थ है—आच्छादित करने वाला स्तुति का साधन। इस प्रकार यह वेदांग वेद का आवरण है, स्तुति का साधन है। कात्यायन की सर्वानुक्रमणी में छन्द का लक्षण दिया गया है—**यदक्षरपरिमाणं तच्छन्दः**। सम्प्रति इस वेदांग का प्रतिनिधि—ग्रंथ पिंगल ऋषि का **छन्दः सूत्र** है जिसके आरंभ से चतुर्थ अध्याय (सूत्र-7) तक वैदिक छन्दों के लक्षण दिये गये हैं। शेष भाग में लौकिक छन्दों का वर्णन है। ऋक्प्रातिशाख्य के अन्त में (पटल 16—18) भी वैदिक छन्दों का विवेचन है।

कुछ प्रमुख वैदिक छन्द इस प्रकार हैं—**गायत्री** (आठ-आठ अक्षरों के तीन पाद), **अनुष्टुप्** (आठ-आठ अक्षरों के चार पाद), **पङ्क्ति** (आठ-आठ अक्षरों के पाँच पाद), **त्रिष्टुप्** (ग्यारह-ग्यारह अक्षरों के चार पाद) तथा **जगती** (बारह-बारह अक्षरों के चार पाद)। इन सब छन्दों में समान लम्बाई वाले पाद होते हैं। इनके अतिरिक्त कुछ ऐसे छन्द भी हैं जिनमें पाद विषमाक्षर होते हैं जैसे—**उष्णिक्** (8+8+12), **पुरउष्णिक्** (12+8+8), **ककुप्** (8+12+8), **बृहती** (8+8+12+8) इत्यादि। ऋग्वेद में गायत्री, त्रिष्टुप् तथा जगती का अधिक प्रयोग है। अनुक्रमणियों में प्रत्येक संहिता के छन्दों का सूक्ष्म वर्णन किया गया है।

5.6.6 ज्योतिष

वेदों में विहित कर्मानुष्ठान का समुचित काल जानने के लिए वेदांग के रूप में ज्योतिष-शास्त्र का उपयोग होता है। लगध-रचित ‘वेदांगज्योतिष’ नामक ग्रंथ इसका प्रतिनिधि-ग्रंथ है, जिसका समय शंकर बालकृष्ण दीक्षित ने 1400 ई.पू. सिद्ध किया है। इनके तृतीय श्लोक में ज्योतिष की उपयोगिता इस प्रकार बतायी गयी है—

वेदा हि यज्ञार्थमभिप्रवृत्ताः कालाभिपूर्वा विहिताश्च यज्ञाः ।

तस्मादिदं कालविधानशास्त्रं यो ज्योतिषं वेद स वेद यज्ञम् ।।

अर्थात् वेदों की प्रवृत्ति यज्ञानुष्ठान के उद्देश्य से हुई है, यज्ञों का विधान काल के अधीन है (काल विशेष में यज्ञ अनुष्ठित होते हैं), इसलिए जो व्यक्ति काल का विधान करने वाले इस ज्योतिष-शास्त्र को जानता है, वही यज्ञ का ज्ञान रखता है।

5.7. सारांश

वेद भारतीय प्राचीनतम ज्ञान-निधि हैं। प्रमुखतः यज्ञीय विधि के अनुष्ठान में वैदिक मंत्रों का प्रयोग होता है। उस यज्ञ-विधि में होता, अध्वर्यु आदि चार ऋत्विजों का प्रमुख योगदान होता है। इनमें प्रत्येक का अपना-अपना यज्ञीय कार्य के सम्पादन का उत्तदायित्व होता है। इन ऋत्विजों के कार्य में उपयोगी मंत्रों को चार संहिताओं के रूप में संकलित किया गया। इस प्रकार, एक वेद ही ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद व अथर्ववेद नाम से चार संहिताओं के रूप में विभाजित हो गये। प्रत्येक वेद की अनेक शाखाएं अस्तित्व में आईं, किंतु कुछ ही शाखाएँ अवशिष्ट रहीं। यजुर्वेद संहिता के शुक्ल व कृष्ण-ये सम्प्रदाय भेद से दो भेद हुए। शुक्ल व कृष्ण की पृथक्-पृथक् संहिताएं अस्तित्व में आईं। अथर्ववेद का महत्त्व इसमें निहित अनेक यज्ञोत्तर विषयों के कारण है।

वैदिक यज्ञीय विधि को व्यवस्थित रूप देने हेतु ब्राह्मण साहित्य का सर्जन हुआ। कर्मकाण्ड की दृष्टि से ब्राह्मण व आरण्यक साहित्य परस्पर-सम्बन्धित हैं। आरण्यक ग्रंथों में जो ज्ञान है, वह प्रमुखतः वानप्रस्थ आश्रम से सम्बद्ध यज्ञादि कर्म से सम्बद्ध है। वैदिक दर्शनिक विचारधारा का संकलित रूप उपनिषद् रूप में सामने आया। ज्ञानकाण्ड की दृष्टि से आरण्यक व उपनिषद् परस्पर-सम्बन्धित हैं।

उपनिषदों में 14 या 10 प्रमुख हैं। ईश, केन, कठ, प्रश्न, मुण्डक, माण्डूक्य, तैत्तिरीय, ऐतरेय, छान्दोग्य, बृहदारण्यक-ये दश उपनिषद् प्रमुख माने गए हैं। प्रत्येक वेद से भी पृथक् सम्बद्ध उपनिषद् हैं। इनमें बृहदारण्यक व छान्दोग्य उपनिषद् विशालकाय हैं। इनमें कुछ गद्यात्मक तो कुछ पद्यात्मक हैं, कुछ गद्य-पद्यात्मक (मिश्र) भी हैं।

वेद के उपकार रूप में छः वेदांग अस्तित्व में आए ये हैं-शिक्षा, कल्प, व्याकरण, निरुक्त, छन्द व ज्योतिष। इनमें प्रत्येक किसी न किसी रूप में वैदिक यज्ञीय विधि के अनुष्ठान में उपयोगी-उपकारी सिद्ध होते हैं।

इस प्रकार, वैदिक साहित्य का इतिहास अत्यन्त विशाल है, तथापि संक्षिप्त रूप में इसे यहाँ प्रस्तुत किया गया है। विशेष ज्ञान हेतु 'संस्कृत साहित्य का इतिहास' पठनीय है व मननीय है।

5.8 अभ्यास प्रश्नावली

वस्तुनिष्ठ प्रश्न

प्रश्न—1. वेदांगों की संख्या है—

- (अ) चार (ब) आठ
(स) छः (द) सात

प्रश्न—2. संहिताओं की संख्या है—

- (अ) दो (ब) तीन
(स) पांच (द) चार

प्रश्न—3. शतपथ ब्राह्मण का सम्बन्ध है—

- (अ) ऋग्वेद (ब) अथर्ववेद
(स) कृष्णयजुर्वेद (द) शुक्ल यजुर्वेद

प्रश्न—4. माध्यमिक शाखा का सम्बन्ध वेद से है—

- (अ) सामवेद (ब) अथर्ववेद
(स) शुक्लयजुर्वेद (द) कृष्ण यजुर्वेद

लघुत्तरात्मक प्रश्न

प्रश्न—1. यजुर्वेद संहिता का संक्षिप्त परिचय दें।

प्रश्न—2. सामवेद संहिता का संक्षिप्त परिचय दें।

प्रश्न—3. अथर्ववेद संहिता का परिचय दें।

प्रश्न—4. ऋग्वेद के विभाजन—क्रम पर प्रकाश डालें।

निबन्धात्मक प्रश्न

प्रश्न—1. वेदांग साहित्य पर परिचयात्मक लघु निबन्ध लिखें।

प्रश्न—2. ब्राह्मण व आरण्यक साहित्य की उपयोगिता पर लघु निबन्ध लिखें।

प्रश्न—3. उपनिषत्साहित्य की महत्ता पर लघु निबन्ध लिखें।

प्रश्न—4. वैदिक साहित्य में ऋग्वेद के महनीय स्थान को रेखांकित करें।